उपन्यास आलोचना के सिद्धान्त और 21वीं सदी के हिन्दी उपन्यास

(UPANYAS AALOCHNA KE SIDDHANT AUR 21VIN SADI KE HINDI UPANYAS)

Theory of Novel Criticism and Hindi Novel of 21st Century

पीएच.डी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी

सोनम मौर्या

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2019

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

19/ 07 / 2019

CERTIFICATE

This is to certify that the Mr./Ms **SONAM MAURYA,** a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Language, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled "**UPANYAS AALOCHNA KE SIDDHANT AUR 21VIN SADI KE HINDI UPANYAS" (Theory of Novel Criticism And Hindi Novel of 21st Century)**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

19 / 07 / 2019

DECLERATION

I hereby declare that the Ph.D.thesis entitled "**UPANYAS AALOCHNA KE SIDDHANT AUR 21VIN SADI KE HINDI UPANYAS" (Theory of Novel Criticism And Hindi Novel of 21st Century)** submitted by me is the original research work. it has not been previously submitted for any other University/Institution to the best of my knowledge

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarize in my thesis,I will be solely responsible for the act.

Sonam Maurya

Sign of Research Scholar

SONAM MAURYA

Name of Research Scholar

समर्पण...

‘‘उन तमाम साहित्यकारों एवं आलोचकों को,

जिन्होंने अपनी उपस्थिति से यह एहसास दिलाया कि

हाशिए के साहित्य को समझने के लिए नए दृष्टिकोण की जरूरत है।’’

आभार

प्रस्तुत शोध-प्रबंध हेतु सर्वप्रथम मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. ओमप्रकाश सिंह के प्रति हृदय से श्रद्धावनत हूँ जिनके सहयोग, दिशा-निर्देशन एवं अमूल्य सुझाव के बिना इस कार्य का न तो प्रारम्भ संभव था और न ही पूर्ण होना। अपनी अकादमिक गतिविधियों की व्यस्ततम दिनचर्या में से इस शोध के निमित्त गुरुवर द्वारा दिया गया कीमती समय वस्तुत: मेरे लिए सहायक रहा। इस शोध के निमित्त साहित्य अकादमी, तीनमूर्ति पुस्तकालय, दिल्ली पब्लिक पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, लखनऊ विश्वविद्यालय के टैगोर पुस्तकालय, जे.एन.यू. के केन्द्रीय पुस्तकालय तथा जे.एन.यू. के अम्बेडकर चेयर SSS-2 के कर्मचारियों द्वारा पुस्तकों एवं तथ्यों को जुटाने में सतत् सहयोग के लिए आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य मानती हूँ। मैं आभार करती हूँ भारतीय भाषा केन्द्र के कर्मचारी रावत सर और रमेश भईया का, जिन्होंने अपने ढेर सारे काम के बीच हमारे हर सवाल का जवाब बड़े धैर्यपूर्वक दिया। शोध अवधि के दौरान प्रो. रामबक्ष जाट ने भी मेरा मार्ग-दर्शन किया, मैं उनकी बहुत आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त मेरे दोस्त एवं सहपाठी शिव और सुशील का साथ एक बुनियाद की तरह रहा जिनसे लगातार वैचारिक बहस एवं विचार-विमर्श कर मैंने अपने शोध को अधिक तर्कपूर्ण बनाने की कोशिश की। तुम दोनों के पास मेरे हर सवाल का जवाब रहता है, तुम्हारे साथ और सहयोग के लिए आभार शब्द बहुत छोटा लगता है। इसके साथ ही मैं आभार व्यक्त करती हूँ शिवम भइया, जे.डी. और अभिषेक सौरभ का जिन्होंने मेरे शोध प्रबंध का प्रूफ देखा और त्रुटिहीन बनाने में योग दिया इसके बावजूद जो त्रुटियाँ बची रह गई हैं वह मेरे सिर-माथे। इस शोध प्रबंध हेतु मैं अपने सहपाठी – रेणु, आकृति, लीना, कंचन, बबिता, सरिता, संगीता, प्रीति, मंजू, धीरू, देव, अशोक, रामा, जैनेन्द्र, ओम मीणा, ओम आदि की भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने हँसते-हँसाते मेरा खूब साथ दिया। इसके अलावा मेहा, नम्रता, हैना, शुभी, अरुणिमा, नीलिमा, रूहर तुम्हारा साथ अगर न होता तो मेरे लिए पी-एच.डी. लिखना आसान न होता और तारा सर, शिवेंद्र, आशू अद्वैत, सुशांत आप लोगों ने मेरी बहुत मदद की तथा अपने नए-नए विचारों से मुझे अवगत कराया, इसके लिए आप सभी का बहुत-बहुत आभार। आर.वी. तुम्हारे लिये बस इतना ही कि तुम्हारे साथ और सहयोग ने हमेशा मेरे अंदर एक स्फूर्ति का काम किया है। इसके साथ ही बहुत-बहुत शुक्रिया जे.एन.यू. को, जो मुझ जैसी कच्ची मिट्टी को आग में तपाकर पक्के घड़े के समान मेरे विचारों को धारदार बनाया, उन्हें आकार दिया, वरना आज पता नहीं किस धुँधलके में मैं खो गई होती।

इसके अलावा अंशू, गुड़िया और अमित ने मेरी जिंदगी के कठिन समय में साथ देते हुए कई बार ढाँढस बँधाया जिसके लिए शुक्रिया शब्द जिम्मेदारी भर लगता है। इस शोध कार्य के दौरान मेरी छोटी बहन शुचि (सोनाली) ने उत्साहपूर्ण ऊर्जा का काम किया और साथ में मेरा बहुत ख्याल रखा। उसके बिना शायद मैं इतना मन लगाकर काम नहीं कर पाती। इसी बीच मेरे दोनों बड़े भाई नगेन्द्र और राहुल ने मेरा बहुत उत्साह बढ़ाया। नगेन्द्र भइया ने बड़े भाई होने के नाते मेरे शोध-प्रबंध हेतु हमेशा सही सलाह दी, तो वहीं राहुल भइया ने मुझे हमेशा अंत तक लड़ने का साहस दिया। सबसे महत्वपूर्ण आभार व्यक्त

करना चाहूँगी अपनी जिंदगी की दो परियों (काव्या और युवी) का, जो अपनी जादूभरी झप्पी देकर सारे दु:ख-दर्दों को एक झटके में मिटा देती हैं। अंत में प्रेरणादायी अम्मा और परिश्रमी, संघर्षशील पापा (बप्पा) जी की मैं आजन्म ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे आज इस योग्य बनाया। अन्यथा शोध-प्रबंध लेखन जैसे कार्य और शब्द से मैं अनभिज्ञ होती। उनके योगदान को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, सारे शब्द हल्के व सतही प्रतीत हो रहे हैं।

सोनम मौर्या

जुलाई 07, 2019

अनुक्रमणिका

आभार **i-ii**

भूमिका **1-5**

अध्याय – 1 : हिन्दी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास **6-48**

(1.1) उपन्यास का उद्भव और विकास

(1.2) उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास क्रम

अध्याय – 2 : उपन्यास आलोचना के सिद्धांत **49-98**

(2.1) पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांत

(2.2) हिन्दी उपन्यास आलोचना के सिद्धांत

अध्याय – 3 : 21वीं सदी के उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि **99-148**

(3.1) वामपंथी आंदोलन के विविध रूपों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.2) भूमण्डलीकरण का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.3) नव-आर्थिक नीतियों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.4) इतिहास की सबाल्टर्न दृष्टि का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.5) सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.6) पूर्ववत सांस्कृतिक परंपरा का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.7) अस्मितामूलक प्रवृत्तियों के उत्थान का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

अध्याय – 4 : 21वीं सदी के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ **149-190**

(4.1) किसान जीवन की त्रासदी का चरम दौर

(4.2) सांप्रदायिकता के नए स्वरूप का विकास

(4.3) अस्मितामूलक साहित्य का उत्थान

(4.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मिता – ट्रांसजेंडर

(4.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंध

(4.6) सूचना क्रांति का दौर

(4.7) विज्ञान लेखन

अध्याय – 5 : 21वीं सदी के उपन्यास और उसके आलोचना सिद्धान्त **191-240**

(5.1) किसान जीवन पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.2) सांप्रदायिकता पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.3) अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंधों पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.6) सूचना क्रांति पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.7) विज्ञानमूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.8) उपन्यासों में शिल्पगत बदलाव और आलोचना सिद्धांत

(5.9) हिन्दी की अन्य विधाओं के आलोचना सिद्धांत और उपन्यास आलोचना

उपसंहार **241-247**

आधार-ग्रंथ **248**

सहायक-ग्रंथ **249-258**

भूमिका

एम.फिल. जमा कर लेने के बाद पी-एच.डी. के शोध कार्य के लिए मैंने पढ़ना शुरू किया। इस प्रक्रिया में मैंने नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' पढ़ी। इसे पढ़कर मुझे लगा कि प्रत्येक विधा के अपने मूल्य एवं प्रतिमान होते हैं और उन्हें जाँचने-परखने के लिए भी सिद्धांत होते हैं। साथ ही प्रत्येक विधा के जन्मकाल की परिस्थितियाँ तथा उसमें निहित विचारधारा और उसकी संरचना अलग-अलग होती है। कविता के सिद्धांतों के बारे में नामवर सिंह लिखते हैं ''संघर्ष के बिना जब दो वक्त की रोटी भी मयस्सर नहीं होती तो कविता के मूल्य क्या मिलेंगे ? मूल्यों को इसीलिए 'कमाया हुआ सत्य' कहा जाता है कि हर एक को मूल्यों के लिए खुद कीमत चुकानी पड़ती है। मूल्य हस्तांतरित नहीं किए जा सकते, अधिक-से-अधिक उनका पुन:प्रत्यय हो सकता है।'' (कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, प्रथम संस्करण की भूमिका से) नामवर सिंह की इस बात ने कि प्रत्येक नई विधा को अपने मूल्य और मापदण्ड खुद ही कमाने पड़ते हैं, मेरे मन में एक जिज्ञासा पैदा कर दी। फिर क्या था मैं निकल पड़ी यह खोजने कि क्या उपन्यास विधा ने भी अपने मूल्य या मापदण्ड कमाये हैं। मैं जैसे-जैसे आगे बढ़ती गयी वैसे-वैसे मेरी रुचि भी इसकी तरफ बढ़ती चली गयी। इसी जिज्ञासावश आगे बढ़ते हुए मैंने पाया कि साहित्य की किसी भी विधा के उद्भव एवं विकास के साथ-साथ उसकी आलोचना का भी उद्भव एवं विकास जुड़ा होता है। इस तरह मैंने उपन्यास और उसकी आलोचना पर सोचना शुरू किया, जो मेरे लिए बहुत रुचिकर साबित हुआ। इसलिए मैंने अपना शोध-कार्य **'उपन्यास आलोचना के सिद्धांत और 21वीं सदी के हिंदी उपन्यास'** विषय पर करने को ठानी और अपने गाइड प्रो. ओमप्रकाश सिंह जी से इस पर बात की। उन्होंने विचार-विमर्श के बाद इस विषय पर अपनी सहमति दे दी। इस तरह मेरे शोध-कार्य की एक लम्बी प्रक्रिया शुरू हुई।

मैंने अपने शोध कार्य में आलोचना के सिद्धांतों पर काम करते हुए उपन्यास और उसकी आलोचना के उद्भव एवं विकास के कारणों के साथ उसके अन्त:संबन्धों पर भी विचार किया है। भारतीय उपन्यास के उद्भव एवं विकास के कारण के रूप में 'आधुनिक, पूँजीवादी दौर में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप मध्यवर्ग के उदय को' गोपाल राय, मधुरेश, रामदरश मिश्र तथा ज्ञानचन्द्र जैन जैसे विद्वान मानते हैं। क्या इससे इतर कुछ और कारण हो सकते हैं ? क्या उपन्यास के उद्भव एवं विकास के कारण के तौर पर हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मान सकते हैं ? क्या किसी समाज के सामाजिक-आर्थिक हैसियत बदलने के कारण उस समाज की साहित्य में हिस्सेदारी भी बढ़ती है ? क्या उपन्यास के उदय होने के पीछे लोकतंत्र को माना जा सकता है ? ऐसे कई सवालों पर विचार-विमर्श करती आगे बढ़ती गयी। चूँकि साहित्य की कोई भी विधा समाज से कटी नहीं रहती, प्रत्येक साहित्य अपने अन्दर समाज को समाहित किये रहता है। आलोचना का काम यह होता है कि उसमें निहित घटना, स्थल, समय, समाज, वर्ग-संघर्ष, उस रचना की प्रासंगिकता आदि जैसे तमाम सवालों को ध्यान में रखकर रचना के साक्ष्यों के आधार पर अध्ययन कर मूल्यांकन प्रस्तुत करे। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास विधा एक आधुनिक विधा है। उपन्यास को जाँचने-परखने, उसका अध्ययन, मूल्यांकन करने के

लिए हमें कुछ सिद्धान्तों की जरूरत भी महसूस होती है। पश्चिम में उपन्यास आलोचना को लेकर काफी विचार-विमर्श किया गया है और अभी भी किया जा रहा है। एक तरह से देखा जाए तो यह कहा सकता है कि पश्चिम में तो उपन्यासों का ही प्रभुत्व है उनके सिद्धान्तों पर वहाँ अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं किन्तु भारत में अब भी काव्य आलोचना की ही प्रधानता है। अब भी हिन्दी में एक भी पुस्तक उपन्यासों की आलोचना के सिद्धान्तों पर नहीं है। हिन्दी उपन्यास आलोचना के नाम पर आलोचक या तो उपन्यास का सारांश कह देते हैं, या दूसरे शब्दों में उसका पैराफ्रेज कर देते हैं। हिन्दी में अब उपन्यास परिमाण और गुणवत्ता में ऐसे स्थान पर पहुँच चुका है कि उसके आलोचनात्मक सिद्धान्तों की खोज जरूरी है।

अब प्रश्न उठता है, कि क्या उपन्यास आलोचना का कोई सार्वभौम सिद्धान्त खोजा जा सकता है ? क्या इसके बीज भारतीय आलोचना में मौजूद रहे हैं ? साथ ही मैनेजर पाण्डेय की यह बात ''हिन्दी उपन्यास आलोचना के सैद्धान्तिक विचार-विमर्श की एक परम्परा रही है जिसे अब उपन्यास के आलोचक भूल गये।'' (उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, भूमिका से) कहाँ तक सही है, इस पर भी विचार किया जाना जरूरी है। मैनेजर पाण्डेय जिस उपन्यास आलोचना की बात कर रहे हैं क्या वह सही में सैद्धान्तिक आलोचना है ? कहीं वह व्यावहारिक आलोचना ही तो नहीं ? उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर मैंने यह अनुसंधान करने की कोशिश की है कि क्या वाकई हिंदी उपन्यास की आलोचना की कोई सैद्धान्तिक परम्परा रही है ? क्या भारतीय उपन्यास आलोचना के अन्तर्गत कोई सिद्धान्त बनाये गये हैं, या नहीं ? क्या हिंदी उपन्यासों के सिद्धान्त पश्चिमी औपन्यासिक सिद्धान्तों से अलग हैं ? या फिर हिंदी उपन्यासों को जाँचने-परखने एवं मूल्यांकित करने के लिए हूबहू पश्चिमी सिद्धान्तों को ही ले लिया गया है ? क्या उपन्यास का अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के लिए हिंदी काव्यालोचना के सिद्धान्तों को आवश्यकतानुसार लिया जा सकता है ? क्या वे सिद्धान्त उपन्यास आलोचना में सहायक हो सकते हैं ? ऐसे ही तमाम सवालों पर मैंने अपना यह शोध-कार्य केन्द्रित किया है।

मैंने इस शोध कार्य के लिए आलोचना तथा विचारधारा पर आधारित 14 पुस्तकों और 21वीं सदी के 11 उपन्यासों को आधार बनाया है, उनमें से एक राजेन्द्र यादव की भी पुस्तक है। राजेन्द्र यादव का उपन्यास आलोचना के बारे में मानना है कि 'काव्य-समीक्षा के समृद्ध होने का कारण वहाँ की पुरानी कृतियों का बार-बार नए दृष्टिकोण से विश्लेषण-विवेचन, व्याख्याएँ और पुनर्व्याख्याएँ हुई हैं। उदाहरण के तौर पर उन्हेंने 'जुही की कली' 'राम की शक्ति पूजा' से लेकर 'असाध्य-वीणा' और 'अन्धेरे में' या 'ब्रह्म राक्षस' का जिक्र किया है। कथा-समीक्षा के बारे में उन्होंने इस कमी को रेखांकित किया है और माना है कि उपन्यासों के अन्दर और बाहर की दुनियाओं की समीक्षाएँ तो बहुत हुई हैं, मगर स्वयं उपन्यास की कला और बाहरी भीतरी यथार्थ के संबंधों की अन्त:क्रियाओं की पड़ताल या स्वरूप की पहचान कम हुई है।' राजेन्द्र यादव की इस राय से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि कृति के नये दृष्टिकोण से विश्लेषण-विवेचन के द्वारा हुई व्याख्याओं और पुनर्व्याख्याओं से आलोचना समृद्ध होती है। लेकिन क्या आलोचना का दायित्व केवल नये दृष्टिकोण से कृति की व्याख्या कर आलोचना को समृद्ध करना ही है बजाय इसके कि कृति को व्याख्यायित करने के लिए नये दृष्टिकोण के अन्तर्गत सिद्धान्तों को गढ़ना, उन सिद्धान्तों को आधार बनाकर कृति की पुनर्व्याख्या करना ? वहीं अगर दूसरी तरफ देखें कि क्या उपन्यास की कला और बाहरी भीतरी यथार्थ के संबंधों की अन्त:क्रियाओं की पड़ताल या स्वरूप की पहचान कर

लेना ही आलोचना का दायित्व है ? क्या उपन्यास में अभिव्यक्त यथार्थ और बाहरी यथार्थ के संबंध की अन्त:क्रिया की जाँच-पड़ताल के लिए आलोचना के सिद्धान्तों को गढ़ने का काम महत्वपूर्ण नहीं है ? क्या साहित्य की किसी भी विधा का अध्ययन, मूल्यांकन व उसकी आलोचना हेतु सिद्धान्तों की जरूरत नहीं होती ? अगर होती है तो आलोचना का क्या दायित्व होगा ? इन प्रश्नों पर भी आज विचार करने की जरूरत है।

वर्तमान समय अस्मिताओं के उदय एवं उभार का समय है । जिनका सदियों से शोषण, उत्पीड़न कर हक-अधिकार से वंचित रखा गया, जिनकी आवाज को दबाकर हाशिए पर धकेल दिया गया, साहित्य में आज वे लोग अपनी आवाज, अस्तित्व, एवं पहचान को दर्ज कर रहे हैं। आज वे लोग अपने ऊपर हुए जुल्मों-सितम को सबके सामने बेपर्दा कर रहे हैं । इसीलिए मैनेजर पाण्डेय ने सही ही लिखा है ''उपन्यास ने साहित्य की संस्कृति का स्वरूप बदला है। भारतीय समाज के जो हिस्से, समुदाय और व्यक्ति मुख्यधारा से अलग हाशिए पर रहने के लिए मजबूर थे, वे साहित्य-संसार के भी हाशिए पर ही रहने के लिए अभिशप्त थे । मुख्यधारा से प्राय: बहिष्कृत, उपेक्षित, अदृश्य और बेजुबान जन को उपन्यास में जगह मिली है। यही नहीं, पहले जो साहित्य में कहीं नहीं होते थे, वे उपन्यास के माध्यम से साहित्य-संसार के नागरिक बनने लगे और नायक भी, बल्कि जो साहित्य के नायक होते थे वे उपन्यास में खलनायक बनने लगे।'' (उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पृ.स. 36) अब जरूरत है ऐसे साहित्य की प्रत्येक विधा के रचनाओं को व्याख्यायित कर जाँचने-परखने की । तब बात आती है उनकी आलोचना के प्रतिमानों पर विचार करने की । इस तरह के ही सवालों को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यासों को अध्ययन कर व्याख्यायित, मूल्यांकित करने के लिए वीरेन्द्र यादव ने लिखा है - ''जरूरत है नए 'कैनन फारमेशन' की। आज जब 'दलित' और 'स्त्री' विमर्श साहित्यिक और बौद्धिक विमर्श का एक एजेंडा तय कर रहे हों, तब तो यह और भी जरूरी है। इन संदर्भों में 'सबाल्टर्न' अध्ययन-पद्धति प्रासांगिक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है।'' (उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, पृष्ठ संख्या-20) वीरेन्द्र यादव के इन तर्कों से यह सवाल उठता है कि क्या वाकई सबाल्टर्न अध्ययन पद्धति दलित, आदिवासी, स्त्री, मजदूर, किसान आदि के सवालों और चेतना पर आधारित उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए सहायक है। इसके साथ ही इस शोध में यह भी अध्ययन किया गया है कि क्या ये पद्धति इस दौर के उपन्यासों को पूर्ण रूप से मूल्यांकित करने में सक्षम है ? आने वाले समय में 'सबाल्टर्न' अध्ययन पद्धति को लागू करने के लिए कितनी और कौन-कौन सी चुनौतियाँ सामने आ सकती हैं ? इस पद्धति के साथ पहले वाली पद्धतियों का संबंध कैसा होगा ? तथा पहले वाली पद्धतियों का किस तरह का सहयोग रहेगा ? और कितना रहेगा ? क्या इसके अलावा भी इन उपन्यासों का अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के लिए नई पद्धतियों का फारमेशन किया जाना जरूरी है ? ऐसे ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मैंने विचार-विमर्श किया है।

इसके साथ ही ऐसे अनेक उपलब्ध आलोचनात्मक पुस्तकों व लेखों के आधार पर हमने इस बात पर भी सोच-विचार किया है कि क्या स्त्री, दलित, आदिवासी समाज अपनी अस्मिता के

संघर्ष के लिए जो स्थान उपन्यास साहित्य में हासिल किया है वह स्थान आलोचना में भी दिखाई देता है ? अगर हाँ तो, उपन्यास आलोचना में उनका कितना हस्तक्षेप रहा है ? क्या इनके द्वारा की गई आलोचना अन्य आलोचनाओं से किसी मायने में भिन्न दिखाई देती है, यदि हाँ, तो कितनी ? इन सवालों पर विचार करते हुए मुझे अनामिका की बात याद आती है । वह अपनी एक किताब 'स्त्रीत्व का मानचित्र' में लिखती हैं ''स्त्रीवादी समीक्षा पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता है कि यह अनुभवमूलक (इम्पेरिसस्ट) है, प्रपत्तिमूलक (पैराडाइमबेस्ड) नहीं, इसलिए न इसकी मेथडोलॉजी तय है, न शोध की दिशाएँ । इसका उत्तर स्पष्ट है : प्रपत्तियाँ आकाश से नहीं टपकतीं; अनुभूतियाँ ही बीन –फटककर प्रपत्तियों के रूप में सजा ली जाती हैं । स्त्रीवादी समीक्षा का एक बड़ा अनुदान यह है कि वैयक्तिक अनुभूतियों का सामाजिक संदर्भीकरण इसने संभव बनाया और बताया कि जिसे स्त्रियाँ वैयक्तिक विफलता मानकर घुटती रहती थीं, उस 'असमंजन' और 'असमंजस' का मूल उस पूर्वाग्रहग्रस्त पितृसत्तात्मक समाज में है जिसके शिकार पुरुष भी है ।'' (स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ.स.13) अनामिका की इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के द्वारा की गई आलोचना पर अनुभवमूलकता का आरोप लगाकर उसे सवालों के कटघरे में खड़ा किया जाता है । उसे शंकापूर्ण निगाह से देखा जाता है । सच तो यह है कि जब समाज की स्त्रियों के अस्तित्व तक को ही इन पुरुषवादियों ने नकार दिया तो फिर ये तो उनके द्वारा की गई आलोचना थी! भला इसे क्यों ही वह छोड़ते ? इसके बावजूद यह देखना जरूरी हो जाता है कि उपन्यास आलोचना के भीतर शोषित, उत्पीड़त, स्त्रियों के संघर्ष का अध्ययन, मूल्यांकन हेतु कोई स्त्रीवादी दृष्टिकोण से उपन्यास आलोचना सामने आयी है ? जिससे स्त्री-मुक्ति संघर्ष के अभियान को और आगे ले जाने में मदद मिलती हो ? आदि ऐसे तमाम सवालातों को ध्यान में रखकर गंभीरतापूर्ण विचार-विमर्श किया है ।

मैंने अपने शोध कार्य **'उपन्यास आलोचना के सिद्धान्त और 21वीं सदी के हिंदी उपन्यास'** में 'हिन्दी उपन्यास आलोचना के सिद्धान्तों' का गहराई से अध्ययन करते हुए 21वीं सदी के उपन्यासों को जांचने-परखने के लिए कौन से मानदण्ड खरे उतरते हैं, पर काम किया है तथा इसे पाँच अध्यायों में विभाजित किया है । पहले अध्याय **'हिन्दी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास'** में मैंने उपन्यास आलोचना के उद्भव एवं विकास पर विस्तार से चर्चा की है । चूँकि किसी भी साहित्य, विधा के उद्भव एवं विकास के साथ-साथ उसकी आलोचना का भी उद्भव एवं विकास होता है, इसलिए इस अध्याय में भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास के कारणों पर चर्चा करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि क्या उपन्यास के उद्भव के पीछे कोई भारतीय सिद्धान्त की परम्परा रही है या नहीं । शुरूआती दौर के उपन्यासों का मूल कथानक किस तरह का था, उस समय के किस समाज को, कितनी और किस प्रकार की अभिव्यक्ति मिल रही थी । इसके साथ ही इस अध्याय के अन्तर्गत उपन्यास आलोचना का शुरुआती रूख कैसा था तथा उसके विकास क्रम में कौन-कौन से बदलाव और किस-किस रूप में आये हैं ? क्या अब तक उपन्यास आलोचना का कोई मुकम्मल स्वरूप

रहा है या नहीं ? साथ ही उपन्यास आलोचना के उद्भव एवं विकास का स्वरूप कैसा और किस दिशा में रहा यह भी देखने की कोशिश की है।

दूसरे अध्याय **'उपन्यास आलोचना के सिद्धान्त'** में मैंने पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना तथा हिंदी में विकसित उपन्यास आलोचना का अध्ययन करते हुए उसके उद्भव से लेकर अब तक के विकसित सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। साथ ही हिंदी उपन्यासों को जाँचने-परखने तथा उनको मूल्यांकित करने के लिए आलोचना के निमित्त कौन-से दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त विकसित किये गये ? किये भी गए हैं या नहीं ? यदि किये गये हैं तो किन-किन रूपों में ? आदि सवालों पर गहराई से अध्ययन किया गया है।

तीसरे अधयाय **'21वीं सदी के उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि'** में मैंने मुख्य रूप से 21वीं सदी के उपन्यासों के लेखन की ऐतिहसिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से चर्चा की है। इसके साथ यह भी देखने की कोशिश की है कि क्या इसके पीछे साम्प्रदायिकता के बदलते स्वरूपों और वामपंथी आन्दोलनों की कोई पृष्ठभूमि रही है ? अथवा नहीं ? इसके अतिरिक्त अस्मितामूलक उपन्यासों के उदय के पीछे क्या भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उदारवादी नव आर्थिक नीतियों आदि की कोई भूमिका रही है ? इसके अतिरिक्त पूर्ववत सांस्कृतिक परंपरा आदि का भी कोई प्रभाव पड़ा है, या नहीं। इन सभी महत्वपूर्ण मुद्दों के बारे में इस अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है।

चौथे अध्याय **'21वीं सदी के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ'** में मैंने 21वीं सदी के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विस्तार से चर्चा की है। सत्ता और वर्चस्ववादिता के विरोध में स्त्री, दलित, आदिवासी ने जिस तरह से अपने हक अधिकार को लेकर संघर्ष किया, जिसके कारण उपन्यास विधा में अस्मितामूलक प्रवृत्ति केन्द्र में आई। इस प्रवृत्ति के साथ-साथ अन्य प्रवृत्तियों के रूप में किसान जीवन, साम्प्रदायिकता, ट्रांसजेंडर, समलैंगिकता, लिब इन रिलेशनशिप, सूचना क्रांति, विज्ञानमूलक, प्रवृत्तियों पर भी विस्तारपूर्वक चर्चा कर अध्ययन किया गया है।

पाँचवें अध्याय **'21वीं सदी के उपन्यास और उसके आलोचना सिद्धान्त'** में मैंने 21वीं सदी के उपन्यासों के ऊपर उपन्यास आलोचना के उद्भव से लेकर अब तक के विकसित सिद्धान्तों को कसकर देखा है कि यह सिद्धान्त इन उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए कितना सक्षम हैं ? हैं भी या नहीं ? क्या 21वीं सदी के उपन्यासों को सम्पूर्णता में अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के लिए नये सिद्धान्तों को गढ़ने की आवश्यकता है ? इसके साथ ही इस अध्याय में यह भी देखने की कोशिश की गई है कि क्या किसी अन्य विधा की समृद्ध आलोचना के सिद्धांत उपन्यासों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करने में सहायक हो सकते हैं ? आदि प्रश्नों को केन्द्र में रखकर इस अध्याय में मैंने विस्तार से चर्चा की है। इस तरह शोध की लम्बी प्रक्रिया से गुजरती हुई तथा तथ्यों की व्याख्या करती हुई निष्कर्ष की ओर बढ़ती गई।

अध्याय - 1

हिन्दी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास

(1.1) उपन्यास का उद्भव और विकास

(1.2) उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास क्रम

(1.2.1) प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास आलोचना

(1.2.2) प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी उपन्यास आलोचना

(1.2.3) प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास आलोचना

(1.2.4) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास आलोचना

हिन्दी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास

हिन्दी उपन्यास आलोचना के उद्भव एवं विकास पर बात करने से पहले हमें यह देखना होगा कि उपन्यास के उद्भव और विकास के क्या कारण रहे हैं, उसका किन-किन परिस्थितियों में उदय हुआ उपन्यास के उद्भव औऱ विकास के साथ ही उपन्यास आलोचना का उद्भव और विकास जुड़ा हुआ है। किसी खास विधा की ओलोचना का उद्भव तभी होता है जब वह विधा अस्तित्व में आती है। इसीलिए उपन्यास आलोचना के उद्भव और विकास से पहले उपन्यास के उद्भव और विकास पर बात करना जरूरी हो जाता है उपन्यास के उद्भव और विकास पर बात किए बिना उपन्यास आलोचना के उद्भव और विकास को नहीं समझा जा सकता। इसलिए सबसे पहले उपन्यास साहित्य के उद्भव और विकास पर चर्चा करना आवश्यक है।

(1.1) उपन्यास का उद्भव और विकास

जब हम उपन्यास के उद्भव और विकास पर बात करते हैं तो देखते हैं कि सारे आलोचकों तथा विद्वानों के मत इस विषय में अलग-अलग हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उपन्यास का उदय सबसे पहले यूरोप में हुआ। मोटे तौर पर वहाँ के विद्वानों का कहना हैं कि उपन्यास का उद्भव पूँजीवाद से उपजे मध्यवर्ग के कारण हुआ है। वे मानते हैं कि उपन्यास का उद्भव और विकास समाज में आधुनिकता और पूँजीवाद के चलते औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप मध्यवर्ग के उदय होने से तथा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक संबंधों के बदलने से हुआ है। इस कड़ी में बहुत पहले महान विचारक हेगल ने उपन्यास को 'आधुनिक मध्यवर्ग के महाकाव्य' के रूप में परिभाषित किया। जिसकी तर्ज पर हिन्दी के आलोचक नामवर सिंह ने 'उपन्यास को किसान जीवन की महागाथा' कहा। स्टील ने कहा है कि 'हमारी भावशीलता केवल रोमांस द्वारा ही परितृप्त नहीं हो सकती, अब नावेल उसका प्रतिरूप बनेगा।' इस तरह स्टील ने उपन्यास का विकास रोमांस से माना है। फील्डिंग ने तो 'उपन्यास को एक मनोरंजनपूर्ण महाकाव्य' माना है। फ्रांसिस बेकन उपन्यास को 'कल्पित इतिहास' कहते हैं। बेकर के अनुसार 'उपन्यास कल्पित गद्य-कथा मानव-जीवन की व्याख्या का रूप है।' और क्लारा रीव उपन्यास को ऐसी विधा मानते हैं, जिसमें समकालीन युग के सामाजिक यथार्थ और उसमें प्रचलित रीति-रिवाजों का चित्र होता है। दूसरी तरफ रिचर्ड बर्टन अपनी व्याख्या में उपन्यास को 'समसामयिक समाज और उसके मंगलकारी तत्त्वों का अध्ययन, प्रेम-तत्व की प्रेरक शक्ति से अनुप्रेरित' मानते हैं। 'उपन्यास का उदय' नामक पुस्तक में आयन् वाट ने 'पाठक समुदाय और उपन्यास का उदय' अध्याय में लिखते हैं – ''उपन्यास के उदय पर पाठक-समुदाय की परिवर्तित संरचना एवं पुस्तक-विक्रेताओं के नवप्रभुत्व का यह सम्भवत: परम महत्वपूर्ण प्रभाव था, इतना अधिक इसलिए नहीं कि डेफो एवं रिचर्डसन अपने पाठक-समुदाय की नई आवश्याकताओं के प्रति सतर्क थे, बल्कि इसलिए कि वे उन आवश्यकताओं के अन्दर से अभिव्यक्त करने में उतनी सहजता से समर्थ थे जितनी सहजता से पहले सम्भव नहीं था।''[1] आयन् वाट ने पाठक-समुदाय के जिस परिवर्तित संरचना की बात कही है वह दरअसल पूँजीवद से उपजा

मध्यवर्ग है जो डेफो और रिचर्डसन के उपन्यासों का पाठक बना। साथ में वह यह भी मानते हुए दिखाई देते हैं कि साहित्य के इस नए कलेवर में जिस तरह पाठक वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता था उतना किसी और कलेवर में नहीं। वहीं रैल्फ फॉक्स ने में लिखा है ''उपन्यास का विषय है – व्यक्ति। यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है और वह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता है जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने सहजीवी साथियों अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो। पूँजीवादी समाज ऐसा ही समाज है।''[2] जाहिर सी बात है कि इस महान विचारक के कथन का आधार भारतीय समाज की पूँजीवादी व्यवस्था है। इसके अलावा फ्रांस की मादाम स्ताल का मानना है 'उपन्यास का विकास वहीं होगा जिस समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा हो और व्यक्तिगत जीवन में लोगों की गहरी दिलचस्पी हो।'[3] यह बात दीगर है कि उपन्यास के उद्भव और विकास के बारे में मादाम स्ताल के द्वारा कही गई बात भारतीय संबंध में फिट नहीं बैठती। क्योंकि भारत में उपन्यास विधा के उद्भव के समय में भारतीय समाज में स्त्री रूढ़ियों से जकड़ी, यातना झेलती और आदर्शों से घिरी हुई थी। इसीलिए उस समय के भारतीय उपन्यासों में भी यह देखने को मिलता है।

पाश्चात्य जगत के विद्वानों के साथ-साथ कुछ भारतीय विद्वानों का भी मानना है कि उपन्यास साहित्य के उद्भव के पीछे भारतीय परंपरा का नहीं बल्कि पाश्चात्य जगत का योगदान है। एक तरफ 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' की रचना करने वाले इतिहासकार प्रो. गोपाल राय ने उपन्यास के उद्भव को लेकर लिखते हैं ''यूरोप में तेरहवीं शताब्दी में मुद्रण यन्त्र का आविष्कार हुआ, जिससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व तेजी आयी। सामन्तवाद के स्थान पर पूँजीवाद के उदय का भी समय लगभग यही है। पूँजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरूकता के कारण विशाल पाठक वर्ग का भी रूप ले लिया। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में मध्यवर्गीय पाठकवर्ग पैदा हो गया था, जिसने वहाँ उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही यूरोप में 'उपन्यास' अस्तित्व में आ गया। हिन्दुस्तान में इस प्रकार की परिस्थितियाँ औपनिवेशिक शासन के बाद निर्मित हुईं।''[4] प्रो. गोपाल राय की बातों से यह स्पष्ट लगता है कि इतिहासकार ने उपन्यास के उद्भव और विकास का कारण औपनिवेशक शासन के चलते भारत में औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद के फलस्वरूप उपजे मध्यवर्ग को माना है। दूसरी तरफ ऐसे विद्वानों में हिन्दी के बड़े गद्यकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'उपन्यास-रहस्य' नामक लेख में लिखा है कि ''उपन्यास साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने इस अंग के कला निरूपण संबंध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं, आख्यायिका किसे कहते हैं, उनमें क्या गुण होने चाहिए, उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है।''[5] गद्यकार महावीर प्रसाद द्विवेदी के इस कथन से साफ हो जाता है कि वह उपन्यास को आख्यायिका से अलग मानते हैं अत: इनके मतानुसार उपन्यास और आख्यायिका दो

अलग-अलग विधाएं जान पड़ती हैं। आख्यानों से उपन्यास साहित्य का उदय नहीं हुआ और न ही उपन्यास भारतीय परंपरा के प्राचीनतम रूप का विकसित रूप है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी 'कथा-आख्यायिका और उपन्यास' नामक लेख में लिखते हैं ''यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान हैं। एक युग गया है...इस नवीन साहित्यांग का कथा-आख्यायिका आदि से जो मौलिक अन्तर है वह आदर्शगत है। यन्त्र युग की विशेष वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है और काव्य काल का पूर्व निर्धारित और परम्परा समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श है।...उपन्यास एक स्थायी साहित्य है, यन्त्रयुग की प्रधान साहित्यिक देन है।''[6] आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी घुमा-फिराकर यही बात कहने की कोशिश की है कि यन्त्र-युग या औद्योगिक युग में जिन उपन्यासों की रचना हुई वह संस्कृत की कथा-आख्यायिकाओं से बिल्कुल भिन्न है। नवीन उपन्यास उन आख्यायिकाओं की परम्परा से कहीं भी मेल नहीं खाता। कुल मिलाकर उन्होंने उपन्यास विधा को औद्योगिक युग की देन माना है। और तो और उपन्यासकार सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने तो यहाँ तक कह दिया है कि –''आधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है। हर भारतीय भाषा में उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम के संपर्क का परिणाम है और इस बात को आगे तक बढ़ाकर भी कह सकते हैं। आधुनिक काल भी पश्चिमी काल है।''[7] इस तरह 'अज्ञेय' ने पाश्चात्य जगत से भारतीय साहित्य में लिये हुए उपन्यास को आधुनिक उपन्यास मानते हैं और आधुनिक काल को भी पाश्चात्य जगत की देन कहा है। इसके अलावा वह श्रृंखलाबद्ध कथा या कहानी के भीतर कहानी, हितोपदेश-पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, अलिफ-लैला, बैताल-पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी जैसे आख्यानों को ही भारतीय उपन्यास मानते हैं। 'हिन्दी उपन्यास का विकास' नामाक पुस्तक की रचना करने वाले आलोचक मधुरेश का उपन्यास के उद्भव और विकास के संबंध में कहना है कि – ''भारत में उपन्यास की शुरूआत अंग्रेजी पढ़े-लिखे तेजी से विकसित मध्यवर्ग की देन है। यही कारण है कि उपन्यास पहले उन भारतीय भाषाओं में लिखे गए, मराठी और बंगला, जो पहले सीधे तौर पर अंग्रेजी के संपर्क में आ चुकी थी।''[8] अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि आलोचक मधुरेश भी भारत में उपन्यास के उदय के कारण मध्यवर्ग तथा अंग्रेजी भाषा को मानते हैं। इसी क्रम में निर्मल वर्मा ने उपन्यास पर एक बहुत ही चर्चित लेख 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म' लिखा। इस लेख में निर्मल वर्मा ने यह बताने की कोशिश की है कि जो लोग उपन्यास को कथा-आख्यायिका से जोड़कर देखते हैं, जिसकी मृत्यु हो चुकी थी उनके लिए नवीन या आधुनिक पश्चिमी उपन्यास विधा का होना उपन्यास का पुनर्जन्म होना है। इसीलिए वह लिखते हैं कि – ''वे आलोचक जो उपन्यास को विदेशी विधा मानकर भारतीय उपन्यास का उद्धार करना पुरानी आख्यायिका, लोक-कथाओं और किस्सों की शैली को पुनर्जीवित करने के रूप में देखते हैं, शायद समस्या का सीधा-सीधा सामना नहीं करते, उपन्यास विदेशी विधा जरूर है, किन्तु भारतीय समाज के उलट-फेर में जो व्यक्ति आज आकार ग्रहण कर रहा है क्या पुरानी कथात्मक शैलियाँ उसके विकट, संघर्षमय संसार के बीहड़ अंतर्द्वंद्वों को अपने में समेट पाएंगी, मुझे इसमें संदेह है।''[9] वे इसी लेख में आगे लिखते हैं कि – ''उपन्यास, 'ए ब्राइट

बुक आफ लाइफ' हो सकता है? हाँ, क्यों नहीं, किंतु भारतीय या यूरोपीय किताब नहीं – बल्कि जीवन की एक संपूर्ण किताब।''[10] निर्मल वर्मा के कहने का आशय यह है कि जो उपन्यास नायक के रूप में समाज के जिस व्यक्ति के संघर्षमय जीवन को अभिव्यक्त कर रहे हैं वह हमारे भारतीय परंपरा (आख्यायिका, किस्सों-कहानियों) के उपन्यास कर पाते यह संदेह है। यानि कि वह भारतीय परंपरा के उपन्यास को इस तरह के जटिलतम चरित्र की रचना कर पाने में अक्षम मानते हैं । और कहते हैं कि वह रचना जिसमें जीवन के संपूर्ण चित्रों का दर्शन हो वही उपन्यास है और वह रचना भारतीय या पाश्चात्य जैसे एक सांचे में या एक लाईन खींचकर नहीं तय की जा सकती।

एक तरफ तो वे विद्वान हैं जिन्होंने उपन्यास के उद्भव के कारण पाश्चात्य जगत की देन तथा पूँजीवाद के चलते उपजे मध्यवर्ग और औद्योगिकीकरण को मानते हैं तो वहीं दूसरी तरफ वे विद्वान हैं जो अपनी ही भारतीय परम्परा को उपन्यास के उद्भव का आधार माना है। उनका कहना है कि उपन्यास की जमीन हमारे यहाँ पहले ही मौजूद थी उदाहरण के तौर पर उन्होंने अरबी-फारसी की पुरानी किस्सागोई परम्परा, कादम्बरी, आख्यान, संस्कृत की वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वत्रिंशिका के साथ-साथ रोमांस भरे उपन्यासों को माना है। और इस कड़ी में सबसे पहले बालकृष्ण भट्ट ने भी अपने 'उपन्यास' नामक आलोचनात्मक लेख में उपन्यास का उद्भव कादम्बरी से मानते हुए लिखते हैं कि ''ठीक-ठीक उपन्यास के ढंग का गद्य काव्य बाणभट्ट का 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी है...बंग भाषा में 'दुर्गेश नन्दिनी', 'प्रभृति शतस:' उपन्यास एक से एक चढ़-बढ़ कर हैं।...उर्दू में 'अलिफ लैला' उपन्यास की गिनती में समावेशित हो सकता है।''[11] इसी के साथ आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने अपने लेख 'हिन्दी उपन्यास का उद्भव : विकास' में लिखा है ''जिस युग में छापेखाने नहीं खुले थे और बहुत मूल्यवान साहित्यिक ग्रन्थ ही बड़े परिश्रम से हाथ से लिखे जाते थे, उस युग में भी उपन्यासों का अतित्व था, किंतु इसी मौखिक रूप में। जहाँ और जब संस्कृत का प्रभाव था, वहाँ संस्कृत की 'वेतालपंचविंशति' और 'सिहासनद्वात्रिंशिका' जैसे यथार्थवादी उपन्यास 'बैतालपच्चीसी', और 'सिहांसनबत्तीसी' के रूप में बोलचाल की हिन्दी में प्रचलित थे, जब मुसलमानों से संपर्क बढ़ा तो 'तिलस्मि-इ-होशरुबा' और 'दास्तान-इ-अमीर हम्जा' भी जनप्रिय बने।''[12] इस तरह से नलिन विलोचन शर्मा ने भी भारतीय उपन्यास के उद्भव के कारण भारतीय परम्परा में ही खोजते दिखाई देते हैं। आलोचक नामवर सिंह अपने लेख 'अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास' में 19सवीं सदी के 'कपालकुण्डला' जैसे रोमांसपूर्ण उपन्यासों को भारतीय उपन्यास की शुरूआत मानते हुए लिखते है ''उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' है – फिर उसकी परिभाषा जो भी हो – वे इसे बंकिमचन्द्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि में लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास ! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुण्डला' करती है, 'परीक्षागुरु' नहीं।''[13] जहाँ एक तरफ आलोचक नामवर सिंह ने भारतीय उपन्यास का मूलाधार 'रोमांस' को माना है वहीं दूसरी तरफ आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने भारतीय उपन्यास के स्रोत को 'रोमांस' तथा भारतीय किस्सा-कहानी परंपरा से अलग करते हुए

लिखते हैं कि – ''यद्यपि भारतीय साहित्य में कथा और आख्यायिका के विभिन्न रूपों की परंपराएं थीं, लेकिन उपन्यास की कोई परंपरा न थी। इसलिए पश्चिम से उपन्यास का जो रूप अंग्रेजी के माध्यम से सामने आया वही यहाँ उपन्यास रचना का आदर्श बन गया।''[14] और साथ ही वह यूरोप के मध्यवर्ग को भारत के मध्यवर्ग को अलग करते हुए उसके कारण के रूप में यह बताते हुए लिखते हैं कि – ''यूरोप में उपन्यास का उदय जिन स्थितियों में हुआ था उनके ठीक विपरीत परिस्थितियाँ यहां मौजूद थीं। भारत में न तो औद्योगीकरण हुआ था और न ही मध्यवर्ग विकसित हुआ था। यहां जो नाममात्र का औद्योगीकरण हो रहा था, वह भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास का परिणाम न था। उपनिवेशवाद ने भारतीय सामंतवाद के मूल ढांचे को बनाए रखा और उसके साथ एक नए किस्म का सामंतवाद भारतीय समाज पर थोप दिया। इसलिए यहाँ के औद्योगीकरण में स्वाभाविक रूप से विकसित पूँजीवाद की कोई विशेषता न थी। यूरोप में जो मध्यवर्ग उपन्यास के विकास का आधार बना था, वह यहां लगभग गायब था। उपनिवेशवादी व्यवस्था में यहां जो मध्यवर्ग पैदा हुआ था उसका चरित्र यूरोप के मध्यवर्ग से बहुत भिन्न था।...भारत में जिस मध्यवर्ग का विकास हुआ था उसकी मूल्य-चेतना दुविधाग्रस्त थी। उसमें एक ओर परंपरा बनाम आधुनिकता का द्वंद्व था तो दूसरी आधुनिकता के नाम पर भ्रामक आधुनिकता की ओर झुकाव भी था।''[15]

यह बात सच है कि भारतीय उपन्यास के उद्भव और विकास की प्रक्रिया को जब तक अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं देखा और समझा जाएगा तब तक उपन्यास के उद्भव और विकास की गुत्थी सही ढंग से नहीं सुलझायी जा सकती। क्योंकि भारतीय भाषाओं का विकास तथा उनके साहित्य की विधाओं का उद्भव और विकास के कारण कहीं न कहीं आपस में जुड़े हुए हैं। क्योंकि किसी एक भारतीय भाषा साहित्य में होने वाले बदलाव तथा उथल-पुथल दूसरी भाषा के साहित्य को भी प्रभावित करती है। खासकर हिन्दी उपन्यास साहित्य के उद्भव और विकास की गुत्थी बँगला भाषा के उपन्यास साहित्य से लगभग जुड़ी हुई दिखाई देती है। इसलिए उपन्यास के उद्भव एवं विकास पर एक मुकम्मल निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हमें अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य के उद्भव एवं विकास पर चर्चा करना जरूरी हो जाता है

बँगला भाषा में उपन्यास के उदय की बात करें तो यह कहा जाता है कि 'उपन्यास' शब्द बँगला भाषा से हिन्दी भाषा में लिया गया है। यही नहीं उपन्यास का पूरा रूप-विधान ही हिन्दी ने बँगला भाषा से लिया है और इसके लिए तर्क दिया जाता है कि वहाँ अंग्रेजी हुकूमत पहले आई। कलकत्ता पहले अपने देश की राजधानी थी। अंग्रेजी की शिक्षा भी वहीं से शुरू हुई, और तो और पहला विश्वविद्यालय भी वहीं खुला। इस तरह अंग्रेजी पढ़ा-लिखा आधुनिक समाज कायम हुआ। और यह नए तरह का समाज था मध्यवर्ग। इस वजह से भी बँगला में उपन्यास का विकास अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा पहले हुआ। एक और महत्वपूर्ण कारण उपन्यास के उदय के संबंध में बताया जाता है वह यह कि बँगला में गद्य के विकास की प्रक्रिया पत्रकारिता से शुरू हुई थी। बँगला का पहला पत्र 'समाचार दर्पण' सन् 1818 ई. में जॉन मार्शमैन के संपादन में निकला था। यह माना जाता है कि सभी भारतीय भाषाओं

की तरह बँगला भाषा में भी गद्य के विकास के आरम्भिक प्रयास का श्रेय ईसाई मिशनरियों को जाता है। फिर उसके बाद 'ब्रह्म समाज' संस्थापक राजा राममोहन राय ने सन् 1819 ई. में 'संवाद कौमुदी' नामक पत्र बँगला में निकाला। बँगाल के प्रसिद्ध कवि ईश्वरचंद्र गुप्त ने सन् 1830 ई. में 'वाद प्रभाकर' नाम से पत्र निकाला जिसमें सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त साहित्य को भी महत्व दिया गया। इस तरह पत्रों के माध्यम से बँगला गद्य का साहित्यिक रूप सामने आने लगा। बँगला का पहला उपन्यास पियारीचन्द्र मित्र उर्फ 'टेकचंद्र ठाकुर' का 'आलालेर घरेर दुलाल' माना जाता है जो सन् 1858 ई. में प्रकाशित हुआ। हाँलाकि इसके पहले भी बँगला भाषा में उपन्यासनुमा रचनाएं लिखी जा चुकी थी। 'प्रतापादित्यचरित' इसका एक उदाहरण है। पियरीचंद्र मित्र के ठीक एक साल पहले सन् 1857 ई. में 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम से भूदेव मुखर्जी ने बँगला की पहली ऐतिहासिक कथा लिखी।

बंगला उपन्यास के शीर्ष माने जाने वाले उपन्यासकार बंकिमचन्द्र का उदय सन् 1865 ई. में 'दुर्गेशनंदिनी' के साथ हुआ। इसे बंगला का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। हाँलाकि बंकिमचंद्र के उपन्यास भी पहले-पहल पत्र-पत्रिकाओं में ही छपे, बल्कि उन्होंने खुद 'बंगदर्शन' नामक पत्रिका का संपादन किया जिसमें उनके उपन्यास भी धारावाहिक रूप में छपते थे । इसके बाद उन्होंने 'कपालकुण्डला' (1866), 'राजसिंह' (1882) और 'आनंदमठ' (1882) जैसे उपन्यास भी लिखे। और तो और डॉ. रामछबीला त्रिपाठी ने तो बँगला उपन्यास की शुरूआत ही बंकिमचंद्र से मानते हुए लिखते हैं कि – ''बंगला में उपन्यास का प्रारम्भ बंकिमचन्द्र चटर्जी से ही माना जाता है। बंकिमचंद्र आधुनिक बँगला साहित्य के प्रथम चरण की प्रगति के प्रवर्तक हैं। उनके सामाजिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक उपन्यासों से अनेक लेखक प्रभावित हुए। उनका 'दुर्गेशनंदिनी' पहला रोमानी उपन्यास है।...उनके ऐतिहासिक उपन्यास 'राजसिंह' में देशभक्ति की प्रबल भावना है। उनका 'आनंदमठ' उपन्यास अत्यंत लोकप्रिय है। इसी ग्रंथ के 'वन्देमातरम' गीत ने समस्त भारत में मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ भक्ति की लहर प्रसारित कर दी।''[16] 'गीतांजलि' के लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अनेक उपन्यासों की रचना की है। 'गोरा' और 'घरे बाइरे' उतकृष्ट उपन्यास हैं। 'गोरा' उपन्यास बँगला का महान उपन्यास माना जाता है। फिर शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'पथेरदावी', 'शेषप्रश्न', 'श्रीकान्त', 'देवदास', 'परणीता' और 'चरित्रहीन' जैसे सुप्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की । इसके बाद तो मानो बँगला में उपन्यास विधा का जबरदस्त कारवाँ निकल पड़ा और देखते ही देखते विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, तारकनाथ गांगुली, रमेशचन्द्र दत्त, ताराशंकर बंद्योपाध्याय, शैलजानंद मुखर्जी, माणिक बंद्योपाध्याय बुद्धदेव वसु जैसे उपन्यासकारों ने अनेक सुप्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की। इस तरह बँगला के इन सारे उपन्यासकारों से होते हुए उपन्यास के विकास की धारा आधुनिकता के मोड़ तक पहुँची और विकास की यह अनवरत प्रकिया आज भी जारी है।

उड़िया भाषा में उपन्यास विधा का विकास बँगला उपन्यासों के कुछ समय बाद हुआ। कहा जाता है कि उड़िया भाषा के विकास में बड़ा रोड़ा बँगला भाषा बनी, इसने उड़िया भाषा को दबाकर रखा। फिर उड़िया के साहित्यकारों ने एक लम्बा संघर्ष किया तब जाकर कहीं सफलता मिली। उड़िया गद्य के

विकास का श्रेय फकीरमोहन सेनापति को दिया जाता है। इन्होंने प्रेस की स्थापना की तथा दो पत्रिकाओं 'बोधदायिनी' और 'बालेश्वर संवादवाहिका' का भी संपादन किया। साथ ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की दो किताबों 'जीवन चरित' और 'हिस्ट्री आफ इंडिया' का उड़िया भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित किया जो वहाँ के स्कूलों में पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती रहीं। फकीर मोहन सेनापति की प्रसिद्ध का कारण उनका उपन्यास 'छमाण आठ गुंठ' बना। इस उपन्यास में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के 50 वर्ष पहले से 50 वर्ष बाद तक के किसान शोषण को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में किसान के त्रासदी के बारे में आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने बिल्कुल सही ध्यान दिलाया है कि प्रेमचन्द के हिन्दी उपन्यासों में किसान की जिस त्रासदी का चित्रण हुआ है, उसकी शुरुआत फकीर मोहन सेनापति के उपन्यास से ही हो गई थी। इसके अलावा उड़िया उपन्यासकारों में कानुचरण महंती और गोपीनाथ महंती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कानुचरण महंती ने लगभग बीस उपन्यासों की रचना की और गोपीनाथ महंती ने 'हरिजन', 'अमृतसंतान' और 'परजा' नामक उत्कृष्ट उपन्यास लिखे। 'अमृतसंतान' में पहाड़ी आदिवासियों के जीवन संघर्ष, उनकी परम्पराओं तथा उनके ऊपर हो रहे जुल्मों-सितम को बहुत ही प्रभावशाली तरीके से वर्णन किया गया है। उड़िया उपन्यासकारों में गोपालबल्लभ, उमेश सरकार, नन्द किशोर, दिव्य सिंह, कुन्तलाकुमारी सावत, सीतादेवी खंडगा, कमलाकान्त दास, कान्हूचरण महंती आदि लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। इस तरह उड़िया उपन्यासकारों तथा उनके उपन्यासों की एक विकसित परम्परा दिखाई देती है।

मराठी भाषा में उपन्यास का उद्भव तथा विकास कुछ भिन्न तरह से हुआ है। कथा कहने-सुनने की भारतीय परंपरा ने इस विधा के आरम्भिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। पंचतंत्र, जातजैबी कथाओं, पौराणिक कथाओं तथा भारतीय लोक साहित्य ने उपन्यास के लिए पाठक वर्ग पहले से ही तैयार कर रखा था। मिशनरियों के प्रयास से पंचतंत्र, हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी आदि जैसे ग्रंथों को मराठी में अनुदित किया गया। इसके बाद बच्चों और स्त्रियों की शिक्षा तथा नारी सुधार से जुड़ी कई पुस्तकों के अनुवाद किये गए। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह मराठी में भी रेनाल्ड्स और मेरी कॉरली के अनुवाद बड़ी संख्या में छपे। लक्ष्मणशास्त्री हलबे की 'मुक्तामाला' (1861 ई.) के बाद तो मराठी में अद्भुत-रोमानी श्रृंगारपरक उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। इसमें पांडुरंग गोबिंद शास्त्री का उपन्यास 'मित्रचंद्र' तथा रिजवुड का उपन्यास 'मंजुघोषा' बहुत चर्चित एवं लोकप्रिय हुए। बाबा पद्मजी के 'यमुनापर्यटनम्' (1857 ई.) को मराठी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। इसमें हिंदू विधवाओं की स्थिति पर व्यंग्य किया गया है और ईसाई धर्म को हिंदू धर्म से श्रेष्ठ बताया गया है। शुरूआती दौर में मराठी में कुछ ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास भी लिखे गए।

हरिभाऊ आप्टे के उपन्यास 'मधली स्थिति' (1885 ई.) से मराठी में यथार्थोन्मुख उपन्यास का युग आरंभ होता है। इसमें मध्यवर्ग का जीवन-यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है। 'मधाली स्थिति', 'पण लक्षात कोण घेतो', 'मी', 'मामेचा बाजार' और 'भयंकर दिव्य' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। आप्टे युग में ही वामन मल्हार जोशी ने 'रागिनी' (1916) तथा 'आश्रमहारिणी' (1916) में स्त्री की

बदलती स्थिति तथा उत्पन्न सामाजिक चुनौतियों की केन्द्र में रखकर लिखा, जो बहुत चर्चित हुए। इसी कड़ी में इनकी और भी रचनाएं 'सुशीलचा देव' (1930 ई.), 'इंदू काले व सरला भोले' (19135 ई.) तथा स्मृतिलहरी (1939 ई.) में प्रकाशित हुई। इनके उपन्यासों में समाज सुधारवाद, महाराष्ट्र में राष्ट्रीय जागरण का भी कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता है। शायद यह आप्टे की लेखकीय क्षमता की सीमा ही रही होगी। इन्होंने 74 उपन्यास लिखे बिल्कुल हिन्दी के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी की तरह। कुल मिलाकर वामन मल्हार जोशी ने स्त्री की सामाजिक स्थितियों और चुनैतियों को अपने उपन्यासों में बहुत महत्वपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है।

मराठी में 1925-1940 ई. के बीच उपन्यास की धारा में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ने वाले लेखक फड़के, पु. मं. देशपांडे, ग. यं. मांडखोलकर तथा वि. स. खाण्डेकर माने जाते हैं। मांडखोलकर का 'मुक्तात्मा' मराठी का पहला राजनैतिक उपन्यास माना जाता है। फड़के के बाद केतकर 'ब्राह्मण कन्या' नामक उपन्यास लिखा जिसमें वेश्यापुत्री के विवाह की समस्या को अभिव्यक्त किया है। इसी के साथ मामा बेरेरकर ने भी 'धावता धोटा' (1932 ई.) 'गोदू गोखले' (1933 ई.) तथा 'विधवाकुमारी' जैसे उपन्यास लिखे। इस प्रकार मराठी में भी उपन्यास विधा की एक समृद्ध परंपरा विकसित हुई।

गुजराती में गद्य लेखन 1860 ई. से माना जाता है। गुजराती के विकास में नर्मदाशंकर का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने प्रेस की स्थापना की। साथ ही पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्यपुस्तकों के प्रकाशन का भी कार्य किया। इस तरह गुजराती में उपन्यास के उद्भव की जमीन तैयार हुई। गुजराती का पहला उपन्यास 'करण घेलो' (1868 ई.) को माना जाता है जो नन्दशंकर तुलजा शंकर मेहता ने लिखा है। इस उपन्यास ने ही गुजराती कथा साहित्य को ऊँचाई तक पहुँचाया। यह उपन्यास इतिहास प्रसिद्ध कर्ण बाघेला की जमीन पर आधारित है। गुजराती के दूसरे बड़े उपन्यासकार गोबर्धनराम त्रिपाठी माने जाते हैं। उपन्यासकार गोबर्धनराम से गुजराती उपन्यास साहित्य में एक नए युग की शुरूआत मानी जाती है। इनका उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' 1887 ई. में चार भागों में प्रकाशित हुआ। गोबर्धनराम के बाद गुजराती में उपन्यास विधा में महत्वपूर्ण मोड़ लाने वाले दूसरे उपन्यासकार हैं – कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी। इनके अधिकतर उपन्यास ऐतिहासिक हैं। 'पाटणनी प्रभुता', 'गुजरात के नाथ', 'राजाधिराज', प्रध्वीवल्लभ'. 'लोपामुद्रा' आदि चर्चित उपन्यास हैं। इनके अलावा रमणलाल वसन्तलाल देसाई, झवेरचंद्र मेघाणी, पन्नालाल पटेल आदि प्रमुख उपन्यासकार हैं।

उर्दू का आरंभिक कथा साहित्य 'दास्तान' या 'कथामालाओं' की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। रतननाथ सरशार ने अपनी रचना 'फसाना-ए-आजाद' लिखकर दास्तानों की परंपरा को तोड़ा। आजाद की यह कहानी दास्तान से इसलिए भिन्न है क्योंकि इसमें अतिप्राकृतिक घटनाओं से पूरी तरह मुक्त है तथा यह इसी दुनिया की बात करती है। इसमें लखनऊ की खत्म होती नवाबी संस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है। उर्दू में सरशार के बाद नजीर अहमद ने उपन्यास की कला को आगे बढ़ाया। नजीर की पहली रचना 'मिरात उल अरुस' जो 'दास्ता-ए-आजाद' से पहले लिखी जा चुकी थी। इसे उर्दू का

पहला उपन्यास भी माना जाता है। इस उपन्यास पर अंग्रेजी उपन्यासकार 'टाइम डे' के उपन्यास का प्रभाव है। नजीर के अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास 'तोबतुन्नसूह', 'फसाना-ए-मुब्तला' और 'इब्नुलवक्त' हैं। अब्दुल हलीम शरर उर्दू के ऐतिहासिक रोमांसो के पुरस्करता हैं। उनकी लगभग सभी रचनाएं जो 1887 से 1907 ई. के बीच रची गईं, लोकप्रिय हुईं। शरर की सभी रचनाओं का थीम एक ही है 'इस्लाम-गौरव' ।

उर्दू में मिर्जा हादी 'रुस्वा' का उपन्यास 'उमराव जान अदा' (1899 ई.) पूरी तरह आधुनिक था जो वास्तव में औपन्यासिक मानकों पर फिट बैठता है। इसमें लखनऊ की एक नर्तकी उमराव जान की जीवन कथा कही गई है। कथा का समय 1840-70 ई. है। यह उपन्यास स्त्री जीवन के यथार्थ को व्यक्त करता है। इस उपन्यास के बारे में आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं कि – ''1899 में रुस्वा का 'उमराव जान अदा' नामक उपन्यास छपा और मेरी समझ में 'उमराव जान अदा' अपने रूप विधान में, अपनी यथार्थवादी चेतना में भी दूसरे तरह के भारतीय उपन्यास का सूत्रपात तो करता ही है बल्कि स्वयं अपनी अन्तर्वस्तु में नारी की वेदना, पीड़ा और करुणा के साथ उपन्यास का गहरा संबंध है।''[17] आलोचक नामवर सिंह की बात से यह तो पता चलता ही है कि मिर्जा हादी का 'उमराव जान अदा' उपन्यास साहित्य में क्या महत्व रखता है। साथ ही उपन्यासकार का भी योगदान समझ में आता है। मिर्जा हादी रुस्वा उर्दू को प्रतिष्ठित करने वाले कथाकार माने जाते हैं। बाद के उर्दू उपन्यासकारों में कृश्नचन्दर, अहमद अली, अश्क, इस्मत चुगताई, अजीज अहमद, ख्वाजा अहमद अब्बास तथा सालिहा आबिद हुसैन के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन 'उमराव जान अदा' के प्रकाशन के बाद ही प्रेमचन्द के उर्दू उपन्यास भी चर्चित हुए। उनके उर्दू में प्रसिद्ध उपन्यास 'असरारे मुआबिद', 'हम खुर्मा और हम सबाब', 'किशना' 'रूठी रानी' आदि का नाम लिया जा सकता है। प्रेमचन्द पर प्रारंभ में तो नजीर अहमद और सरशार का प्रभाव दिखाई देता है लेकिन बाद में इन प्रभावों से मुक्त हो यथार्थ की राह चल पड़े। इस तरह उर्दू उपन्यास साहित्य का उद्भव और विकास देखा जा सकता है।

पंजाबी उपन्यास का उद्भवकाल भी 19सवीं सदी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है। पंजाबी उपन्यास के विकास की परम्परा उर्दू और हिन्दी उपन्यास की विकास परंपरा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। पंजाबी में किस्सों-कहानियों की परंपरा काफी पुरानी है। इसके पहले उल्लेखनीय उपन्यासकार वीर सिंह माने जाते हैं। उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'सुन्दरी' है जिसका प्रकाशन सन् 1897 ई. में हुआ। इनके अन्य उपन्यास 'विजय सिंह', (सन् 1899 ई.) और 'सतवंत कौर' (सन् 1900 ई.) हैं। जिस तरह से प्रेमचन्द से पहले हिन्दी उपन्यास साहित्य पर उपदेशात्मकता, जासूसी, ऐय्यारी, धार्मिकता और अनुवाद का गहरा प्रभाव था, उसी तरह का प्रभाव पंजाबी उपन्यास साहित्य पर भी था। इस प्रभाव को तोड़ने वाले सबसे पहले उपन्यासकार नानक सिंह हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों का विषय रोजमर्रा की घटनाओं तथा सामाजिक स्थितियों को बनाया। इनके 'पवित्र पापी', 'मंझधार' और 'चिट्टालहू' उल्लेखनीय उपन्यास हैं। पंजाबी के उपन्यासकार सुरेन्द्र सिंह नरुला का उपन्यास 'प्यो पुत्तर' का भी

विशेष स्थान है। इनके अलावा पंजाबी के संत सिंह सेखों, कर्त्तार सिंह दुग्गल, अमृता प्रीतम, महेन्द्र सिंह सरना, गुरदयाल सिंह आदि प्रसिद्ध उपन्यासकार मिलते हैं।

वैसे देखा जाय तो दक्षिण भारत में उपन्यास की उद्भवकालीन परिस्थितियाँ तथा उपन्यास का ढांचा उत्तर भारत के उपन्यासों के ढांचे से बहुत मिलता-जुलता है। तेलगू में भी उपन्यास का आरंभ अनुवाद से ही हुआ। तेलगू में खासकर अंग्रेजी और बँगला उपन्यासों का ज्यादा अनुवाद हुआ। तेलगू का पहला उपन्यास कौन-सा है इस पर सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान तेलगू के पहले उपन्यासों में के.वेकटरत्न पुंतुलु का 'महाश्वेता' को मानते हैं तो कुछ विद्वान के. नरहरि गोपाल कृष्णन सेट्टी का 'रंगराजु चरित्र' को पहला उपन्यास मानते हैं। विद्वानों का एक और दूसरा समूह है जो उपन्यास के रूप और कला की दृष्टि से कंडकुरि वीरेशलिंगम पुंतुल के 'राजशेखरचरित्र' (सन् 1880 ई.) को मानते हैं। तेलगू के आरंभिक उपन्यासों में रामचंद्रुल के उपन्यास 'धर्मावती विलासम' (सन् 1893 ई.), तथा 'लक्ष्मीसुंदरम' (सन् 1886 ई.) का विशिष्ट स्थान है। इन उपन्यासों ने तेलगू के उपन्यास धारा को एक नया आयाम दिया क्योंकि इन उपन्यासों ने उपदेशात्मकता को नहीं बल्कि समाज सुधार को अपना आधार बनाया।

केरल के कोचिन में सन् 1563 ई. में ही एक प्रिंटिंग प्रेस खुल गया था। और 1580 ई. तक आते-आते वहाँ दो प्रेस खुल चुके थे फिर भी उपन्यास साहित्य के लेखन की शुरूआत 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही आरंभ हुई। मलयालम का पहला उपन्यास कौन-सा है इसको लेकर आलोचकों में मत भेद है कुछ आलोचक अप्पु नेड गाड़ी के 'कुंदलता' (सन् 1887 ई.) को पहला उपन्यास मानते हैं तो कुछ आलोचक तकनीक की दृष्टि से मलयालम का पहला उपन्यास चंतु मेनन का 'इन्दुलेखा' (सन् 1897 ई.) को मानते हैं। इसमें केरल के समाज में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक अराजकता का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास की रचना बेंजामिन डिजरैली के 'हेनरीटा टेम्पल' (सन् 1836 ई.) के आधार पर की गई है। मलयालम में ऐतिहासिक उपन्यासों का लेखन सी.वी रमन पिल्लै से आरम्भ होकर सरदार के. एम. पणिक्कर (केरल सिंहम) तथा अप्पन तम्पूरन (भर्तरायर) से होती हुई विकसित हुई। मलयालम के प्रमुख उपन्यासकारों के रूप में मुहम्मद बशीर (बाल्यकाल सखी, तकषी शिवशंकर पिल्लै ('चिम्मीन' और 'रेंडिचटेंगज'), एस. के. पोतक्कद (विषकन्यका) आदि उल्लेखनीय हैं।

तमिल में उपन्यास लेखन का प्रारंभ अनुवादों के चलते माना जाता है। कहा जाता है कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लगे 'मिशन प्रेस' की बड़ी चर्चा थी। वैसे इस प्रेस से धर्मग्रथों के अनुवाद छपते थे। तमिल का पहला उपन्यास समुअल वेदनायक पिल्लई का 'प्रताप मुदलियर चरित्रम' (सन् 1879 ई.) को माना जाता है। यह उपन्यास अपने आत्मकथात्मक शैली से नायिका ज्ञानवती के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों को उजागर करता है। इस उपन्यास के आठ साल बाद सी. वी. पिल्लई का दूसरा उपन्यास 'सुगण सुंदरी' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में सामाजिक कुरीतियों, बुराईयों तथा हानियों को आधार बनाया गया है। तमिल के पहले जासूसी उपन्यासकार हैं एस. एम. नरेश शास्त्री और उनका

उपन्यास है 'तनवान' (1894 ई.)। तमिल उपन्यास साहित्य के उदय की एक बहुत ही खास बात है, वह यह कि अन्य भारतीय भाषाओं की तरह तमिल में आरंभिक उपन्यास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से धारावाहिक रूप में नहीं छपे। रामस्वामी अय्यर कृष्णमूर्ति 'कल्कि' तमिल के महत्वपूर्ण उपन्यासकार माने जाते हैं। इन्होंने अनेकों सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। 'अलाई ओसई' (सन् 1948 ई.) नामक उपन्यास पर इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार भी दिया गया।

कन्नड भाषा में भी उपन्यास लेखन का मुख्य स्रोत अनुवाद के माध्यम से मिला। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कन्नड भाषा में अंग्रेजी के कई महत्वपूर्ण उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इसके अलावा बँगला और मराठी के भी की उपन्यासों के कन्नड में अनुवाद हुए। इस प्रकार कन्नड भाषा में उपन्यासों के लेखन पर अंग्रेजी, मराठी और बँगला की गहरी छाप दिखाई देती है। मौलिक उपन्यासों में गलखनाथ का उपन्यास 'माधवकरुणविलास' उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करने वाले पुढ़नणा के दो बहुत महत्वपूर्ण उपन्यास 'माडिदबे महाराजा' और 'मायांगना' प्रसिद्ध हैं। कन्नड में राजनीतिक स्थिति के बारे में बहुत ही कम उपन्यास लिखे गए हैं। कन्नड में पहला स्वतंत्र सामाजिक उपन्यास 'इंदिराबाई' है जिसके रचनाकार गुलवाडि वेंकचराव हैं। आरंभिक दौर में जासूसी उपन्यासों की रचना कन्नड में भी हुई। मास्ति बेंकटेशयंगर आधुनिक कन्नड कथा साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इनके दो उपन्यास 'चेन्नभसवनायका' और 'सुबष्णा' बहुत प्रसिद्ध हुए। शिवराम कारंत ने लगभग 15 उपन्यासों की रचना की जिनमें से 'चित्रकूट', 'कन्याबली', 'चोमन दुडि' और 'मरलि मण्णिगय' आदि श्रेष्ठ रचनाएं हैं। कन्नड उपन्यासों में ज्यादातर सामाजिक समस्याओं का वर्णन हुआ है। इसके साथ ही एस. एल. भैरप्पा के 'वंशवृक्ष' (1965 ई.) और यू. आर. अन्नतमूर्ति के 'संस्कार' (1966 ई.) उपन्यासों में जातीय अभिमान की संस्कृति निर्मित, दंभ विस्फोट, ब्राह्मण वर्ग की स्थिति और जीवनचर्या जैसे विषयों को भी आधार बनाया गया है।

अब अगर हम हिन्दी में उपन्यास साहित्य के उद्भव और विकास की बात करें तो पाते हैं कि सभी आलोचकों के मत अलग-अलग हैं। कुछ आलोचक हिन्दी उपन्यास का विकास पाश्चात्य जगत के उपन्यासों के विकास के साथ-साथ तथा वहाँ के अनूदित उपन्यासों से मानते हैं तो कुछ आलोचक अन्य भारतीय भाषाओं के औपन्यासिक रचनाओं के अनुवाद से। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ऐसे ही विद्वान हैं जिनका मानना है ''जहाँ तक हिन्दी उपन्यास का प्रश्न है उसकी गतिविधि बहुत-कुछ अंग्रेजी उपन्यास के समानान्तर ही रही और दूसरे साहित्यों का, यथा रूसी और फ्रांसीसी साहित्यों का प्रभाव, उसने अंग्रेजी के माध्यम से ही ग्रहण किया है।''[18] दूसरी तरफ हिन्दी के इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं जो यह मानते हैं कि हिन्दी में उपन्यास बँगला से आया है। मैनेजर पाण्डेय अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस स्वीकार्यता की बात करते हुए उनका कथन उद्धृत किया है। वह लिखते हैं कि – ''उन्होंने 1935 ई, में लिखा था कि ''हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में उपन्यास का नाम भी बंगला से आया है और उपन्यास का अंग्रेजी ढांचा भी। कथात्मक गद्य प्रबंध के लिए वास्तव में यह ढांचा बहुत ही उपयुक्त है।''[19] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बात से

सहमति जताते हुए आलोचक नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं ''हिन्दी का उपन्यास साहित्य वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बंगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबंधु, दंडी और बाण की लुप्त परंपरा पुनरुज्जीवित की गई थी।''[20] इस तरह से देखा जा सकता है कि भारत में उपन्यास का उदय तथा विकास सबसे पहले बंगाल में हुआ क्योंकि वहीं सबसे पहले औद्योगीकरण, बाजार, पूँजीवाद के उदय के कारण मध्यवर्ग, प्रिंटिंग-प्रेस, पत्र-पत्रिकाएं, अंग्रेजी शिक्षाकरण आदि माध्यमों का उदय हुआ। यही वजह है कि उपन्यास बँगला से हिन्दी में आया है।

हिन्दी उपन्यास के उद्भव के साथ उसके नामकरण की भी समस्या आन पड़ी । और यह समस्या सिर्फ हिन्दी में ही नहीं बल्कि यूँ कहें कि अधिकतर भारतीय भाषाओं में उपन्यास के विकास के आरंभ में उसके नाम की समस्या रही है। चूँकि भारतीय साहित्य में आख्यान के विविध रूप और नाम थे, उनसे उपन्यास का स्वरूप भिन्न था जिसके कारण एक उचित नाम की समस्या आ खड़ी हुई। इसी वजह से कहीं पर परंपरा का सहारा लिया गया तो कहीं आविष्कार की प्रवृत्ति का सहारा लिया गया। मराठी भाषा के साहित्य ने इस नए कलेवर को 'कादम्बरी' कहा तो गुजराती में इसे 'नवल कथा' नाम दिया गया। जिसमें एक तरफ तो नवीनता की तरफ संकेत है तो दूसरी तरफ भारतीय परंपरा की ओर भी । यह माना जाता है कि भूदेव मुखर्जी के द्वारा बँगला में लिखी गई पहली ऐतिहासिक कथा 'ऐतिहासिक उपन्यास' (1862 ई.) में सबसे पहले इस 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग मिलता है। बाद में बंकिमचंद्र ने अपनी रचनाओं को उपन्यास कहा और उनके उपन्यासों के लोकप्रिय होने के साथ-साथ यह नाम भी खूब लोकप्रिय हो गया। हिन्दी में 'उपन्यास' नाम बँगला से ही लिया गया है। बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि हिन्दी ने बँगला से 'उपन्यास' शब्द के साथ उसका रूप भी वहीं से लिया है। हालांकि यह बात कुछ लोगों को हजम नहीं होती और इस सच्चाई को झुठलाने की कोशिश में लगे हैं। इसके लिए मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में लिखा है कि – ''यह एक ऐतिहासिक सचाई है। काशी से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'सुदर्शन' (जो 1900 से 1902 के अप्रैल तक चली) में छपे एक लेख 'उपन्यास और समालोचक' में पं. माधवप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि ''हिन्दी में उपन्यास शब्द बंगला से आया है और अनुकरण प्रिय रचना चतुर बंगाली ग्रंथकारों ने आधुनिक लक्षण से इसे अंग्रेजी के 'नावेल' शब्द का पर्याय बना दिया है।''[21] माधवप्रसाद मिश्र इस ऐतिहासिक स्थिति के करीब थे और उससे पूरी तरह परिचित थे, इसलिए उन्हें सचाई को स्वीकार करने में कोई संकोच न था। इस सच्चाई को रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया । प्रो. गोपाल राय लिखते हैं ''बँगला और हिन्दी में उसे 'उपन्यास', उर्दू में 'नाविल', मराठी में 'कादम्बरी' तथा गुजराती में 'नवल कथा' की संज्ञा प्राप्त हुई।''[22] इन सबके बरक्स हिन्दी उपन्यास के नामकरण को लेकर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए आलोचक नामवर सिंह ने अपने लेख में भारतीय उपन्यास को 'कादम्बरी' की परम्परा से जोड़ते हुए लिखते हैं ''यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह 'नावेल्स' के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परम्परा का प्रत्यभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता।''[23] आलोचक नामवर सिंह ने इसका उदाहरण आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946 ई.) का देते हैं। क्योंकि इस उपन्यास में रूपबंध प्राचीन और नवीन का अद्भुत संयोग उनको मिलता है।

यह सर्वविदित है कि भारतीय उपन्यास के उद्भव औऱ विकास प्रक्रिया में औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद से उपजे मध्यवर्ग के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने पत्र-पत्रिकाओं के योगदान को रेखांकित करते हुए लिखा है ''उन्नीसवीं सदी के मध्य से बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में जो महत्वपूर्ण उपन्यासकार आए उनकी अधिकांश रचनाएं पहले पत्रिकाओं में छपीं। चाहे बँगला के बंकिमचंद्र हों या उड़िया के फकीर मोहन सेनापति, उर्दू के रतननाथ सरशार हों या मराठी के हरिनारायण आप्टे या फिर हिन्दी के देवकीनंदन खत्री ही क्यों न हों, इन सबके अधिकांश उपन्यास पहले पत्रिकाओं में धारावाहिक छपकर ही पाठकों के सामने आए। हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी ने तो उन्नीस सौ के आस-पास 'उपन्यास' नाम का एक मासिक पत्र ही निकाल दिया, जो कुछ वर्षों तक चला।''[24] और यही नहीं उपन्यास के विकास के साथ-साथ हिन्दी गद्य का भी विकास जुड़ा हुआ है। 19वीं सदी में जब उपन्यास भारत में आया तब यहाँ की अनेक भाषाओं में गद्य लगभग अविकसित ही था। और रही बात हिन्दी भाषा की तो वहाँ तो एक तरफ ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का विवाद चल रहा था तो दूसरी तरफ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी बनाम फारसी मिश्रित हिन्दी का विवाद चल रहा था। हिन्दी में गद्य की भाषा का स्वरूप अभी स्थिर नहीं था। इन विवादों और बहसों के बीच से हिन्दी के लिए नई राह बनाने का काम निबंधकारों और नाटककारों ने किया। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी उपन्यास का उदय हुआ इसलिए आरम्भिक दौर में उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद और अनुकरण की प्रवृति ही हावी दिखाई देती है। और तो और आगे चलकर हिन्दी गद्य के विकास का एक महत्वपूर्ण माध्यम उपन्यास विधा भी बनी।

हिन्दी उपन्यास साहित्य की पहली रचना को लेकर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' की रचना करने वाले प्रो. गोपाल राय ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास पं. गौरीदत्त रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी' (सन् 1870 ई.) को माना है। हाँलाकि उन्होंने इस उपन्यास के बारे में लिखा है ''इसमें उस जटिल वस्तु विन्यास, नाटकीय शिल्प और मनोवैज्ञानिक तथा विश्वासोत्पादक चरित्र चित्रण का अभाव है जो उपन्यास के लिए आवश्यक माना जाता है।''[25] तो वहीं हिन्दी साहित्य के इतिहासाचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी का पहला उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरू' (सन् 1882 ई.) को मानते हुए लिखा है 'अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास पहले पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरू' ही निकला था।' यह उपन्यास उपदेशात्मक है। हिन्दी में इससे पहले राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिंदू' (सन् 1881 ई.) में लिखा जा चुका था। लेकिन इसका प्रकाशन 1890 ई. में हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद विजय शंकर मल्ल ने श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' को पहला उपन्यास माना है। कुछ आलोचक तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अधूरे उपन्यास 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (सन् 1875 ई.) को मानते हैं। इसके अलावा प्रो. गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास में हिन्दी के अन्य उपन्यासों का भी उल्लेख किया है जैसे-

'वामाशिक्षक' (1872 ई.), 'भाग्यवती' (1877 ई.), 'अमृत चरित्र' (1880 ई.) और 'निस्सहाय हिंदू' लेकिन यह रचनाएं एक पूर्ण विकसित कलारूप की दृष्टि से खाली उल्लेखनीय ही रह जाती हैं । 'परीक्षागुरू' को ही हिन्दी का प्रारंभबिंदु मानकर उसके प्रकाशन काल के सौ वर्ष बाद 1982 ई. में उपन्यास की जन्म शताब्दी मनायी गयी । वैसे आचार्य शुक्ल की मान्यता हिन्दी के अनेक आलोचकों ने इस कृति पर अपनी मुहर लगाई है ।

हिन्दी में देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को अपार लोकप्रियता मिली । इनके उपन्यास 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' की लोकप्रियता के किस्सों से आज भी हिन्दी का पाठक परिचित है । गोपाल राम गहमरी के जासूसी उपन्यासों के खूब धूम रही । इनके कुछ प्रमुख उपन्यासों में 'जमुना का खून' (1901), 'खूनी की खोज' (1903), 'जासूस की डायरी' (1912), 'चक्करदार खून' (1915) और 'गाड़ी में लाश' (1920) आदि उल्लेखनीय हैं । प्रारंभ में सभी भारतीय भाषाओं में रोमानी तथा अद्भुत किस्म के उपन्यास बड़ी संख्या में रचे गए । भारतीय भाषाओं का आरंभिक उपन्यास साहित्य कल्पित कथा के दायरे में आता है । शायद इसीलिए भारतीय उपन्यास की उद्भवकालीन प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए मीनाक्षी मुखर्जी ने लिखा है ''आरम्भिक भारतीय उपन्यास में तीन मुख्य रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं । एक प्रवृत्ति समाज सुधार और उपदेश की है । दूसरी प्रवृत्ति में इतिहास और फैंटेसी के माध्यम से एक नैतिक चेतना के विकास का प्रयास है । तीसरी प्रवृत्ति समकालीन भारतीय समाज की वास्तविकताओं के यथार्थपरक चित्रण में मिलती है । हिन्दी में 'परीक्षागुरु' जैसे उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति है । दूसरी प्रवृत्ति के एक पक्ष के महत्वपूर्ण उपन्यासकार बँगला के बंकिमचन्द्र हैं तो दूसरा पक्ष देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में मिलता है । बंकिमचन्द्र के यहाँ इतिहास और मिथक का रचनात्मक उपयोग है तो देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में फैंटेसी का प्रयोग । भारतीय उपन्यास के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति के पहले महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं उड़िया के 'फकीर मोहन सेनापति' । आगे चलकर यही प्रवृत्ति अधिक उन्नत रूप में प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है ।''[26] अगर देखा जाय तो मीनाक्षी मुखर्जी की यह बात बहुत हद तक सच जान पड़ती है ।

हिन्दी में प्रेमचंद से पहले उपदेशात्मक, रहस्यात्मक, जासूसी-ऐय्यारी और ऐतिहासिक उपन्यास की रचना हुई । प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास की धारा को मोड़कर उसके केन्द्र में 'किसान' (आम आदमी) को प्रतिष्ठित किया । प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की सामंती और पूँजीवादी व्यवस्थाओं के शोषण, उत्पीड़न, किसानों-मजदूरों की विवशता, समाज की आर्थिक तथा सामाजिक पराधीनता की वास्तविकता तथा स्वाधीनता की आकांक्षा का वृत्तांत लिखा । वे भारतीय समाज और साहित्य के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया को तेज और मजबूत बनाना चाहते थे । 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक प्रेमचंद के रचनात्मक संघर्ष और साधना से प्रेमचंद ने उपन्यास साहित्य की कलात्मक परंपरा को निखारकर यथार्थवादी परम्परा का निर्माण किया । हिन्दी में फणीश्वरनाथ रेणु और उसके बाद नागार्जुन ने इस परंपरा को न सिर्फ आगे बढ़ाया बल्कि सामान्य जन, दलित, श्रमिक, स्त्री, पिछड़े वर्ग, हाशिए के आदमी को कथा का केन्द्र भी बनाया । प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास साहित्य कई धाराओं

जैसे – सामाजिक, ऐतिहासिक, यथार्थवादी, मनोविश्लेषणवादी आदि में बँटकर विकसित हुआ। हिन्दी में एक तरफ आंचलिक उपन्यासकार के रूप में फणीश्वरनाथ रेणु प्रतिष्ठित हुए तो दूसरी तरफ ग्राम कथाकारों की भी एक सशक्त श्रृंखला है । इसी तरह हिन्दी के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा, शिवपूजन शहाय, विश्वभंर नाथ शर्मा, राजा राधिकारमण सिंह, हजारी प्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, निराला, नागार्जुन, से होती हुई जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, श्रीलाल शुक्ल, वीरेन्द जैन, पंकज विष्ट, सुरेन्द्र वर्मा, विवेकी राय, कमलेश्वर, मोहन राकेश, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, अमरकान्त, यशपाल, राजेन्द्र यादव, मुक्तिबोध, काशीनाथ सिंह तथा समकालीन उपन्यासकार संजीव तक विकसित हुई। आज जब विमर्शों का दौर चल पड़ा है तब ऐसी स्थिति में हमारा हिन्दी उपन्यास साहित्य भी इन विमर्शों से अछूता नहीं रहा तथा यह साहित्य दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-विमर्श में भी अपने पैर जमा चुका है । यहाँ भी दलित विमर्श में रूपनारायण सोनकर, शरण कुमार लिंबाले, मोहनदास नैमिशराय आदि हैं तो स्त्री-विमर्श में कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, मन्नू भण्डारी, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, गीतांजलि श्री जैसी सशक्त लेखिकाओं की कतार खड़ी दिखाई देती हैं। आदिवासी विमर्श में भी पीटर पॉल एक्का, वाल्टर भेंगरा तरुण, हरिराम मीणा जैसे उपन्यासकारों की एक विकसित परंपरा दिखाई देती। न सिर्फ उपन्यासकारों की बल्कि इन उपन्यासकारों ने 'मुक्तिपर्व', 'चाक', 'छिन्नमस्ता', 'आवां', 'दस द्वारे का पिंजरा', 'हमारा शहर उस बरस', 'मौन घाटी', 'लौटते हुए' और 'धूणी तपे तीर' जैसे तमाम सशक्त उपन्यास दिए हैं जो महत्वपूर्ण रचनाओं में गिनी जाती हैं। इस तरह से आज हिन्दी उपन्यास साहित्य ने अस्मितामूलक विमर्श को अपना आधार बनाकर अपने-आपको एक सशक्त एवं समृद्ध साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित कर चुका है।

(1.2) उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास क्रम

चूँकि उपन्यास के उदय के साथ-साथ उपन्यास आलोचना का उदय एवं विकास भी माना जाता है इसलिए उपन्यास आलोचना के इतिहास को भी देखने की जरूरत है। इसके साथ ही यह भी देखना होगा कि जब उपन्यास का जन्म तथा उसका विकास हो रहा था तो उस समय उपन्यास आलोचना का स्वरूप कैसा था? आलोचकों का उपन्यास के प्रति क्या नजरिया था? उनके द्वारा दिये गये मत क्या उपन्यास आलोचना के ऐतिहासिक विकास-क्रम को कड़ीबद्ध करने में सहायक होंगे? इन्ही प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए उपन्यास आलोचना को तीन भागों में बाँटकर देखना होगा तभी हम उपन्यास आलोचना के उद्भव एवं विकास को जान पाएंगे।

(1.2.1) प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास आलोचना

उपन्यास आलोचना के आरंभ को देखें तो पाते हैं कि उपन्यास आलोचना का विकास 'उपन्यास' शब्द के नाम की शुरूआत कहाँ से हुई, इसे उपन्यास नाम किसने दिया, इस बहस से शुरू होती है। अंग्रेजी 'नावेल' की तर्ज पर भारत में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग सबसे पहले बँगला के भूदेव

मुखर्जी ने सन् 1862 ई. में अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास' में किया है। यह याद रहे कि हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का सबसे पहले प्रयोग सन् 1875 ई. में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। दूसरी तरफ भूदेव मुखर्जी द्वारा दिए गए नाम को बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपना लिया और अपने उपन्यास संबंधी लेख में पहली बार 'उपन्यास' क्या नहीं है इसको बताने का प्रयास किया। उनके इस लेख का गहरा प्रभाव हिन्दी के उपन्यास साहित्य के आरम्भिक आलोचक बालकृष्ण भट्ट के 'उपन्यास' नामक लेख पर साफ-साफ देखा जा सकता है। हिन्दी उपन्यास आलोचना की शुरूआत बालकृष्ण भट्ट के इसी लेख से मानी जाती है जो 'हिन्दी प्रदीप' में सन् 1883 ई. में प्रकाशित हुआ। और तो और मेरी समझ से हिन्दी में उपन्यास ही नहीं बल्कि उसकी आलोचना भी बँगला के ही प्रभाव में आरंभ हुई है। नमूने के तौर देखा जा सकता है कि बालकृष्ण भट्ट ने अपने इस लेख में लिखा है ''नोबेल के ढंग का गद्य काव्य लिखने का तरीका हमारी प्राचीन संस्कृत लिखावट में न था कुछ-कुछ इस क्रम का लेख चम्पू है पर चम्पू निरा गद्य काव्य नहीं है...अंग्रेजी नोबेल के ठीक-ठीक क्रम का कादम्बरी आख्यान है जिस्में सांगोपांग गुण उपन्यास के मिलते हैं,.''[27] उपर्युक्त इन दोनों लेखों का महत्व केवल इतना ही है कि ये 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। 'उपन्यास' क्या है? इस पर इन लेखों में कोई विचार नहीं मिलता। जब हम पाश्चात्य जगत में उपन्यास आलोचना पर नजर दौड़ाते हैं तो और ज्यादा आश्चर्यजनक तथ्य हमारे सामने आते हैं। वहाँ भी गुस्ताव फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स के पहले उपन्यास आलोचना का कोई स्वरूप या ढांचे की तो बात ही छोड़िए एक उदाहरण तक नहीं मिलता। वहाँ उपन्यास का जन्म तो अठारहवीं सदी में ही हो जाता है और उसकी आलोचना की शुरूआत उन्नीसवीं सदी के मध्य में जाकर होती है मतलब सौ-डेढ़ सौ साल बाद। वह भी उपन्यास के उदय, इतिहास, व्याख्या तथा उसकी समीक्षा के स्तर पर ही। उपन्यास आलोचना की सैद्धान्तिकी का निर्माण तो और भी बाद में होता है। एक तरह से बीसवीं सदी में आकर।

'उपन्यास' क्या है? हिन्दी में इसे बताने की अम्बिकादत्त व्यास ने कोशिश जरूर की है। 19वीं सदी के लगभग अन्त में सन् 1897 ई. में अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्यकाव्य मीमांसा' पुस्तक छपी जिसमें उन्होंने उपन्यास के लक्षण के आधार पर नौ भेद किये है तथा नौ भेदों की परिभाषा भी दी है। उपन्यास के नौ भेदों के नाम बतलाते हुए लिखते हैं ''1 कथा, 2 कथानिका, 3 कथन, 4 आलाप, 5 आख्यान, 6 आख्यायिका, 7 खण्डकथा, 8 परिकथा,...9 सङ्कीर्ण। ये उपन्यास के 9 भेद हैं। इनके अलग-अलग लक्षण दिखलाये जाते हैं।''[28] पहले विद्वान साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र का भेद करने में बड़े माहिर हुआ करते थे। अब अम्बिकादत्त व्यास को ही देख लीजिए, इन्होंने उपन्यास के सिर्फ ये नौ भेद ही नहीं किये बल्कि इन नौ भेदों के भी उपभेद किए और उपभेदों के भी भेद किये। इतना ही नहीं उन्होंने इन सभी भेदों-उपभेदों को मिलाकर उपन्यासों के भेद उन्चास अरब छ: करोड़, इकतालीस लाख, अठानबे हजार, चार सौ माना है और कुछ भेदों का तो संस्कृत में दोहा लिखकर उसका हिन्दी में भी भावार्थ लिखकर परिभाषित किया है। साथ ही उदाहरण के तौर पर हिन्दी की ही नहीं दूसरी भारतीय भाषाओं के रचनाओं के भी नाम बताए हैं। इनके लेख में एक जो सबसे महत्वपूर्ण बात लगी वह यह कि उन्होंने उपन्यासों में

कविताओं और गीतों को वर्जित माना है जबकि उपन्यास विधा ऐसी किसी वर्जना को नहीं मानती। उपन्यास विधा को शुरूआती दौर से अब तक देखने पर ये पता चलेगा कि उपन्यासों में भावुकतापूर्ण कविताओं, गीतों की एक लंबी परंपरा रही है। ठाकुर जगमोहन सिंह के उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' से लेकर रेणु के 'मैला आँचल', अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और समकालीन उपन्यासकार रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' में यह परंपरा देखी जा सकती है।

यह सच है कि साहित्यिक विधाओं में उपन्यास सबसे नई, आधुनिक, लोकप्रिय, वर्चस्वशाली और प्रतिरोधी विधा है। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि दुनिया भर में प्रतिबंधित और तरह-तरह के 'सेंसरशिप' के शिकार साहित्य का अगर कोई ब्यौरेवार अध्ययन किया जाए तो सबसे अधिक संख्या उपन्यासों की ही निकलेगी। कहा जाता है कि स्पेन के सम्राट ने कानून बनाकर दक्षिण-अमेरिका में उपन्यास लिखने पर प्रतिबंध लगा दिया था क्योंकि उसका मानना था कि उपन्यास खतरनाक ढंग से जनता की भावनाएं भड़काते हैं। मुझे तो इस रूप में भी उपन्यास किस्सा कहने की आदिम परंपरा से अलग एक औद्योगिक सभ्यता की उपज लगता है। उपन्यास सिर्फ कल्पना, किस्सा कहने का माध्यम भर नहीं है उसका कथ्य भी बहुत महत्व रखता है। जिसे आलोचना के रूप में परखा जाना चाहिए। इन्ही बातों को ध्यान में रखकर सन् 1899 ई. में 'हिन्दी प्रदीप' में ही काशीप्रसाद जायसवाल का एक लेख 'हिन्दी उपन्यास लेखकों को उलाहना' के नाम से छपा। जिसमें उन्होंने लिखा है ''उपन्यास लिखना कोई बुरी बात नहीं है – यदि ''उपन्यास'' लिखा जाय तो – उपन्यास से संसार का जितना हित और उपकार साधन हो सकता है उतना और किसी प्रकार की पुस्तक से होना कठिन है – इससे मनुष्य घोर पापी से देवता में परिणत हो सकता है।''[29] काशीप्रसाद जायसवाल के लेख से पहली बार उपन्यास आलोचना 'उपन्यास' कहाँ से आया?, उसका उद्भव कहाँ हुआ? आदि से आगे बढ़कर यह बताया गया कि उपन्यास क्या है? वह समाज में अन्य विधा से ज्यादा प्रभावी हो सकता है। काशीप्रसाद जायसवाल की इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि उपन्यास विधा में समाज के यथार्थ को जितना अच्छे से अभिव्यक्त किया जा सकता है उतना किसी और विधा में नहीं।

यह बात दीगर है कि हिन्दी में पहले दूसरी भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद छपे, उसके बाद तो मानो ऐय्यारी, तिलस्मी, जासूसी, रहस्यमयी, मनोरंजनपूर्ण, आदर्शमूलक उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। वैसे इन उपन्यासों की लोकप्रियता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि उस समय इन उपन्यासों ने पाठकों के बीच खूब धूम मचाई। कुल मिलाकर देखा जाय तो इन उपन्यासों की भूमिका पाठकों को तैयार करने में बहुत महत्वपूर्ण रही है। इसके बरक्स एक जो सबसे महत्वपूर्ण सवाल है वह ये कि यह उपन्यास वर्तमान समाज से कटे हुए थे यानि इनका यथार्थ से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं दिखाई देता है। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए उपन्यासकारों को सावधान करने हेतु 'हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम' नामक लेख लिखा । जो सन् 1905 ई. के अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर अंक में 'समालोचक' पत्रिका में छपा। 'गुलेरी' जी लिखते हैं कि – ''आप लोग दो प्रकार की रचना करते हैं। एक तो उन विलक्षण और असंभव ऐयारियों और तिलिस्मों में गोते खिलाना है जो कभी न थीं

और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय, कभी भी सम्भव न होंगी। दूसरा गार्हस्थ्य और समाज के उन आदर्श चित्रों को दिखाना है जो वर्तमान समय में नहीं हैं, या तो प्राचीन समय में थे, या उस समय भी कल्पना ही में थे।...इसलिए हमें ऐसे उपन्यास-लेखक चाहिए जो प्रेममय परिश्रम से इन साधारण वस्तुओं के सच्चे चित्रांकन करें,...यह आवश्यक है, मुझे पड़ोसियों के सुख-दुख से सहानुभूति हो, और न उन कल्पित नायकों से जो कहासुनी में ही हैं अथवा जो आदर्श उपन्यास-लेखक के आदर्श ही हैं।''[30] अत: गुलेरी जी के मत को पढ़ते हुए यह लगता है कि उन्होंने संकेतों में ही सही पर कितनी महत्वपूर्ण बात कही दी है। यह सच है कि विलक्ष तथा असंभव ऐय्यारी और तिलस्मी भरे उपन्यासों से ज्यादा महत्वपूर्ण वह उपन्यास हैं जिनका कथ्य यथार्थ की धरातल पर आधारित है। जिनके पात्र हमारे वर्तमान समाज या वास्तविक समाज से संबंध रखते हों अथवा जो हमारे समाज में मौजूद हों। साथ ही उन्होंने माना है कि ऐसे कथ्य तथा पात्रों के चित्रण से ही हमारी संवेदनाएं जुड़ पाएंगी और उनके सुख-दुख को हम अपने सुख-दुख की तरह ही महसूस कर पाएंगे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गुलेरी जी उपन्यास की जमीन को यथार्थ के धरातल पर देखना चाहते थे।

उपन्यास साहित्य अपने जन्म से लेकर अब तक रूप, रचना, शैली, विधान सबमें प्रयोग और विकास की दृष्टि कई मंजिलें पार कर चुका है। वैसे तो साहित्य की सभी विधाएं केवल साहित्यिक रचना ही नहीं होतीं बल्कि वह एक राजनीतिक व सामाजिक संरचना भी होती है। लेकिन इस धरातल पर अन्य साहित्यिक-रूपों की तुलना में उपन्यास सर्वाधिक सक्षम विधा है। इसीलिए तो उपन्यास इतिहास औऱ सामाजिक अध्ययनों में केवल साहित्यिक-संरचना की तरह ही नहीं पढ़ा जाता। बदलते सामाजिक संरचना को समझने के लिए उसे एक ऐतिहासिक व सामाजिक 'पाठ' की तरह पढ़ा जाता है। साथ ही मुझे लगता है कि उपन्यास मानवीय-सभ्यता के सामाजिक और ऐतिहासिक प्रगति और अन्तर्विरोधों का सूत्रीकरण करने वाली सबसे सशक्त और कारगर विधा है। उपन्यास समाज और व्यक्ति के रिश्तों, उसके विरोधों और अंतर्द्वंद्वों को सम्पूर्णता के साथ पकड़ने की पूरी कोशिश करता है। उपन्यास के ऐसे ही रूपों को लक्ष्य कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख 'उपन्यास' (सन् 1910 ई.) में लिखते हैं ''मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है। जिससे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं। बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलातें हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना।...उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाए तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने हैं।''[31] काशीप्रसाद जायसवाल तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जिस यथार्थ की बात करते हैं रामचन्द्र शुक्ल उससे आगे बढ़कर यह भी कह देते हैं कि उपन्यास यथार्थ के धरातल पर मानव जीवन के अनेक रूपों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ वह अपनी अनुमान शक्ति से जब इसकी तरफ संकेत करे जहाँ से एक मनुष्य, मनुष्य बनने की प्रक्रिया में जाता है। तथा मनुष्य बनने की प्रक्रिया में उन्हीं घटनाओं का वर्णन करे जो सृष्टि के असंख्य और अपरमित व्यापारों से छँटे हुए नमूने हों अर्थात् वह महत्वपूर्ण घटनाएं जो समाज

की धारा को दूसरा मोड़ दे रही हों उसका वर्णन करने वाले यथार्थपूर्ण उपन्यास उच्च श्रेणी के उपन्यासों में आएंगे।

इस तरह से देखा जा सकता है कि उपन्यास साहित्य के आलोचना के प्रारंभ का स्वरूप ढीला होते हुए भी निरन्तर विकास की तरफ बढ़ रहा था। वह उपन्यास आलोचना जो बंगला से सन् 1862 ई. के भूदेव मुखर्जी के 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक लेख से प्रभावित हो सन् 1883 ई. के बाणभट्ट के 'उपन्यास' नामक लेख से उपजी थी, अब वह यथार्थ के जमीन की ओर बढ़ चली।

(1.2.2) प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी उपन्यास आलोचना

हिन्दी उपन्यास आलोचना की शुरूआत तो बालकृष्ण भट्ट से हो गई थी लेकिन काशी प्रसाद जायसवाल तथा आचार्य रामचंन्द्र शुक्ल ने इसे विकसित किया। सन् 1922 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'उपन्यास-रहस्य' नामक लेख 'साहित्य-संदर्भ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने उपन्यास कौन लिख सकता है? इस पर विचार करते हुए लिखा है ''जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनमोहक भाषा के द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से उन्हें लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पण्डितों के तत्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।''[32] महावीर प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार वही उपन्यास अच्छा होगा जिसकी उत्पत्ति मानव स्वभाव और समाज के हित को ध्यान में रखकर की जाएगी। इसी लेख में पूर्व कही बातों को और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं ''उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाए जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सरलता से और किसी से नहीं दी जा सकती।''[33] महावीर प्रसाद द्विवेदी उपन्यास के आधार के स्वरूप में यथार्थ की जमीन को ही समीप पाते हैं।

उपन्यास आलोचना में उपन्यासकारों का कम हस्तक्षेप नहीं है या यों कहे कि उपन्यासकारों की भी अहम भूमिका रही है। अमूमन यह देखा गया है कि जब कोई नई विधा अस्तित्व में आती है तब उसको लेकर साहित्य की हर विधा में चर्चा होती है। यही कारण है कि उपन्यास जैसे नए रूप, विधान, शैली आदि को देखकर तथा उसके बदलते स्वरूप और विकास पर उपन्यासकारों ने भी रुचि दिखाई। अत: उन्होंने भी उपन्यास साहित्य कैसे लिखा जा सकता है? कैसा होना चाहिए, किस तरह के उपन्यासों को उच्चकोटि में रखा जाए जैसे प्रश्नों को बहस के केन्द्र में रखा। इस कड़ी में प्रेमचन्द ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने अपने 'उपन्यास के विषय' नामक लेख में एक उपन्यासकार प्रभावकारी उपन्यास कैसे लिखे इस पर विचार करते हुए वह लिखा है ''उन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाए, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट संबंध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन

जाए, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की सी हो जाएगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों ।...उपन्यास में वही घटनाएं, वही विचार लाने चाहिए, जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाए, जो प्लाट के विकास में सहायक हों ।...संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है । प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर पहलू , जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है, तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है ।''[34] यहाँ पर उपन्यास की रचना प्रक्रिया पर प्रेमचन्द ने विस्तार से चर्चा की है । तो वहीं अपने दूसरे 'उपन्यास' नामक लेख जो 'समालोचक' पत्रिका में छपा था, में उनका मानना है ''वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो । उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं । आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है । उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सदविचार से पाठक को मोहित कर लें । जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है ।''[35] यहाँ पर प्रेमचन्द जिस आदर्श को स्थापित कर रहे हैं, वह कौन-सा आदर्श था? वह आदर्श कितना उपयोगी था? प्रेमचन्द के इस आदर्श के कारण क्या यथार्थ का वास्तविक रूप उसमें खो नहीं जायेगा? और शायद इसीलिए उन्होंने 'उपन्यास के विषय' लेख में भविष्य का उपन्यास कैसा होगा इस पर विचार करते हुए लिखते हैं ''भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे ।...किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देशभक्त का, या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा । तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त होगा ।''[36] इससे पुष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द जानते थे कि आगे चलकर उपन्यासों का आधार आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नहीं बल्कि यथार्थ होगा तभी इस उपन्यास विधा का असली मायने में विकास होगा । क्योंकि उनको पता था कि साहित्य की विधा बहुत दिनों तक तभी जिंदा रहती है जब तक वह अपने रूप-विधान, शैली, कथ्य आदि जैसे तमाम रूपों में भी अपना विकास करे । और सच पूछिए तो उपन्यास साहित्य ने इस ओर अपना विकास किया भी । प्रेमचन्द ने अपने लेखों में उपन्यास के जिन पक्षों पर बात की है उन पक्षों की आलोचना का अभी तक अभाव था ।

प्रेमचंद के लगभग समकालीन उपन्यासकार जैनेन्द्र भी माने जाते हैं । उस समय वह भी उपन्यास विधा में अपनी पैठ बना चुके थे । उन्होंने भी 'परख' आर 'सुनीता', जैसी बहुमूल्य कृतियाँ दीं थीं । उपन्यास आलोचना में इनकी कृतियों पर भी आलोचनात्मक लेख लिखे गए । उस समय प्रसिद्ध आलोचक नंददुलारे वाजपेयी ने सन् 1931 ई. में 'भारत' नामक अखबार के पृष्ठों पर 'उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार' नाम से दो-तीन लेख लिखे । जो बाद में उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' (1950) में संकलित किया । वह जैनेन्द्र से शिकायत के लहजे में कहते हैं कि वह स्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, और न ही पात्रों के जीवन के सुख-दुख को ही सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं । उनके पात्र एक रहस्यमयता लिए हुए होते हैं । इसलिए वह अपने इस लेख में एक जगह लिखते हैं ''प्रेमचंद जी को हिन्दी का प्रमुख प्रगतिशील लेखक मानते हैं । सामाजिक जीवन से उनके घनिष्ठ संबंध

को सभी स्वीकार करते हैं। जैनेन्द्र कुमार इससे भिन्न व्यक्तिवादी कलाकार हैं। हाल की उनकी रचनाओं में चरित्रों की एकांतिकता, जीवन के प्रवाह से पृथकता और दूरी अत्यधिक स्पष्ट हो गई है।''[37] आलोचक नंददुलारे वाजपेयी की पारखी नजरों ने जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में अभिव्यक्त व्यक्तिवादिता, पात्रों की एकांतिकता को सच ही पहचान लेती है। चूँकि यह माना जाता है कि जैनेन्द्र की रचनाओं में गाँधी का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस संबंध में नंददुलारे वाजपेयी ने अपने इसी लेख में लिखते हैं ''जैनेन्द्र की रचनाओं में जिन नारियों के दर्शन होते हैं, वे गांधी जी के नारी-कल्पना से नितांत भिन्न हैं। रचना के क्षेत्र में जैनेन्द्र न तो गांधीवादी हैं और न आदर्शवादी हैं। वे एकांतिक भावुकता और कल्पना-जीवी लेखक हैं, जो वास्तविकता के प्रकाश में धूमिल दिखाई देते हैं।''[38] इस तरह आलोचक नंददुलारे वाजपेयी जैनेन्द्र के बारे यह स्थापना देते हुए कि वे एकांतिक भावुकता और कल्पना-जीवी लेखक बताया है जो यथार्थ की रोशनी में धुंधला दिखाई पड़ते हैं। जो मूलत: व्यक्तिवादी हैं। दूसरी तरफ उन्होंने यह भी स्थापना दी कि गांधी के स्त्री विचारों से जैनेन्द्र की रचनाओं मे आयीं स्त्री पात्र एकदम भिन्न दिखाई पड़ते हैं।

अत: उपन्यास आलोचना के उपरोक्त स्वरूप को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस दौर की उपन्यास आलोचना महावीर प्रसाद द्विवेदी से चलती हुई नंददुलारे वाजपेयी तक आते-आते और पारखी नजरें रखने लगी थी।

(1.2.3) प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास आलोचना

प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी उपन्यास आलोचना का जिस तरह विकास हुआ है क्या वह प्रेमचन्दोत्तर युग में भी दूसरे नए आयामों को विकसित कर पाता है या नहीं। इस दौर में भी यह महत्वपूर्ण सवाल अपना मुँह बाए खड़ा है। वैसे देखा जाय तो इस कालावधि में एक-ही-दो लेख उपन्यास आलोचना से संबंधित मिलते हैं। या इस तरह कहना ज्यादा उचित होगा कि इस अवधि में उपन्यास आलोचना ना के बराबर हुई है। जो भी हुई है उसमें उपन्यास विधा के स्वरूप, भाषा पर ही बात की गई है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के रुप-विधान, शैली, भाषा आदि के विकास पर चिंता जताते हुए सन् 1940 ई. में प्रबंध-प्रतिमा में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' लिखते हैं ''हिन्दी के और-और उपन्यासकारों की मैं कोई चर्चा नहीं करुँगा, कारण उनमें खूबियों की जगह कमजोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है तो कहीं अन्धे भाव को रास्ता नहीं सूझता, कहीं अकारण ही सफे-के-सफे रंग डाले गए हैं तो कहीं कर्कशता की छुरी से चित्रों की नाक ही काट ली है।...सफल उपन्यासकार यदि कोई निकल जाए तो प्रेमचन्द जी ही देख पड़ते हैं।''[39] इस तरह निराला हिन्दी के उपन्यास साहित्य की भाषा, भाव, शैली आदि खामियों को बताते हुए प्रेमचन्द को ही सफल उपन्यासकार माना है। वह भी ग्राम्य जीवन के सफल उपन्यासकार। इसके अलावा कथाकार जैनेन्द्र ने उपन्यास में वास्तविकता कितनी होनी चाहिए इस पर अपना विचार रखते हुए लिखते हैं ''उपन्यास में वास्तविकता का यही स्थान है। धरती पर का आदमी जिन तरह-तरह की लाचारियों के कारण उभर नहीं सकता, क्या उन लाचारियों में उपन्यास के नायक को भी बाँधना

होगा? मैं मानता हूँ कि उपन्यास के नायक हमारे भीतर की संभावनाओं के चित्र अधिक हैं। वे हमारी अपूर्णता की पूर्तियाँ हैं। वे हमारे फोटोग्राफ नहीं हैं, उससे अधिक हैं। चित्र फोटोग्राफ से अधिक होता है। उपन्यास लेखक भी फोटोग्राफर नहीं है – वह चित्रकार है, यानी उसमें विवेक है। उस विवेक द्वारा वास्तव के पर्याप्त अंश को वह छोड़ देता है।...उपन्यास वास्तव में आदर्श की ओर उठने के प्रयास में ही बनना चाहिए।''[40] यह बताने की जरूरत नहीं कि उपन्यासकार जैनेन्द्र उपन्यास को समाज का हू-ब-हू यथार्थ नहीं बल्कि उससे अधिक बढ़कर मानते हैं, जो मनुष्य की संभावनाओं को भी विवेक से अपने में समेटता हो। वहीं बाबू गुलाबराय ने सन् 1954 ई. में 'आलोचना' पत्रिका के अपने लेख 'उपन्यास और नीति' में जैनेन्द्र के इस सीमारहित विचार को सीमा में बाँधते हुए लिखते हैं ''उपन्यासकार जहाँ तक हो असाधारणता की ओर न जायँ। वे स्वस्थ जीवन का चित्रण करें और ऐसे समाज के निर्माण का प्रयत्न करे जिसमें विविधता में एकता और साम्य हो। पाठकों को चाहे कि वे उपन्यास के आलोक से जीवन को समझने की कोशिश अवश्य करें, किन्तु उपन्यासों द्वारा चित्रित जीवन को सत्य की चरम स्थिति न समझें। उसे एक सामाजिक प्रयोग का ही महत्व दें।''[41] बाबू गुलाब राय ने अपने इस लेख में उपन्यास की सीमा को बतलाते हुए यह बताने की कोशिश की है कि उपन्यास समाज के जिन चरित्रों का वर्णन करता है उसे एक प्रयोग के तौर पर लिया जाना चाहिए न कि अन्तत: वही सत्य है मान लेना चाहिए। यह कैसे सम्भव है? क्या प्रेमचन्द का होरी चरित्र आज के किसान जीवन का चरम सत्य नहीं है? क्या आज के किसान बंधुवा मजदूर बनने को मजबूर नहीं? क्या 'गोदान' के होरी की त्रासदी आज के किसान जीवन की त्रासदी नहीं है? इन्हीं सारे कटु सत्यों को देखते हुए सन् 1966 ई. में शायद नेमिचंद्र जैन ने ठीक ही कहा था कि – ''आज के जीवन के भाव-सत्य को अपनी समग्रता में, सभी स्तरों और आयामों में, व्यापकता और गहनता के दोनों क्षेत्रों में, अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास से अधिक समर्थ माध्यम दूसरा नहीं।''[42]

इतिहासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी उपन्यास के औचित्य पर बात करते हुए लिखा है ''उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियों के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते हैं, क्योंकि जीवन की यथार्थताएँ ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं।...इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए कि जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होती रहने वाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन।''[43] हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास के औचित्य की बात करते हुए उसके विकास क्रम में सहयोग दिया है। लेकिन क्या इतनी महत्वपूर्ण विधा जो समाज के यथार्थ को अपने अन्दर समाहित कर पाने की अकूत क्षमता एवं संभावनाएँ रखती हो उसे समझने के लिए भी एक सुव्यवस्थित तौर-तरीका नहीं होना चाहिए? इन प्रश्नों को लक्ष्य करते हुए यह कहा जा कता है कि इस दौर में भी उपन्यास आलोचना के सैद्धांतिकी की तरफ कोई संकेत नहीं दिखाई देता है। वैसे उपन्यास आलोचना का कुछ हद तक विकास तो हुआ लेकिन उसकी वैचारिकी या सिद्धांत का अभाव ही रहा।

(1.2.4) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास आलोचना

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास आलोचना को अगर हम देखें तो पाते हैं कि सन् 1947 ई. या मूलत: सन् 1950 ई. से बहुत सारे आलोचकों के द्वारा लेख लिखे गए। इस काल में एक और विशेष बात देखने को मिली वह यह कि उपन्यासों की प्रवृत्तियों, तत्वों, उद्देश्यों, दृष्टियों आदि पर तो आलोचनात्मक लेख खूब लिखे ही गए साथ में चर्चित उपन्यासों और उपन्यासकारों पर भी तमाम अलग-अलग या स्वतंत्र आलोचनात्मक लेख लिखे गए। उदाहरण के तौर पर हंस के संपादक राजेन्द्र यादव के द्वारा अलग-अलग समयों पर लिखे गए 18 उपन्यासों पर गंभीरपूर्ण आलोचनात्मक लेखों को देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री का उपन्यास 'चंद्रकांता संतति', जैनेंद्र का 'सुनीता', अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', धर्मवीर भारती के दो उपन्यास 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', अश्क का 'गर्म-राख' रेणु का 'परती-परिकथा' और भीष्म साहनी का 'तमस' प्रमुख रूप से शामिल किये गए हैं और साथ ही उन्होंने अपने भी तीन उपन्यासों 'शह और मात', 'सारा आकाश' तथा 'एक इंच मुस्कान' को शामिल किया है। और महत्वपूर्ण बात यह कि आलोचक ने अपने भी उपन्यासों पर उतनी ही शिद्दत से लिखा है जितना की दूसरे उपन्यासों पर। इन सारे लेखों की अवधि सन् 1951 ई. से लेकर सन् 1979 ई. तक है, जो अलग-अलग पत्रिकाओं में छपे। हाँलाकि इन्हें बाद में सन् 1981 ई. में उन्होंने 'अठारह उपन्यास' नामक पुस्तक में भी संपादित किया। लगभग इसी तरह नंददुलारे वाजपेयी ने एक तरफ चर्चित उपन्यासकार प्रेमचन्द, जैनेंद्र, अज्ञेय, पर लिखा तो दूसरी तरफ 'गोदान', 'त्याग-पत्र' तथा 'शेखर : एक जीवनी पर भी लिखा। और साथ ही उन्होंने उपन्यास की व्यक्तिवादिता और आँचलिकता जैसी प्रवृत्तियों पर भी अपनी पारखी नजरों से लेखनी चलाई है। यह सच है कि मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी के ही नहीं बल्कि उर्दू के भी चर्चित उपन्यासकार रहे हैं। प्रेमचन्द को 'हिन्दी कथा का सम्राट' कहा जाता है। अक्सर प्रेमचंद पर बात करते हुए आदर्शवाद और यथार्थवाद पर भी चर्चा की जाती है। और प्रेमचंद को तो यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहा जाता है लेकिन आलोचक नंददुलारे वाजपेयी ने अपने लेख 'प्रेमचंद के उपन्यासों की विशेषता' में प्रेमचंद के उपन्यासों की तीन विशेषताओं पर बात करते हुए यह माना है कि प्रेमचंद यथार्थोन्मुख आदर्शवादी नहीं बल्कि केवल आदर्शवादी ही थे। इसके बारे में वह लिखते हैं ''कोई कलाकार या तो यथार्थवादी ही हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये परस्पर विरोधी विचारधाराएं और कला शैलियां हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। वास्तव में प्रेमचंद अपने विचारों व लेखन में आदर्शवादी हैं।...उसका जीवन दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचंदजी यथार्थवादी नहीं हैं।''[44] वैसे आलोचक नंददुलारे वाजपेयी की इस बात से तो सहमत हुआ जा सकता है कि किसी रचनाकार को उसके जीवन-दर्शन, चरित्र-चित्रण और रचना की मुख्य प्रेरणा की जाँच-पड़तालकर ही उसे समझा जा सकता है। लेकिन मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि साहित्य के निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद जैसी कोई वस्तु नहीं होती। क्या यह संभव है कि कोई

रचनाकार केवल आदर्शवादी हो या फिर केवल यथार्थवादी? क्या प्रेमचन्द के 'गोदान' में किसान जीवन का यथार्थ नहीं अभिव्यक्त हुआ है?

यह सच है कि हिन्दी उपन्यासों में पहले तिलिस्मी, ऐय्यारी और रहस्यपूर्ण तथा उपदेशमूलक तो लिखे गए लेकिन साथ में यथार्थमूलक और यथार्थ की जमीन से उपजे भावनात्मक उपन्यास भी लिखे जाने लगे। हिन्दी में भावनात्मक उपन्यासों पर बंगला के शरतचंद्र के उपन्यासों का प्रभाव दिखाई देता है खासकर धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' पर तो इसका प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है। एक समय में 'गुनाहों का देवता' ने भी पाठकों के बीच बहुत धूम मचाई। सन् 1951 ई. में 'प्रवाह' नामक पत्रिका में राजेन्द्र यादव ने इस पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा, जो बाद में 'अठारह उपन्यास' नामक पुस्तक में भी इसे संकलित किया। जिसमें उन्होंने एक जगह लिखा है ''कथानक साफ-सुथरा, सुष्ठु और संतुलित। यहाँ सबसे बड़ी सफलता भारती को इस बात में मिली है कि उन्होंने घटनाओं और अन्तर्द्वंद्व का सामंजस्य बड़े सुंदर ढंग से किया है, वैज्ञानिक ढंग से गूँथा है।...लेकिन कथानक को सरस, रसात्मक और कलापूर्ण कहकर ही नहीं छोड़ा जा सकता। साहित्य की वह किस परंपरा में आता है, आसपास के किसी अन्य प्रभाव को वह ग्रहण करता है या नहीं, उसकी छानबीन आवश्यक है।''[45] और शायद यही कारण रहा जो उन्होंने चंदर और सुधा के प्रेम में बंगला के 'देवदास' और हिन्दी के अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर और शशि के प्रेम को देखा है। और अंत में इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं '''गुनाहों का देवता' एक घोर व्यक्तिवादी उपन्यास है। यह बात दूसरी है कि व्यक्ति इतना सशक्त और स्वतंत्र नहीं हो पाया है। या तो उपन्यास का कोई पात्र है या स्वयं लेखक। फिर भी व्यक्तिवादी उपन्यास है, क्योंकि उसमें व्यक्ति अपने में सीमित और समाप्त है। उसकी मन:स्थितियों का वर्णन हैं, उसकी भावनाओं के विकास, ह्रास का आकलन है और वह व्यक्ति है-चंद्रकुमार कपूर।''[46] भले ही राजेन्द्र यादव को यह उपन्यास व्यक्तिवादी लगता हो लेकिन यह बात भी उतनी ही सच है कि अज्ञेय के व्यक्तिवाद से बहुत अलग है। क्योंकि अज्ञेय के उच्चवर्गीय शेखर को अपनी क्रांतिकारिता पर अहं है और वहीं मध्यवर्गीय चंदर अपने अहं, अपनी आत्मतुष्टि, अपनी धारणाओं के लिए सुधा की बलि चढ़ा देता। यहाँ पर अगर इलाचंद्र जोशी के व्यक्तिवादी उपन्यास 'सन्यासी' को देखें तो उसका नायक नंदकिशोर तो खुद आत्महीनता का शिकार दिखाई पड़ता है। हाँलाकि बाद में राजेन्द्र यादव खुद चंदर को अहंवादी स्वीकार करते हैं। इन्हीं सारे सवालों से जूझते हुए आलोचक नंददुलारे वाजपेयी अपने लेख 'व्यक्तिवादी उपन्यास' में लिखते हैं ''जिस प्रकार जैनेंद्र के उपन्यास यौन वर्जनाओं के कच्चे उभार की सूचना देते हैं और जिस प्रकार अज्ञेय की कृतियों में आत्मश्रेष्ठता या अहं की भावना का व्याघात बना रहा है, उसी प्रकार इलाचंद्र की औपन्यासिक रचनाओं में निपीड़न, निष्कासन और हत्या आदि की व्यक्तिगत विषाद और आत्मग्लानिजन्य भावनाएं रहा करती हैं।''[47] जिस प्रकार इन तीनों उपन्यासकारों के उपन्यासों में अभिव्यक्त व्यक्तिवादिता अलग-अलग रूप में आयी है उसी प्रकार धर्मवीर भारती के उपन्यास में व्यक्त भावुकतापूर्ण व्यक्तिवादिता इन तीनों से भिन्न दिखाई देती है। क्योंकि मैं समझती हूँ कि

प्रत्येक साहित्यकार या कलाकार का किसी भी चीज को देखने-समझने का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है।

इसी कड़ी में उपन्यासकार जैनेंद्र ने भी प्रेमचंद के 'गोदान' पर 'प्रेमचंद का गोदान : यदि मैं लिखता' नामक लेख लिखा। जो सन् 1953 ई. में आयी उनकी पुस्तक 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' में संकलित है। इसमें उन्होंने अपने-आपको प्रेमचंद जैसे होने में अक्षम माना है। इसीलिए वह ऐसा ही गोदान नहीं लिख सकते। उनका पहला और अंतिम कारण यही लगता है कि वह प्रेमचंद नहीं हैं। इसके अलावा वह मानते हैं कि उनके अन्दर प्रेमचंद जैसा साहस और विस्तार के साथ-साथ उनके पास गोदान जैसी कृति रचने के लिए न तो उस तरह की धारणा में ज्यादा क्षमता है और न ही कल्पना की वैसी सूझ-बूझ ही। वह प्रेमचंद के विस्तार, गहराई, गाँव-शहर की गहन चेतना, लंबे संवाद, पात्रों की अधिकता, झुनिया के जैसी प्रेम-भाषा, शब्द, मुहावरे आदि से अपने आपको अलग पाते हैं। इसके चलते वह प्रेमचंद को भाषा का जादूगर मानते हैं। और तो और वह प्रेमचंद के होरी के बारे में लिखते हैं कि – ''संक्षेप में 'गोदान' में जो होरी निपट भाग्य के सामने अकेला जूझता हुआ फिर भी निरुपाय-सा दिखता है, मैं उसको तो न छूता और ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता। फिर भी भाग्य को किन्हीं तात्कालिक परिस्थितियों अथवा व्यक्तियों से परिभाषा देने का प्रयत्न न करता कि जैसे होरी शिकार हो, शिकारी दूसरे हों। मेरी कोशिश होती...कि सब जैसे शिकार ही हैं और वृथा ही एक-दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं।...वैसा मैं कर सकता तो मानता कि मेरा 'गोदान' सफल है।''[48] इस मत को दखते हुए यह कहना गलत न होगा कि उपन्यासकार जैनेन्द्र को अगर 'गोदान' लिखने का अवसर प्राप्त होता तो वह प्रेमचंद जैसा तो नहीं लिख पाते लेकिन उसे बिल्कुल अपने भाग्यवादी या नियतिवादी दृष्टिकोण के आधार पर लिखने की कोशिश जरूर करते। मेरी समझ से प्रेमचंद जैसा 'गोदान' लिखना हर किसी साहित्यकार के लिए असंभव ही है। क्योंकि इतनी गहराई, विस्तार की इतनी क्षमता हर किसी में होना असंभव ही है। और शायद आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त ने 1969 ई. में 'भारतीय साहित्य के निर्माता प्रेमचंद' में प्रेमचंद के गोदान के बारे में ठीक ही लिखा है '''गोदान' प्रेमचंद लेखक के साहित्यिक जीवन का उत्तंग हिम-शिखर है।...इस उपन्यास में वे जमींदारी और औद्योगिकीकरण, दोनों की ही दुर्व्यवस्था पर आघात करते हैं।...भारतीय उपन्यास के इतिहास में 'गोदान' एक मील-स्तम्भ है। भारत का और कोई लेखक किसान के जीवन को इतने अधिकार से अंकित नहीं कर सका है। प्रेमचंद का पट विशाल है। इसके विस्तार में महाकाव्य का गुण है।''[49] आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त के मत से यह पूरी तरह पुष्ट हो जाता है कि सच में किसी लेखक के साहित्यिक जीवन की शिखर तक पहुँचाने वाली रचना लिखने में भला कोई और लेखक कैसे सफल हो सकता है?

शायद इसीलिए यह मुमकिन है कि 'गोदान' जैसी कृति के महत्व को देखकर ही मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' (1974 ई.) में इसे भारतीय उपन्यास साहित्य के विकास की धुरी माना हो और किसान जीवन को भारतीय यथार्थ। किसान जीवन के बारे में अपने लेख 'भारतीय उपन्यास की भारतीयता' में लिखा है ''भारतीय उपन्यास का स्वतंत्र रूप तब

विकसित हुआ जब उपन्यास रचना के केन्द्र में भारतीय किसान जीवन आया, तभी वह यथार्थवाद विकसित हुआ जो राष्ट्रीय जागरण का अभिन्न अंग था। किसान जीवन से जुड़कर ही भारतीय उपन्यास की सच्ची भारतीयता विकसित हुई और उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन की महागाथा का प्रतिनिधि साहित्य रूप बना। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किसान भारतीय समाज का मेरुदंड पहले भी था और आज भी है।''[50] हाँलाकि ये बात और है कि मैनेजर पाण्डेय के द्वारा कही गई बातों की भी अपनी एक सीमा है और कुछ सवाल भी, कि क्या भारतीय उपन्यास के केन्द्र में केवल किसान जीवन के ही आ जाने से वह भारतीयता को प्राप्त कर सकता है जबकि आधी आबादी (स्त्रियाँ) के साथ-साथ दलित, वेश्याएं आदि भी गायब हैं। अब सवाल है क्या उपन्यास बिना आधी आबादी के सिर्फ किसान जीवन से जोड़कर ही राष्ट्रीय जीवन की महागाथा का प्रतिनिध रूप बन सकता है ? और हमें यह भी देखना पड़ेगा कि मैनेजर पाण्डेय किस राष्ट्रीय जागरण की बात कर रहे हैं, उसमें दलित, स्त्रियाँ कहाँ हैं, और कतने हैं ? यहाँ के दलित, और स्त्रियाँ हजारों सालों से गुलाम रहीं और बहुत हद तक आज भी हैं तब उनकी गुलामी का एहसास तो किसी को न हुआ ? और जब ब्रिटिश साम्राज्य आया, उसके कारण जब कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं गुलाम बने तब उनको गुलामी का एहसास हुआ और उसके लिए चलाए गए आन्दोलन का नाम 'राष्ट्रीय जागरण' दे दिया गया। जबकि आलोचक नामवर सिंह इससे थोड़ा आगे बढ़कर विचार करते हुए अपने व्याख्यान में कहते हैं ''भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग के महागाथा के रूप में नहीं बल्कि किसान जीवन की महागाथा के रूप में हुआ। विकास की कड़ी वहाँ से शुरू होती है।...भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने के मूल में एक तो वह किसान जो उपेक्षित पीड़ित है, जिसे साहित्य में स्थान नहीं मिला था, वह पहली बार नायक बना। हीरो बना। दूसरी ओर वह नारी जो हाशिए पर थी, उपन्यास विधा में समस्त संवेदनाओं का केन्द्र बनी।''[51] जो बाद में आलोचनात्मक लेख के रूप में छपा भी। उन्होंने अपनी इस बात को पुष्ट करने के लिए सन् 1897 में प्रकाशित उड़िया उपन्यासकार का उपन्यास 'छह माण आठ गुंठ' तथा सन् 1899 में रुस्वा हादी का 'उमराव जान अदा' और हिन्दी के प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' को उदाहरण के तौर पर रखा और यह माना कि उपन्यास को भले ही पश्चिमी यूरोप ने पैदा किया हो लेकिन उपन्यास का सर्वोत्तम विकास उन जगहों (रूस, भारत) में हुआ जो पश्चिमी यूरोप की सभ्यता से बाहर थे।

दूसरी तरफ इस दौर के उपन्यास आलोचना में 'अश्क' के उपन्यास 'गर्म-राख' पर भी गंभीर विचार-विमर्श हुआ है। इस उल्लेखनीय कृति पर दो महत्वपूर्ण लेख भी लिखे गए, पहला सन् 1952 ई. में राजेन्द्र यादव के द्वारा और दूसरा आलोचक शिवदान सिंह चौहान के द्वारा। 'आलोचना के मान' में शिवदान सिंह चौहान इस उपन्यास के बारे में चर्चा करते हुए अपने लेख 'अश्क का लाहौर' में लिखते हैं ''अगर लाहौर का चित्र मन में बनाना चाहें तो लगेगा कि लाहौर में केवल छिछोरे, कामुक और स्वार्थी व्यक्ति ही बसते थे, जो ऊपर से चाहे सेवा, त्याग और प्रेम की बातें करते रहे हों लेकिन वास्तव में आडम्बर की आड़ लेकर अपनी स्वार्थसिद्धि में ही निरंतर लगे रहते थे। यह वर्णन लाहौर के स्थानीय हिन्दी लेखकों का यथार्थ चित्रण है या नहीं, यह चाहे विवादास्पद हो लेकिन पंजाब की संस्कृति के केन्द्र

लाहौर का प्रतिनिधि चित्र तो इसे नहीं ही कह सकते।''[52] आलोचक शिवदान सिंह चौहान के इस सवाल को नकारा नहीं जा सकता कि क्या लाहौर में सिर्फ कामुक, छिछोरे और स्वार्थी लोग ही रहते हैं? क्या किसी स्थान विशेष को लेकर ऐसी धारणा एक साहित्यकार के लिए ठीक है? शायद इस दृष्टि से शिवदान सिंह चौहान को 'अश्क' के उपन्यास में लाहौर के उन चित्रों को देखा जो उसकी सम्पूर्णता को व्यक्त कर पाने में अक्षम हैं, अर्थात् अधूरे चित्र ही उभर कर सामने आ पाए हैं। दूसरी तरफ राजेन्द्र यादव ने इनके इस उपन्यास में अभिव्यक्त यथार्थ पर विचार करते हुए लिखा है कि ''अश्क के यथार्थवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है उसका कैमराईपन, अर्थात् सतहीपन, जो अपने साथ दो अनिवार्य परिणामों को लेकर आया है। आवश्यक के भेद की कमजोरी, पात्रों-परिस्थितियों के भीतर देखने की दृष्टि की कमजोरी या यथार्थ की अंतर्धारा का अपरिचय, परिणामत: उस भविष्य के अनिवार्य की पहचान की कमजोरी।''[53] राजेन्द्र यादव की यह बात सच जान पड़ती है कि जीवन और यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए साहित्यकार या कलाकार को उनमें से बड़ी सावधानी से उन बिंबों-कल्पना-चित्रों और आवश्यक अंशों को एक-एककर छाँटना पड़ता है जो उनकी जान होते हैं। तभी अनावश्यक अंशों को छोड़कर के प्रमुख और आवश्यक अंगों द्वारा ही वह एक संपूर्ण यथार्थ के उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। शायद इसीलिए लेखक की दृष्टि के बारे में रैल्फ फॉक्स ने लिखा था जिसे राजेन्द्र यादव ने अपने इस लेख में उद्धृत किया है – ''The Novel cannot find new life, humanism cannot be reborn, until such an outlook has been attained, That outlook today can only be the outlook of dialectical materialism, giving birth in art to a new Socialist Realism.'' ''संसार को देखने और जीवन को समझने के दृष्टिकोण के अभाव में ऐसे व्यक्तित्व की पूर्ण और स्वतंत्र अभिव्यक्ति जरा भी संभव नहीं है।..सही दृष्टिकोण के बिना आज का उपन्यासकार न तो नए जीवन को पा सकता है-और न मानवता का ही उत्थान कर सकता है। और इसे बड़े से बड़े कलावादी ने भी स्वीकार किया है कि आज वह सही दृष्टिकोण है द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण,..यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही कला के क्षेत्र में समाजवादी यथार्थवाद के रूप में आता है।''[54] रैल्फ फॉक्स की इस बात को पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद समाज की जटिलताओं और उसके यथार्थ को बहुत हद तक पकड़ने, समझने में सहायक हो सकता है।

वहीं सन् 1958 ई. में 'धर्मयुग' में राजेन्द्र यादव का लेख ''सुनीता' का पत्र जैनेन्द्र के नाम' पत्र-शैली में लिखा हुआ छपा। जिसमें पहली बार 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' की 'मृणाल' के माध्यम से स्त्री-स्वातंत्र्य तथा उससे जुड़े तमाम सवालों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया। इस आलोचनात्मक लेख में 'सुनीता' ने उपन्यासकार जैनेन्द्र से बहुत सारे प्रश्न किये हैं। यह सच है कि आज भी दुनिया की सारी नैतिकता आधी आबादी के कंधों पर ही ढोने के लिए डाल दी जाती है। अगर कोई स्त्री इस नैतिकता के घेरे को तोड़कर आगे बढ़ जाए तो उसे 'कुल्टा' और 'चरित्रहीनता' जैसे तमगों से नवाज दिया जाता है। आखिर क्यों वह ऐसे पुरुष के साथ पूरी जिन्दगी बिताने को मजबूर हो जो उसे समझ ही ना पा रहा हो...जिसमें उसकी यौन-इच्छाओं को पूर्ण करने की कूबत ही न हो। क्या वह अपनी पसंद-

नापसंद जाहिर नहीं कर सकती? क्या स्त्री की जिंदगी की नियति बनी सदियों से चाहर-दीवारी को तोड़ने की जुर्रत नहीं कर सकती? क्या वह इंसान नहीं? ऐसे ही तमाम सवाल उपन्यासकार जैनेन्द्र से पूछते हुए कहती है कि – ''मुझे लगा मृणाल के रूप में मैं ही मर गई...वह तो हरिप्रसन्न था जो आँखों पर हाथ रखकर भाग गया, वर्ना हो सकता मुझे भी...किसी कोयले वाले से पिट-पिटकर या ग्राहक निहारते हुए जिंदगी की आखिरी घड़ियाँ गिननी होतीं। मैं पूछूँ, क्यों मार दिया आपने मृणाल को यों कुचलकर? वह पढ़ी-लिखी, समझदार और साहसी थी-चाहती तो आत्म-निर्भर होकर सम्मान से जी सकती थी, जीवन को दुबारा प्रारंभ कर सकती थी। क्यों आप हमारे ऊपर यह लादते रहे कि, ''मैं इस घर से टूट जाऊँगी तो जिऊँगी नहीं। मैं इस योग्य नहीं हूँ?'' जब घूम-फिरकर घर ही हमारी नियति है, वह परंपरागत पति ही हमारी गति, या हमारा श्रेय और प्रेय है, तो फिर मन के भीतर पैठकर 'स्वतंत्र-इच्छा' और 'नारीत्व' की खोज की विडम्बना आखिर क्यों है?...क्यों आखिर हमारे विवेक और इच्छा-शक्ति को इतना सशक्त और प्रबुद्ध बनाया जाता है, कि हम पसंद और ना-पसंद कर सकें, चुन और छोड़ सकें और अपने किए की जिम्मेदारी स्वयं समझकर जीवंत प्राणी की तरह नए प्रयोग और नए प्रारंभ कर सकें?''[55] इस तरह 'सुनीता' उपन्यासकार जैनेन्द्र के सामने सवालों की झड़ी लगा देती है और कहती है कि आप मेरी नारी (यौनिक इन्द्रियों) को जगाकर हरिप्रसन्न को दें या चाहे ना दें लेकिन श्रीकांत जैसे असमर्थ पुरुष के साथ जीने को मजबूर ना करें। आखिर यों उसका गला घोंटकर उसी गड्ढे में ढकेलने के लिए उसकी यौनिक इच्छा को क्यों जगाते हैं? 'सुनीता' जैसी स्त्री आखिर क्यों उपन्यासकार जैनेन्द्र की या इस पितृसत्ता के द्वारा बनाई गई मर्यादा और नैतिकता के खादी आवरण को सहन करे? वह क्यों न इन वस्त्रों की जीर्णता को उतार फेंके, उसे अस्वीकार करे और अपनी मुक्ति, स्त्री-मुक्ति को स्वीकार करे?

यह सच है कि उपन्यास साहित्य केवल स्थितियों-परिस्थितियों, भावों-मनोभावों, घातों-प्रतिघातों का संयोजन और कलात्मक निर्वाह भर नहीं है जो किसी रेखकीय संभावना में निष्पन्न हो। उपन्यास साहित्य ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों के संघर्ष औऱ गतिशीलता में से नि:सृत मनुष्य की नियति का अनेकवाची साहित्य रूप है। ऐसे में उपन्यास का अपना एक 'देश' होता है और एक 'काल' भी। इस देश-काल के चरित्रों की रचना उपन्यासकार सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों और जरूरतों के अनुसार करता है। वर्ण्य-विषय का चुनाव और उसके सफल निर्वाह की टेक्निक उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष माना जाता है। साथ ही उपन्यास में कथा और कथानक के सफल निर्वाह के लिए घटनाओं, चरित्रों, संवादों, विषय-जन्य स्थितियों, परिस्थितियों, भावों, मनोभावों, घातों-प्रतिघातों का कुशल संयोजन और सामंजस्य होना चाहिए तभी वह समूचा प्रभाव डाल पाता है। प्रभावपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना कैसे की जानी चाहिए इस पर अपने विचार रखते हुए इतिहासाकार पं. राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं कि – ''ऐतिहासिक उपन्यासकार का एक विवेक वैसा ही होना चाहिए जैसे कि इतिहासकार का होता है। उसे समझना चाहिए कि कौन-सी सामग्री का मूल्य अधिक और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जाएगी जिसे उसी समय लिपिबद्ध किया गया हो।...ऐतिहासिक अनौचित से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का

अच्छी तरह से अध्ययन आवश्यक है, वैसे भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। यह तो बल्कि समसामयिक उपन्यास और कहानी-लेखकों के लिए भी जरूरी है।''[56] पं. राहुल सांकृत्यायन के मत से एक बात साफ हो जाती है कि ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के लिए इतिहास का जानकार होना आवश्यक है बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि सफल ऐतिहासिक उपन्यास के लेखन के लिए इतिहासकार की तरह पारखी नजर का होना जरूरी है। बिना ऐतिहासिक दृष्टि के सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखना असंभव है।

पं. राहुल सांकृत्यायन की बातों को और विस्तार देते हुए सन् 1953 ई. के 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक लेख में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं ''सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाला लेखक वर्तमान की अपेक्षा अतीत को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मान सकता, इसलिए वह सुदूर अतीत से बचता है और ऐतिहासिक व्यक्तियों और इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं का कम-से-कम उपयोग करता है।''[57] यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि पं. राहुल सांकृत्यायन से अलग मत रखते हुए नलिन विलोचन शर्मा ऐतिहासिक उपन्यास के लेखन के लिए अतीत की अपेक्षा वर्तमान को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। दूसरी तरफ आलोचक प्रभाकर माचवे चिंतित हैं कि हिन्दी में सफल ऐतिहासिक उपन्यास की गिनती बहुत कम है, बिल्कुल ना के बराबर। उनका मानना है कि हिन्दी में पहले तो सामाजिक उपन्यास ही लिखे गए थे ऐतिहासिक उपन्यास तो आरंभिक काल में अन्य भाषाओं से अनुदित ही हुए । मौलिक उपन्यासकार तो गिनती में बहुत कम या चार-पाँच ही हैं। उन उपन्यासकारों में वह सबसे पहले निराला के उपन्यास 'प्रभावती' को रखते हैं। बाद में वे राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, रांगेय राघव, चतुरसेन शास्त्री जैसे उपन्यासकारों को रखते हुए इन सबमें गुण और परिमाण दोनों दृष्टिकोणों से सर्वाधिक और अच्छा लिखने वालों में उनको वृन्दावनलाल वर्मा ही नजर आते हैं।

वैसे इतिहास और उपन्यास के पारस्परिक संबंधों पर बहुत बहसें हुई हैं। सर फ्रांसिस पालग्रेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का शत्रु है तो दूसरी ओर कथा साहित्य का। वे यह सोचते हैं कि इतिहास केवल घटनाओं या व्यक्तियों का विवरण है तथा उपन्यास मात्र कल्पना का विलास। वे लोग यह भूल जाते हैं कि इतिहास सारे राग-विराग के साथ अतीत का यथार्थ होता है और उपन्यासकार ऐसे ही यथार्थों को पकड़ने की कोशिश करता है, फिर चाहे वह अतीत का हो या वर्तमान का। अत: उपन्यासाकर का इतिहास के क्षेत्र में जाना किसी मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। क्या कोई इतिहासकार यह दावा कर सकता है कि उसने इतिहास के लिखने या जानने में कल्पना का रंचमात्र भी उपयोग नहीं किया है। यह बात सच है कि इतिहास विवरण देता है और उपन्यास चित्रण करता है। चित्रण में चयन के आन्तरिक मंतव्यों का नैरन्तर्य होता है। इसीलिए देवीशंकर अवस्थी अपने लेख 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक लेख में लिखते हैं ''किसी अप्रमुख पात्र के माध्यम से एक संपूर्ण युग के पुनर्निमाण की पद्धति सर्वाधिक नवीन है।...यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐतिहासिक उपन्यास की बड़ी शक्ति, वातावरण की स्थापना में ही है। वातावरण से मेरा तात्पर्य बाहरी ही नहीं, आंतरिक मंतव्यों

से भी है तथा आंतरिक मंतव्यों तक पहुँचना तभी संभव है जब समाज की द्वंद्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध स्तरों की आंतरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे ।''[58] अत: देवीशंकर अवस्थी की इन बातों को ध्यान से समझने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कितनी महत्वपूर्ण बात कह दी है। कोई भी रचना तभी कालजयी बन पड़ती है जब उसकी रचना समाज के तमाम आंतरिक विचारों, अंतर्विरोधों, उसकी द्वंद्वात्मक गति की तार्किक जानकारी रखते हुए तथा मानवीय चेतना के विविध स्वरूपों को ध्यान में रखकर की गई हो।

आलोचक देवराज उपाध्याय ने अपने लेख 'प्रबंधकाव्य, रोमांस और उपन्यास' में उपन्यास का उद्भव 'रोमांस' से मानते हुए आधुनिक उपन्यास को अराजकता की देन कहा है। साथ ही उपन्यास को अराजक युग के वैयक्तिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला मानते हैं। इस लेख में आलोचना के सिद्धांत के बारे में वे लिखते हैं ''पहले आलोचना के सिद्धांत का वाक्य था 'का भाषा, का संस्करित, भाव चाहिए साँच', पर अब अवस्था बदल गई है। अब भाव के महत्व के दिन लद गए। भाषा अथवा शिल्प का महत्व बढ़ गया है । यदि शिल्पकारिता के अंश प्रौढ़ हैं तो रचना स्वीकृत हो जाएगी, आदरणीय होगी।...आज की दुनिया के पास किसी रचना के मूल्यांकन के लिए एक कसौटी है अर्थात् 'टेक्निकल स्टैंडर्ड' ।...अत: साहित्यकार भी उसे तकनीक की उत्तमता ही प्रदान करेगा। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप' की चाहे किसी ने कुछ भी निंदा की हो पर उनकी तकनीक के तो सभी कायल हैं।''[59] आलोचक देवराज उपाध्याय की इन बातों से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता कि सन् 1954 ई. के समय की आलोचना में कोई कृति तभी आदरणीय और स्वीकृत मानी जाती थी जिसकी भाषा तथा शिल्प ही बहुत प्रौढ़ हो, उसका कथ्य और भाव नहीं। ऐसे अगर देखें तो क्या 'गोदान' और 'त्यागपत्र' जैसे उपन्यास जो हिन्दी की महान कृतियाँ मानी जाती हैं क्या उनमें सिर्फ शिल्प और भाषा ही प्रौढ़ है कथ्य तथा भाव नहीं? क्या यह सच नहीं कि ये दोनों कृतियाँ उपन्यास धाराओं के परिवर्तन की प्रस्थान बिन्दु साबित हुई हैं? क्या इन कृतियों ने लेखकों को नई दृष्टियाँ नहीं दीं? क्या 'होरी' और 'मृणाल' जैसे पात्रों का महत्व सिर्फ कृति के भाषा और शिल्प के कारण माना जाता है? और तो और जबकि इसी समय राहुल सांकृत्यायन, गुलाब राय, अज्ञेय, मोहन राकेश, प्रेमशंकर आदि लोगों ने उपन्यास पर आलोचनात्मक लेख लिखते समय रूप-विधान, शिल्प, भाषा के साथ-साथ उपन्यास के कथ्य, भाव, विषय, पात्र, घटना चरित्र, चित्रण आदि जैसे महत्वपूर्ण तत्वों पर भी विचार किया तथा दूसरी तरफ जैनेन्द्र ने 'प्रमेचंद का गोदान : यदि मैं लिखता' लेख लिखकर उसके महत्व को रेखांकित किया। अब अगर इन सारे तथ्यों को नजरअंदाज कर भी दिया जाय और केवल 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' की ही बात करें तो सवाल उठता है कि क्या इस उपन्यास में सिर्फ शिल्प और भाषा ही महत्वपूर्ण है। इसके कथ्य में कोई नवीनता नहीं दिखाई देती? जबकि इस उपन्यास में तत्कालीन समाज की कथित नैतिकता के विरुद्ध एक विद्रोह भी दिखाई देता है। भले ही शेखर जैसे 'विशेष व्यक्ति' समाज में कम मिलते हों। खैर 'व्यक्तिवादी' उपन्यासों पर इस तरह के आरोप लगाए जाते रहे हैं। शायद इसी तरह के आरोपों को देखते हुए नंददुलारे वाजपेयी अपने लेख 'व्यक्तिवादी उपन्यास' में लिखा है कि – ''यह भी

समझ रखना चाहिए कि कला और शैली का सौंदर्य तथा भावना और संस्कारों का परिष्कृत और उदात्त स्वरूप व्यक्तिवादी उपन्यासों में उतनी प्रचुरता से पाया जा सकता है, जितनी किसी अन्य प्रकार या शैली के उपन्यास में। अतएव हिन्दी के इन व्यक्तिवादी कलाकारों और उनकी कृतियों की उत्तरोत्तर प्रौढ़ता और उपयोगिता के संबंध में आशा छोड़ने का कोई कारण नहीं है।''[60] यहाँ पर नंददुलारे वाजपेयी की इन बातों को पढ़कर यह बताने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती कि व्यक्तिवादी उपन्यासों का उपन्यास साहित्य में आखिर क्या महत्व है?

इस प्रकार इस काल में उपन्यास के आलोचना के स्वरूप पर लिखे गए आलोचनात्मक लेखों में उपन्यास के प्रमुख अंगों-प्रत्यंगों जैसे – उसके रूप विधान, शिल्प, भाषा, कथ्य, भाव, विषय, पात्र, घटना, कार्य-व्यापार, क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं, देश-काल, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण आदि पर खूब बहस व चर्चा दिखाई देती है। यही कारण है कि निबंधकार व उपन्यासकार रघुवंश भी अपने आलोचनात्मक लेख 'उपन्यास' नाम से लिखते समय उपन्यास के इन महत्वपूर्ण तत्त्वों पर बिना विचार किए आगे नहीं बढ़ पाते हैं। आलोचक रघुवंश उपन्यास के विकास का आधार रोमांस मानते हुए उपन्यास के प्रमुख तत्त्वों पर विस्तार से चर्चा करते हैं। इसी क्रम में वह उपन्यासों की प्रवृतियों पर भी विचार करते हुए लिखते हैं ''औपन्यासिक रूप-विधान के प्रकार-भेद व्यक्ति और समाज के नानाविध संबंध के आधार पर किये गए हैं। इस प्रकार व्यक्ति के आंतरिक मन की प्रक्रिया और उससे संबंधित रचना-प्रक्रिया के अंतर्वती संबंध के दृष्टि से भी उसके रूप स्वीकार किये गए हैं।...पहले के उपन्यास साहसिक रोमांसपरक प्रेम कथाओं के रूप में लिखे गए हैं।...एक दृष्टि उपन्यासों के वर्गीकरण की, तत्त्व के आधार की रही है, घटना-प्रधान, चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान आदि इतिहास के इत्तिवृत्तों के आधार पर रचे उपन्यास ऐतिहासिक माने गए, और इसी प्रकार व्यापक समस्याओं अथवा सामाजिक जीवन-क्रम पर आधारित सामाजिक उपन्यास स्वीकार किये गये। क्षेत्र विशेष के जीवन को अंकित करने वाले आँचालिक उपन्यास हैं। जिन उपन्यासों के विधान में पात्रों के चरित्र का विकास और चित्रण उनकी मानसिक स्थितियों और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव-स्थितियों के आधार पर किया गया है। उन्हें मनोवैज्ञानिक कहते हैं।''[61] अत: इस प्रकार जो उपन्यास आलोचना, उपन्यास के दायित्व क्या होने चाहिए? जैसे सवालों के इर्द-गिर्द घूम रही थी उसे आलोचक रघुवंश ने थोड़ा आगे बढ़ाया। उपन्यास कितने तरह के लिखे गए, उसकी अलग-अलग मुख्य विशेषताओं को बतलाते हुए अब उसकी प्रवृत्तियाँ भी आलोचना के केन्द्र में दिखने लगीं। और नंददुलारे वाजपेयी ने तो सन् 1965 में 'आंचलिक उपन्यास' के नाम से एक स्वतंत्र लेख ही लिख दिया। जिसमें उन्होंने आंचलिक उपन्यासों के बारे में विचार करते हुए लिखा है ''सीमित क्षेत्रों और ग्रामीण अंचलों की जीवन-चर्या को लेकर आंचलिक उपन्यास का आविर्भाव हुआ। इन आंचलिक उपन्यासों को हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों के अग्रिम विकास की कड़ी मानना ही ठीक होगा। आंचलिक उपन्यास मूलत: यथार्थवाद से संबंद्ध है।...एक गतिहीन समाज और सामाजिक जीवन को मानव-गतिविधि की नई दिशाओं में परिचित कराने के कारण आंचलिक उपन्यास अधिक प्रगतिशील और मूल्यवान कहे जा सकते हैं।''[62] इस तरह आलोचक नंददुलारे वाजपेयी आंचलिक उपन्यासों को

परिभाषित करते हुए उन्हें यथार्थवादी उपन्यासों के विकास की अगली कड़ी मानते हैं। और साथ ही जिस तरह आलोचक रघुवंश ने आंचलिकता को उपन्यासों की एक प्रवृत्ति के रूप में देखा था नंददुलारे वाजपेयी ने इस प्रवृत्ति को ना सिर्फ परिभाषित किया बल्कि उसे मूल्यवान बताया। इससे पहले उपन्यासों की एक प्रवृत्ति 'ऐतिहासिकता' पर तो बहुत सारे आलोचकों ने लेख लिखे परन्तु आँचलिक, सामाजिक, मनोविश्लेषणात्मक, जैसी प्रवृत्तियों पर अभी तक कोई चर्चा नहीं हुई थी। इस कमी को आलोचक रघुवंश पूरा करते हुए दिखाई देते हैं।

पुराने सामन्ती और प्रजातांत्रिक समाजों में ईश्वर, ईशपुत्र, देवदूतों, राजाओं तथा चरित नायकों या नायिकाओं को केन्द्र बनाकार जिन चरित काव्यों या महाकाव्यों की रचना हुई थी, रेनेसाँ के बाद उनकी जगह उपन्यास ने ले ली। और तो और इसी तर्क पर उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाता है। ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक रूपों तथा संरचनाओं में आए परिवर्तन के कारण साहित्य के अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन या नवीनता आई। उपन्यास इसी नवीन रूपगत संरचना की अभिव्यक्ति बनकर आया। और यह कहना सही ही होगा कि ऐसे कारणों से उपन्यास साहित्य के रूप में भी परिवर्तन आया। इस कड़ी में कुछ एक ऐसे भी लेख लिखे गए जो उपन्यास के स्वरूप, कला, स्वभाव, कथावस्तु, उसके मूल तत्वों को, उसके निर्माण पद्धति आदि को देखते हुए अलग-अलग प्रवृत्ति के विविधता को लक्ष्य किया है। उन आलोचकों में से रामअवध द्विवेदी भी एक हैं। उन्होंने सन् 1954 ई. में अपने लेख 'उपन्यास के उपकरण' में लिखा है ''बनावट एवं स्वरूप की दृष्टि से भेद करने पर कुछ ऐसे उपन्यास मिलते हैं जो अत्यन्त सुगठित होते हैं, और कुछ अन्य ऐसे जिनके विभिन्न अवयव एक-दूसरे से केवल ढीली तरह जुड़े होते हैं। हम यहाँ उपन्यासों का विभाजन नहीं करना चाहते, केवल उनकी विविधता की ओर ध्यान आकृष्ट कराना ही हमारा लक्ष्य है। वास्तविक जीवन के अत्यधिक निकट होने के कारण ही उपन्यास में इतनी विविधता का समावेश हो सकता है और इसी में उसकी विशेषता तथा गौरव है।''[63] आलोचक रामअवध द्विवेदी के इस मत के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि वे भी उपन्यासों को यथार्थपूर्ण जीवन या वास्तविक जीवन से संबंधित ही पाते हैं तभी तो उसके स्वरूप के बदलाव को वास्तविक जीवन से जोड़कर देखते हैं।

हिन्दी में ही नहीं बल्कि पूरे उपन्यास साहित्य में ही उपन्यास और यथार्थ पर बहुत सारी बहसें हुई हैं। उपन्यास में यथार्थ कैसे आना चाहिए? कितना आना चाहिए? उसका कैसे और कैसा चित्रण करना चाहिए? कल्पना और यथार्थ का किस तरह संबंध होना चाहिए? आदर्श और यथार्थ का उपन्यास में किस तरह उपयोग करना चाहिए, जिससे रचना का महत्व बढ़ सके? आदि-आदि। कुल मिलाकर उपन्यास का यथार्थ से बहुत घनिष्ट संबंध रहा है। उपन्यास की यथार्थता पर विचार करते हुए महान नाटककार मोहन राकेश ने अपने 'उपन्यास और यथार्थ चित्रण' नामक लेख में लिखा है ''वह उपन्यास तभी होगा जब उसके पात्रों द्वारा कहा गया एक-एक शब्द उनके जीवन की परिस्थितियों द्वारा उन्हें विवश करके कहलाया गया हो। तभी उसमें हम यथार्थ की शक्ति का परिचय पा सकते हैं।...मानव में आदर्श भाव का होना यथार्थ है। एक आदर्शवादी चरित्र का सन्तुलित चित्रण उसे अयथार्थ नहीं होने देता। वह

यथार्थ तब हो जाता है जब चरित्र में नहीं, चित्रण में आदर्श का पुट आ जाता है। चित्रण की भावुकता चरित्र की भावुकता से अलग चीज है। 'गोदान' में आकर प्रेमचन्द की दृष्टि उतनी भावुक नहीं रही। वहाँ उनकी दृष्टि ने यथार्थ को उसके अधिक सत्य के रूप में देखा है।''[64] यह कहना गलत न होगा कि मोहन राकेश चरित्र की भावुकता को चित्रण की भावुकता को अलग-अलग मानते हुए उपन्यास के चरित्र से ज्यादा चित्रण को महत्वपूर्ण माना है। अब सवाल ये उठते हैं कि क्या उपन्यास में सिर्फ चित्रण ही महत्वपूर्ण होता है? पात्र, चरित्र, घटनाएं, उनकी मनोदशाएं, विचार आदि महत्व नहीं रखते? अगर ऐसा है तो क्या 'गोदान' में होरी, धनिया, गोबर जैसे पात्रों की महत्ता नहीं है? क्या यह सच नहीं कि प्रेमचन्द ने होरी के माध्यम से पूरे उत्तर भारत के किसानों की बदहाली की कथा कही है? और क्या यह सब बिना होरी, धनिया जैसे पात्रों के संभव था? आदि जैसे महत्वपूर्ण सवालों पर शायद मोहन राकेश ने सोचना उचित नहीं समझा। वहीं आलोचक और निबंधकार देवराज उपन्यास के धरातल की बात करते हुए लिखते हैं कि – ''उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करता है जिनसे वह सुपरिचित है। आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथा-वस्तु थोड़ी ही रहती है, अपेक्षाकृत छोटी कथा-वस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्त्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओं में कथावस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियों का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक।...प्रेमचन्द का देश के बहुत-से वर्गों तथा विभिन्न कोटि के मनुष्यों से परिचय है, किन्तु सच यह है कि वे बहुत कम पात्रों का मार्मिक एवं गंभीर चित्रण कर सके हैं। उनके उपन्यासों में 'गोदान' ही आधुनिक उपन्यास के विकसित धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है।''[65] यह कहना उचित ही होगा कि आलोचक देवराज भी उपन्यास के यथार्थ चित्रण पर जोर देते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि जब उपन्यासकार सुपरिचित यथार्थ चित्रण करता है तो वह बनावटी नहीं लगता है। और साथ ही छोटी कथावस्तु में भी वह जीवन के तमाम तत्वों तथा स्थितियों का मार्मिक एवं गंभीर विश्लेषण कर पाता है।

भारतीय समाज में उपन्यास साहित्य के उदय काल से लेकर लगभग बीस-पच्चीस वर्षों तक उपन्यास का पढ़ना शिक्षित वर्ग में विलास के अन्य बहुत से साधनों में से एक माना जाता था। उपन्यास का पठन-पाठन शिक्षित तथा अर्द्ध-शिक्षित धनिक वर्ग में अधिक प्रचलित भी था क्योंकि इस शौक को पूरा करने के लिए उनके पास अधिक मात्रा में समय और साधन दोनों ही थे। यदि हिन्दी साहित्य के प्रसंग में हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के सामाजिक इतिहास का थोड़ा अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट पता चलता है कि जिस कालावधि की मैं चर्चा कर रही हूँ, उस काल में उपन्यासों का पठन-पाठन युवकों तथा अर्द्ध-युवकों के लिए प्राय: वर्जित था। उपन्यास पढ़ने तथा समझने का अधिकार अधेड़ उम्र के व्यक्तियों को ही अधिक था, क्योंकि यह माना जाता है कि ऐसे उम्र के व्यक्तियों का मानसिक स्तर प्रौढ़ एवं परिष्कृत हो चुका होता है। युवकों तथा अर्द्ध-युवकों को उपन्यास पढ़ने से वर्जित इसलिए रखा जाता था कि उपन्यासों में अंकित जीवन का सर्वतोन्मुखी तथा यथातथ्य चित्रण कहीं उनके अपरिपक्व मन पर बुरा प्रभाव न डालें। इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास के प्रारंभिक काल में ही, साहित्य के इस माध्यम की गहरी प्रभावशीलता का उस समय की जनता ने मन-ही-मन भली प्रकार अनुभव कर लिया था

। प्रभावशीलता के साथ-साथ दायित्व की भावना भी सम्बद्ध होती है । साहित्य के जिस माध्यम द्वारा पाठक, श्रोता अथवा दर्शक पर सबसे अधिक प्रभाव होता है, मैं समझती हूँ उसी अनुपात से समाज के प्रति उसका दायित्व भी सबसे अधिक होता है । इस दृष्टि से साहित्य की अन्य किसी भी विधा की अपेक्षा उपन्यास का दायित्व भी सबसे अधिक होता है, साथ ही यह दायित्व बहुरूपी तथा बहुमुखी भी छोटा है। यह सच है कि उपन्यास को एक शक्ति-संपन्न लेकिन खतरनाक माध्यम तो पहले ही मान लिया गया था पर उसकी शक्ति के श्रेयस्कर प्रभावों को बाद में पहचाना गया तथा उन्हें स्वीकृति भी मिली । इसीलिए समकालीन साहित्यिक विधाओं में उपन्यास की महत्ता बहुत अधिक है । समाज में उपन्यास साहित्य के दायित्व क्या होने चाहिए? किन दायित्वों के निर्वाह करने से उपन्यास भेद-भावरहित समाज के निर्माण में अपना योगदान ज्यादा दे सकता है? आदि प्रश्नों से जूझते हुए इतिहासकार रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि – ''व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता है ।...वैसे तो सारे-का-सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव-मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है । दलित मानवता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना तथा उसकी समस्याओं और समाधानों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना उपन्यास का चरम ध्येय है ।...इसी प्रकार उपन्यासकार का भी दायित्व होता है, जीवन के बिखरावों में से एक भावनात्मक सामंजस्य को ढूँढ निकालना ।...किसी भी विचारधारा को समाज के मन से निकालने या उसकी चेतना में अज्ञात रूप से प्रविष्ट कराने का कार्य उपन्यास ही भली-भाँति कर सकता है ।...किसी भी गम्भीर सामाजिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति को आगे बढ़ाने में उपन्यास का माध्यम एक अत्यन्त सशक्त माध्यम है ।''[66] रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह बात सच है कि समाज में परिवर्तन के लिए, हाशिए के समाज की समस्याओं को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने के लिए जितना उपन्यास साहित्य एक सशक्त माध्यम हो सकता है उतना कोई और साहित्य नहीं । इसका एक कारण यह भी है कि उपन्यास में जिस तरह समाज की गहरी छवि या समाज के अन्तर्विरोध आते हैं उतना किसी और विधा में नहीं आ पाते ।

जहाँ एक तरफ उपन्यास कैसा होना चाहिए? उसमें कितना यथार्थ होना चाहिए और कितना आदर्श? उपन्यास के दायित्व क्या हैं? और क्या होने चाहिए? उपन्यास में सबसे ज्यादा महत्व चरित्र रखता है या चित्रण? उपन्यास की जमीन कहाँ से विकसित होनी चाहिए? उसमें पात्रों के बीच संवाद की स्थति कैसी होनी चाहिए, जिससे वह बनावटी ना लगे? आदि पर बहसें हो रही थीं । वहीं दूसरी तरफ हिन्दी के आलोचक प्रेमशंकर का 'आलोचना' पत्रिका में सन् 1954 ई. में 'लघु उपन्यास' नामक लेख लिखकर बहस में एक नया सवाल जोड़ दिया कि महान या बड़ा उपन्यास ही नहीं बल्कि लघु उपन्यास ज्यादा प्रभावशाली होता है । उन्होंने लघु उपन्यास के बारे में चर्चा करते हुए लिखा है कि – ''लघु उपन्यास एक-दो प्रश्नों को लेकर चलते हैं...बात यह है कि समाज के अनेक प्रश्नों, असंख्य समस्याओं और सभ्यता के साथ बढ़ जाने की अनगिनत जटिलताओं को किसी एक ही बृहद उपन्यास में प्रस्तुत कर देना किसी एक कथाकार के बूते का काम नहीं है । यदि महान लेखक भी आज के जटिल समाज में इस

प्रकार का प्रयास करना चाहे, तो वह चलती नजर डालने के अतिरिक्त कुछ न कर पाएगा। वह उपन्यास एक चार्ट अथवा डाइरेक्टरी बनकर रह जाएगा।...बृहद उपन्यास में दूरी देखने को मिल जाती है, पर लघु उपन्यास के लिए गहराई (intensity) आवश्यक है।''[67] साथ ही आलोचक ने उदाहरण के तौर पर रूस के आधुनिक उपन्यासों का हवाला दिया है तथा इसी दृष्टिकोण के चलते आलोचक को प्रेमचन्द की 'गोदान' जैसी कृति में भी अधिक विस्तार और अनेक पात्र तथा घटनाएं निरर्थक लगती हैं। अब यहाँ सवाल यह उठते हैं कि क्या 'गोदान' जैसी कृति जो हिन्दी उपन्यासों के इतिहास की पूरी धारा को ही बदलने का साहस रखती है, जो अपने कलेवर में पूरे उत्तर भारत के किसानों तथा ग्रामीण परिवेश की परिस्थितियों को बड़ी सिद्दत से बयाँ करती है, क्या वह कृति एक 'चार्ट' और 'डाइरेक्टरी' बनकर रह गयी है? क्या वह हिन्दी उपन्यास की कालजयी कृति नहीं है? क्या इसमें पाठकों को प्रभावित करने वाली गहराई नहीं दिखाई देती? मुझे लगता है कि आलोचक को इन सारे सवालों पर भी सोचने की जरूरत थी।

उपन्यास आलोचना के उपरोक्त स्वरूप को देखकर यहा कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के छठे दशक के मध्य तक आते-आते उपन्यास आलोचना एक मुकम्मल रूप ग्रहण कर चुकी थी । इस कड़ी में 'अधूरे साक्षात्कार' पुस्तक देखी जा सकती है। नेमिचंद्र जैन ने अपनी इस पुस्तक में चर्चित या कालजयी माने गए उपन्यासों पर बहुत ही गंभीर विचार प्रस्तुत किया है। नेमिचन्द्र जैन ने अपनी इस पुस्तक में मूल रूप से यह स्थापना दी है कि ''अपनी समस्त विविधता और क्षमता तथा उपलब्धि के बावजूद, समग्र रूप से आधुनिक हिन्दी उपन्यास यही प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है कि हमारे लेखक जीवन का सामना पूरा और अन्त तक नहीं करते। इसीलिए इतनी सारी कृतियों में प्रस्तुत सत्य के साथ विभिन्न साक्षात्कार अन्ततः अपर्याप्त और अधूरे रह गये हैं – अनुभूति की गहराई की दृष्टि से भी और कलात्मक-सौन्दर्यमूलक सम्पूर्णता की दृष्टि से भी।''[68] नेमिचन्द्र जैन की इस स्थापना से एक प्रश्न उठता है कि क्या एक महत्वपूर्ण और मुकम्मल रचना वह है जो महज सम्पूर्ण जीवन का ब्यौरा प्रस्तुत करने में समर्थ है लेकिन जीवन जिस सत्य के आधार पर नियंत्रित हो रहा है उस सत्य को पकड़ने में असमर्थ? या फिर वह रचना महत्वपूर्ण है जो पूरे जीवन का ब्यौरा तो प्रस्तुत करने में असमर्थ है लेकिन जीवन जिस सत्य के आधार पर नियंत्रित हो रहा है उस सत्य को पकड़ने में समर्थ है? मेरी समझ से वह रचना महत्वपूर्ण होगी जो बारीकी से जीवन के उस सत्य को पकड़ने में सक्षम है जिससे जीवन नियंत्रित हो रहा है। इसके अलावा एक उपन्यास अपने अन्दर समाज के किस हिस्से के जीवन के सत्य को तथा जीवन के उस सत्य को नियंत्रित करने वाले सत्य को किस प्रकार अभिव्यक्त कर रहा है क्या ये महत्व नहीं रखता?

और शायद यही वजह है जिसके चलते आलोचक नेमिचंद्र जैन 'मैला आँचल' जैसे उपन्यास के बारे में लिखते हुए यह स्थापना दे देते हैं ''मौलिक भाववस्तु के प्रति लेखक के दृष्टिकोण से हटकर यदि हम समूची कृति पर विचार करें, तो लगता है कि कुल मिलाकर उसमें नये निर्झर की निर्मल स्वच्छता और चमक तो है, पर जीवन की गहराई नहीं है। 'मैला आँचल' का एक भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे 'क्लासिक' कहा जा सके, जिसमें होरी, धनिया, शेखर, मृणाल, राजा रामनाथ, ताई की भाँति भारतीय जीवन के किसी-न-किसी अंश का प्रतीक बनने की क्षमता हो।...जितना जीवन की गति का तीव्रता का

आभास 'मैला आँचल' में होता है, उतना उसकी गंभीरता और स्थिरता का नहीं।...कुल मिलाकर जो बात भावस्तु के बारे में कही गई है वही इस उपन्यास के शिल्प के बारे में भी सही है।... विलक्षणता के बावजूद, शिल्प में प्रयोगात्मकता अधिक है और कोई प्रभाव टिकने नहीं पाता।''[69] नेमिचंद्र जैन के इस मत को पढ़कर मुझे आलोचक राजेन्द्र यादव की बात याद आ गई। और यह कोई इत्तेफाक नहीं हो सकता कि नेमिचन्द्र जैन जैसे आलोचकों की उपन्यासों के प्रति इन स्थापनाओं को देखकर ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'अठारह उपन्यास' में आलोचना की हो। उन्होंने उपन्यास समीक्षा पर चर्चा करते हुए अपनी पुस्तक में 'औजारों की तलाश' नामक भूमिका में लिखा है कि –''एक और वर्ग है जो अधिक संवेदना और अंतर्दृष्टि के साथ रचना को समझना चाहता है, मगर हमेशा ही उसका यह साक्षात्कार अधूरा रह जाता है। शुद्ध अपनी पसन्द और मन:स्थिति रचना की कसौटी बनती है।...'जिंदगी की सचाईयों' या 'जनजीवन की पकड़' वाली समीक्षाओं का आग्रह सिर्फ उतनी ही जिंदगी के लिए होता है जो समीक्षक चाहता है...'जिंदगी की सचाई' इस समीक्षक के लिए दुधारा तर्क बनकर आती है : उसके न होने का फतवा देकर रचना को दो कौड़ी का बताया जा सकता है और होने की दुहाई देकर महान सिद्ध कर दिया जाता है।...इसमें 'समीक्षक' अपने अंदर झाँकने या प्रश्न करने की जरूरत बिल्कुल नहीं महसूस करता कि जिस जिंदगी की सूचना उसे है, उससे अलग और बाहर भी कहीं कुछ है।''[70] आलोचक राजेन्द्र यादव की इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि एक गंभीर आलोचक का काम रचना या कृति में अपने मनपसंद चीजें खोजना और उसके ना मिलने पर सिर्फ फतवा जारी कर देना ही नहीं होता है बल्कि उस कृति में जो कुछ भी मौजूद है उसकी अच्छे से जाँच-पड़ताल कर उसके महत्व को रेखांकित करना भी होता है।

इसके अलावा अगर हम रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास को ही उदाहरण के तौर पर ले लें तो सवाल उठता है कि क्या फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' जैसा उपन्यास जो अपने कलेवर में वहाँ के एक अंचल के रूप में स्त्री-पुरुष संबंधों, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश को समेटे हुए है क्या वह इन पक्षों के सत्य को नहीं उजागर कर पाता? और तो और 'मैला आँचल' का काल खंड आजादी के एक दशक पूर्व से लेकर बाद के कुछ वर्षों तक का है। 'मैला आँचल' में देहाती जीवन का बहुत गहरा अध्ययन दिखाई देता है। उपन्यास को पढ़कर कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि उपन्यासकार का देहाती जीवन से घनिष्ट परिचय नहीं है। इसी कारण से उपन्यासकार ने विक्षुब्ध जिंदगी के बहुत सारे स्तर, बहुत सारे पर्त, बहुत सारे पहलुओं को प्रस्तुत कर सका है। परिचय की घनिष्टता से भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है वह दृष्टिबिन्दु, जिसके कारण जीवन एक नये गति-सूत्र से बँधा, खिंचता और बदलता हुआ नजर आता है। सारे सामाजिक संबंध एक नये परिप्रेक्ष्य में दिखाई पड़ते हैं, टूटते हैं, बनते हैं, बिगड़ते हैं, टूटते हैं और फिर बनते हैं। 'मैला आँचल' में जीवन अपने मौलिक, सहज-प्रवाही रूप में विद्यमान दिखाई देता है। इसी से इसमें इतना रस है, इतना संगीत और कवित्व है, इतनी तीव्रता और इतना दर्द है। मठ पर नये महन्त को चादर मिलने का आयोजन, बिदापति नाच, होली का उत्सव और उस अवसर पर डॉक्टर प्रशान्त तथा कमली का परस्पर एक-दूसरे से आत्मप्रकटीकरण, अपनी माँ को याद करते-करते डॉक्टर का

आत्मविश्लेषण, संथालों का मेरीगंज के अन्य निवासियों से संघर्ष, बावनदास की मृत्यु आदि ऐसे तमाम अनगिनत स्थल हैं इस उपन्यास में, जिनमें सौन्दर्यबोधमूलक संयम और अकृत्रिम सहज भावावेश का ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण है जो सदा मर्मस्पर्शी कला को जन्म देता प्रतीत होता है। और क्या इन स्थलों के चित्रण में उपन्यासकार सरसता और शक्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति और व्यापक सहानुभूति के नये मान उपस्थित करने में सफल हुआ नहीं दिखाई देता है?

वहीं दूसरी तरफ अगर 'मैला आँचल' के राजनीतिक पक्ष को देखें जो इसके अधिकतर पात्रों के जीवन में रची-बसी हुई है, उनकी पूरी जिंदगी ही मानो राजनीति से ही चलती और रुकती है। उसकी एक झलकी देखें ते पाएंगे कि आज का बिहार, मंडल के बाद का बिहार, सामाजिक न्याय व जाति-चेतना से ओत-प्रोत बिहार एवं मध्यवर्गीय जातियों के राजनीतिक उभार का बिहार भले ही कुछ लोगों को यह इतिहास का अव्यवस्थितक्रम नजर आता हो, लेकिन सन् 1954 ई. में प्रकाशित फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' तो इस बिहार का कालपात्र सरीखा लगता है। 'मैला आँचल' का मेरीगंज बिहार का ही नहीं बल्कि उत्तर भारत का प्रतिनिधि गाँव है। और तो और समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे ने तो 'मैला आँचल' में चित्रित गाँव के बारे विचार करते हुए कहा है ''रेणु के उपन्यास समाज वैज्ञानिक दस्तावेज नहीं हैं, पर ग्रामीण जीवन को जिस सूक्ष्मता से उन्होंने देखा है, बहुत से समाजशास्त्रियों के लिए कठिन है।''[71] मेरीगंज गाँव में 'बारहों बरन' के लोग रहते हैं यानि कि रेणु के ही शब्दों में ''गाँव में प्रमुख तीन दल हैं। कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हैं।...यादवों का दल नया है। इसके मुखिया राम खेलावन यादव को दस बरस पहले तक लोगों ने भैंस चराते देखा है।...खेलावन सिंह यादव को लोग नया मातबर कहते हैं, लेकिन यादव क्षत्रिय टोली को अब 'गुअर टोली' कहने की हिम्मत कोई नहीं करता।...''[72] लेकिन वर्णाश्रम में बँटे भारतीय समाज में मध्य जातियों की ऊर्ध्वगामी गतिशीलता की सहज स्वीकृति कैसे संभव है? इसीलिए तहसीलदार के बेटे हरगौरी सिंह का क्रोध स्वाभाविक है कि '...ग्वाला होकर लीडरी...?'

मैं समझती हूँ कि यही है सामाजिक न्याय की अवधारणा की पृष्ठभूमि जो जाति-भेद को जाति-चेतना में रूपान्तरित करती हुई मंडल को एक कवच के रूप में इस्तेमाल करती है। लेकिन मंडल के कवच का भेदन आज जिस राम मंदिर कार्ड से हो रहा है उसे फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आँचल' में अर्धशताब्दी पूर्व ही ढूँढ लिया था। मध्य जातियों के उभार को रोकने के लिए सवर्ण कही जाने वाली उच्च जातियों की एकता की रणनीति किस प्रकार राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ का आश्रय लेती है, इसका खुलासा भी रेणु ने 'मैला आँचल' में किया है। इस उदाहरण से एक बात तो साफ हो जाती है कि जिस प्रकार रेणु ने उपन्यास 'मैला आँचल' में अपनी पारखी नजरों से बिहार के राजनीति जीवन के पूर्ण सत्य को उजागर करते हुए भविष्य की तरफ संकेत किया है, वह गौर करने के लायक है। वह लिखते हैं कि – ''हरगौरी ठीक कहता था-यदि यही हालत रही तो पाँच साल बाद ग्वाले बेटी माँगेंगे। तब काली कुर्तीवालों के बारे में जो हरगौरी कहता था, उन लोगों को बुला लिया जाए लाठी-भाला सिखाने वाला

मास्टर आवेगा। संजोजक जी या सनचालक जी, क्या कहता था, सो आवेंगे।...उनके टोले में कटिहार से काली टोपी वाला दल के संजोजक जी आए हैं। लाठी-भाला टरैनि देते हैं। छोटी जाति के लोगों की सभा में वो नहीं जा सकते।...''[73] यह सब आज सच होता दिखाई दे रहा है। इस तरह से 'मैला आँचल' एक राजनीति जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में देखाई देता है, जो पात्रों के व्यक्तित्व को और भी उभारता है तथा चारों ओर से घेरकर उनका गला नहीं घोंटती। इस उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक मतवाद, पार्टियाँ, संगठन, समस्याएँ यथास्थान मौजूद हैं, और ये सभी मिलकर विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्वों के नये पक्षों के सच को उजागर करती हैं तथा उन्हें एक ठोस भौतिक आधार प्रदान करती है, उनके सुख-दुख और आशाओं-विश्वासों को, उनकी मान्यताओं और मर्यादाओं को वास्तविकता का एक नया आयाम प्रदान करती हुई दिखाई देती है। रेणु के इस राजनीति जीवन की गहरी अनुभूति तथा उसे पात्रों की जिंदगी में रचाते-बसाते हुए उसके प्रत्येक पक्ष को बड़े ही कलात्मक ढंग से बयां करने की शैली को देखकर नहीं लगता कि वह पाठक को अनुभूति की गहराई और कलात्मक-सौन्दर्यमूलक सम्पूर्णता की दृष्टि से अधूरा साक्षात्कार कराते हैं।

उपन्यास आलोचना के क्षेत्र में हंस के सम्पादक राजेन्द्र यादव का भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'अठारह उपन्यास' नामक आलोचनात्मक कृति उस दौर में लिखी जिस दौर में कुछ एक आलोचनात्मक लेखों को छोड़कर आलोचक उपन्यास आलोचना के नाम पर उसका कथासार लिखकर प्रशंसा-भर्त्सना कर दिया करते थे। साथ ही उन्होंने तो अपनी भूमिका में आलोचना की गंभीरतापूर्ण दो-तीन प्रणालियों पर विचार करते हुए आलोचकों की भी तीन श्रेणियाँ बताई हैं। उन्होंने उपरोक्त आलोचकों को पहली श्रेणी में रखते हुए और भी आलोचकों के बारे में जिक्र किया है जैसे- कथासार देकर उसकी स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता पर विचार करने वाले, उपन्यासकार की दृष्टि की प्रशंसा तथा भर्त्सना करने वाले, दार्शनिक या राजनीतिक मुहावरों में उसका मूल्यांकन, भाषा-शिल्प पर प्रतिक्रिया करने वाले आलोचक। बाद में उसके निष्कर्ष के रूप में 'उपल्ब्धि' या 'दस्तावेज' जैसे किसी विशेषण की घोषणा कर देने वाले आलोचक। दूसरी श्रेणी में ऐसे पुरोधाओं को रखा है जो उपन्यास के नायक-नायिका के किसी संवाद के आधार पर वे कुछ भी सिद्ध कर सकते हैं जैसे-आधुनिकता-बोध, अलगाव-चेतना आदि। और तीसरी श्रेणी में उन्होंने नेमिचन्द्र जैन जैसे आलोचकों को जो अधिक संवेदना और अंतर्दृष्टि के साथ रचना को जानना व समझना तो चाहते हैं लेकिन उनका यह साक्षात्कार सदैव अधूरा रह जाता है। साथ ही वे उपन्यास आलोचना को सिर्फ तत्कालीन सरोकारों और मूल्यांकन कर डालने की सीमाओं में ही जकड़ा हुआ मानते हैं। उनका कहना है कि सिर्फ चौखटाबद्ध प्रवृत्तियों तथा सद्य: प्रकाशिक रचनाओं को ध्यान में रखकर किसी पद्धति का मानकीकरण नहीं हो सकता। वह लिखते हैं कि – ''कथा-समीक्षा का मानकीकरण तब तक नहीं होगा जब तक काव्य-समीक्षा की तरह कुछ विधा-गत सैद्धांतिक प्रश्नों या पुरानी कृतियों पर नए सिरे से विचार नहीं किया जाएगा। काव्य-समीक्षा में आज भी सूर-तुलसी से लेकर 'राम की शक्तिपूजा', 'कामायनी' पर नए दृष्टिकोण से व्याख्याएँ होती हैं, नए-से-नए अर्थ-संदर्भ तलाशे जाते हैं और भाषा से लेकर शैली-विज्ञान, मिथक, बिंब, रसास्वाद की प्रक्रिया और प्रकृति पर विचार किए जाते हैं। कथा-समीक्षा में ऐसी शुरूआत की जरूरत थी, लेकिन आज दसियों

वर्षों से उसके दर्शन कहाँ होते हैं? परंपरा से न जुड़ने के कारण ही आज हमारे पास न तो समीक्षा की समझ का मानकीकरण है, न मुहावरे का, शायद औजार तो हैं ही नहीं।...हम या तो काव्य-शास्त्र के औजारों से काम चला रहे हैं, या दर्शन या अन्य शास्त्रों की बारीकियों में घुस जाते हैं। मानवीय अस्तित्व और नियति को समझने के लिए हर शास्त्र या ज्ञान आनिवार्य है, लेकिन हर विधा का अपना एक मुहावरा या अनुशासन होता है और वह पूरे परिप्रेक्ष्य के विचार-पुनर्विचार से ही उभरकर आता है।''[74] राजेन्द्र यादव के इस मत को पढ़कर कहा जा सकता है कि उन्होंने उपन्यास आलोचना की सैद्धांतकी को लक्ष्यकर बहुत ही गंभीर सवाल उठाया है। जो लगभग आज भी बना हुआ है। शायद इसी वजह से उन्होंने कुछ-एक महत्वपूर्ण उपन्यासों 'त्याग-पत्र', गोदान', 'चित्रलेखा', 'निर्वासित', 'शेखर : एक जीवनी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'झूठा-सच', और 'मैला आँचल' आदि पर आलोचनात्मक लेख लिखने में अपने आपको अक्षम पाया है, जो उन्होंने स्वीकार भी किया है। उन्होंने इसके उन कारणों की तरफ भी संकेत किया है जिसके चलते अब तक उपन्यास को जाँचने-परखने के लिए कोई मुकम्मल मापदण्ड नहीं बन पाया। हाँलाकि इन कारणों की अपनी कुछ सीमाएं भी हैं। जैसे कि क्या किसी पुराने उपन्यास पर नए सिरे से विचार कर, उसकी व्याख्या कर, नए-से-नए अर्थ-संदर्भ तलाशकर ही मापदण्ड बनाया जा सकता है? क्या उस उपन्यास को परंपरा से जोड़कर देखने से उसकी व्याख्या करके ही सिद्धांत गढ़ा जा सकता है? आदि-आदि।

वैसे राजेन्द्र यादव ने अपनी इस पुस्तक में देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चंद्रकांता संतति' की एक अलग तरह से व्याख्या की है, जो पूरी तरह से एकदम नई व्याख्या है। उन्होंने 'चंद्रकांता संतति' पर लिखते हुए उसमें नए अर्थ-संदर्भ खोजने की सफल कोशिश की है। इसीलिए वह इस उपन्यास की जाँच के लिए केवल साहित्य के औजारों को अक्षम मानते हुए उस पूरे परिवेश और माहौल को महत्वपूर्ण मानते हैं, जिसमें यह उपन्यास लिखा-पढ़ा गया था। उनका ये भी मानना था कि जो जिस तरह का समाज होता है या जिस भीतरी बुनावट में वह साँस लेता है, अपने लिए वह उसी तरह की पुस्तक चुन लेता है। और इस तरह 'चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं ''हर नए के प्रति अस्वीकार, प्रतिरोध और उपहास का यह सिलसिला हमारे यहाँ भी बहुत दिनों तक चलता रहा-आज भी है : जो अस्वीकार्य है वह पश्चिमी, जो अभ्यास में आ गया वह भारतीय।...भारतीय मानस की ये सारी विसंगतियाँ और अंतर्विरोध 'चंद्रकांता' में भी हैं-काफी संश्लिष्ट और उलझे हुए। एक ओर तो प्रतिरोध की इसी जटिल, सूक्ष्म और द्वंद्वात्मक अमूर्तप्रक्रिया ने तिलिस्म को जन्म दिया तो दूसरी ओर ऐयारी में विरोध और स्वीकार का दुहरा रूप भी उभरने लगा। यह कह पाना काफी कठिन है कि प्रतिरोध का स्वर ज्यादा प्रबल है या स्वीकार की दमित आकांक्षा...मूलत: मैं इसी द्वंद्वात्मक सांस्कृतिक प्रतिरोध को चंद्रकांता-वर्ग के उपन्यासों का मूल-कथ्य मानता हूँ।''[75] इस प्रकार उन्होंने 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' की एक नए तरह की व्याख्या की या फिर यों कहें कि उस समय के अंतर्विरोधों को देखते हुए इन दोनों उपन्यासों की यथार्थपूर्ण व्याख्या की। साथ ही जब दुर्गाप्रसाद खत्री ने प्रतिरोध के इस रूप को आगे चलकर आत्म-सुरक्षात्मकता से बढ़ाकर, आक्रामक कर दिया और प्रतिरोध को विद्रोह में बदल दिया तो इसे उन्होंने तर्क-सम्मत विकास कहा। वे उपन्यास जो अब तक सिर्फ तिलिस्म और ऐयारी के लिए जाने

जाते थे उनकी नई व्याख्या कर उन्हें नए अर्थ-संदर्भ प्रदान किये। इस तरह देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति'′को ही नहीं बल्कि इस वर्ग के सभी उपन्यासों को नए तरह से व्याख्यायित करने के लिए एक दृष्टि तो दी ही साथ में इन उपन्यासों को मनोरंजन की श्रेणी से उठाकर उन्हें गंभीर उपन्यासों में प्रवेश भी दिलाया। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास आलोचना का विकास क्रम और उसके स्वरूप के उतार-चढ़ाव को उपरोक्त रूप में देखा जा सकता है। इस काल के उपन्यासों में अभिव्यक्त सवालों, उनके दायित्वों पर गंभीर चर्चा करते हुए नई व्याख्या भी प्रस्तुत की, लेकिन मूल सवाल यहाँ भी बना रहा।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास उपन्यास के उद्भव एवं विकास से जुड़ा हुआ है। इसलिए उपन्यास के उद्भव एवं विकास को जांचने और परखने के लिए हिन्दी भाषा के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं को भी लिया गया है। देखा गया कि हिन्दी उपन्यास साहित्य के उद्भव एवं विकास को लेकर सभी विद्वानों के मत अलग-अलग रहे हैं, हालांकि कुछ जगहों पर समानता भी दिखाई देती है। एक तरफ वह विद्वान हैं जो उपन्यास के उद्भव के कारण के रूप में औपनिवेशिक शासन के चलते भारत में औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद के फलस्वरूप उपजे मध्यवर्ग को माना है। इसके साथ ही पाश्चात्य जगत के उपन्यासों का प्रभाव भी माना। इन विद्वानों में प्रो. गोपाल राय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, मधुरेश, निर्मल वर्मा, मैनेजर पाण्डेय को देख सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ वे विद्वान भी हैं जिन्होंने उपन्यास के उद्भव एवं विकास का आधार अपनी ही भारतीय परंपरा को माना है। इन विद्वानों में बालकृष्ण भट्ट, नलिन विलोचन शर्मा, नामवर सिंह आदि को देखा जा सकता है। इसके बाद उपन्यास आलोचना का प्रारम्भिक दौर आया जिसमें उपन्यास आलोचना के स्वरूप का एक विकासित क्रम देखने को मिला तथा प्रेमचंद युगीन उपन्यास आलोचना के अन्तर्गत उपन्यास के दायित्व पर विचार करते-करते उपन्यासकार की रचनाओं पर गम्भीरतापूर्वक बहस होने लगी थी। और प्रेमचंदोत्तर यु में उपन्यास आलोचना आते-आते सुव्यवस्थित ढर्रे पर आ गई थी। उपन्यास आलोचना जब स्वातंत्रयोत्तर युग में पहुँची तो देखा गया कि इस काल में जहाँ एक तरफ उपन्यास का दायित्व क्या है, और क्या होना चाहिए? उपन्यास कैसा होना चाहिए? उसमें कितना यथार्थ होना चाहिए और कितना आदर्श? उपन्यास में सबसे ज्यादा महत्व चरित्र रखता है या चित्रण? उपन्यास की जमीन कहाँ से विकसित होनी चाहिए? उसमें पात्रों के बीच संवाद की स्थति कैसी होनी चाहिए, जिससे वह बनावटी ना लगे? ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास कितना और किस प्रकार आना चाहिए? उपन्यासों में जीवन के स्वरूप को कितना तथा कैसे अभिव्यक्त करना चाहिए? उपन्यासों की अभिव्यक्ति की प्रधानता को देखते हुए उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या होनी चाहिए? आदि पर गंभीरतापूर्ण बहसें हुईं तो वहीं दूसरी तरफ महत्वपूर्ण उपन्यासों पर भी अलग-अलग तरह से विचार कर सवाल उठाए गए, जैसे – नैतिकता-अनैतिकता का सवाल, स्त्री-मुक्ति का सवाल आदि-आदि। लेकिन महत्वपूर्ण सवाल इस दौर में भी वहीं का वहीं खड़ा है। हालांकि कुछ हद तक इस ओर आलोचक राजेन्द्र यादव ने कोशिश जरूर की है। जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

संदर्भ-सूची

1. उपन्यास का उदय, आयन वाट्, (अनु.) डॉ. धर्मपाल सरीन, पृष्ठ संख्या – 66-67
2. उपन्यास और लोक जीवन, रैल्फ फॉक्स, (अनु.) नरोत्तम नागर, पृष्ठ संख्या – 28
3. इस्पातिका, भारतीय उपन्यास विशेषांक, अविनाश कुमार सिंह (संपा.) जुलाई-दिसम्बर 2015, पृष्ठ संख्या – 23
4. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, पृष्ठ संख्या -13
5. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या - 23
6. वही, पृष्ठ संख्या – 94-95
7. वही, पृष्ठ संख्या – 153
8. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, पृष्ठ संख्या – 12
9. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 235
10. वही, पृष्ठ संख्या – 242
11. वही, पृष्ठ संख्या – 20
12. नलिन विलोचन शर्मा संकलित निबंध, गोपेश्वर सिंह (संकलन) पृष्ठ संख्या – 143
13. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 214
14. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 278
15. वही, पृष्ठ संख्या – 277, 279
16. भारतीय साहित्य, डॉ. रामछबीला त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या – 270-271
17. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 230-231
18. वही, पृष्ठ संख्या – 237
19. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 282
20. नलिन विलोचन शर्मा संकलित निबंध, गोपेश्वर सिंह (संकलन) पृष्ठ संख्या – 147
21. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 282
22. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, पृष्ठ संख्या -13
23. भारतीय उपन्यास की अवधारणा और रघुवीर सहाय चौधरी का सृजन, आलोक गुप्त (संपा.) पृष्ठ संख्या – 15
24. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 281
25. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, पृष्ठ संख्या – 12
26. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 284
27. बाकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी का आरम्भ, अभिषेक रौशन, पृष्ठ संख्या – 210-211
28. गद्यकाव्य मीमांसा, श्रीयुत पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पृष्ठ संख्या – 40
29. बाकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी का आरम्भ, अभिषेक रौशन, पृष्ठ संख्या – 215
30. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, डॉ. मनोहर लाल (संपा.) पृष्ठ संख्या -368,371,372
31. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 55
32. वही, पृष्ठ संख्या – 23
33. वही, पृष्ठ संख्या – 28
34. वही, पृष्ठ संख्या – 40
35. कुछ विचार, प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या – 50-51
36. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 44
37. नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-4, (नाटक, उपन्यास और कहानी), विजयबहादुर सिंह (संपा.) पृष्ठ सं.-242
38. वही, पृष्ठ संख्या – 244
39. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 69
40. वही, पृष्ठ संख्या – 79
41. वही, पृष्ठ संख्या – 63
42. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ सं. – 02

43. साहित्य सहचर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या – 83
44. नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-4, (नाटक, उपन्यास और कहानी), विजयबहादुर सिंह (संपा.) पृष्ठ सं.-113
45. अठारह उपन्यास, राजेन्द्र यादव, पृ. संख्या – 83
46. वही, पृष्ठ संख्या – 83
47. नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-4, (नाटक, उपन्यास और कहानी), विजयबहादुर सिंह (संपा.) पृष्ठ सं.-232-233
48. जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-9, निर्मला जैन (संपा.) सहयोग-प्रदीप कुमार, पृष्ठ संख्या – 393
49. भारतीय साहित्य के निर्माता प्रेमचंद, प्रकाशचंद्र गुप्त, पृष्ठ संख्या – 49-50
50. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या – 286
51. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंनद संपा.) पृष्ठ संख्या – 232-233
52. आलोचना के मान, शिवदान सिंह चौहान, विष्णुचंद्र शर्मा (संपा.) पृष्ठ संख्या – 142
53. अठारह उपन्यास, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ संख्या – 115
54. वही, पृष्ठ संख्या – 109
55. वही, पृष्ठ संख्या – 53
56. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंनद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 66
57. नलिन विलोचन शर्मा संकलित निबंध, गोपेश्वर सिंह (संकलन) पृष्ठ संख्या – 155
58. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंनद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 262-263
59. वही, पृष्ठ संख्या - 136
60. नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-4, (नाटक, उपन्यास और कहानी), विजयबहादुर सिंह (संपा.) पृ. सं. - 233
61. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंनद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 205-206
62. नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-6, (विविध), विजयबहादुर सिंह (संपा.) पृष्ठ सं. - 274
63. उपन्यास : कला और सिद्धान्त, भाग-1, विनोद तिवारी व अजय आनंनद (संपा.) पृष्ठ संख्या – 128
64. वही, पृष्ठ संख्या – 210-211
65. वही, पृष्ठ संख्या – 182
66. वही, पृष्ठ संख्या – 272-273
67. वही, पृष्ठ संख्या – 268
68. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ सं. – 08
69. वही, पृष्ठ संख्या – 39-40
70. अठारह उपन्यास, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ संख्या – 09-10
71. उपन्यास वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, पृष्ठ संख्या – 10
72. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ संख्या – 18, 21
73. वही, पृष्ठ संख्या – 127
74. अठारह उपन्यास, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ संख्या – 10-11
75. वही, पृष्ठ संख्या – 15

अध्याय - 2

उपन्यास आलोचना के सिद्धांत

(2.1) पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांत

(2.1.1) मार्क्सवाद

(2.1.2) साहित्य का समाजशास्त्र

(2.1.3) यथार्थवाद

(2.1.4) मनोविश्लेषणवाद

(2.1.5) शैली विज्ञान

(2.1.6) रूसी रूपवाद

(2.1.7) आधुनिकतावाद

(2.1.8) नई समीक्षा

(2.1.9) उत्तर-आधुनिकतावाद

(2.1.10) विखण्डनवाद

(2.1.11) संरचनावाद

(2.1.12) उत्तर-संरचनावाद

(2.2) हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धांत

उपन्यास आलोचना के सिद्धांत

यह बात सच है कि 'उपन्यास' विधा का जन्म सबसे पहले पाश्चात्य जगत में हुआ। उपन्यास साहित्य के उद्भव के साथ ही उपन्यास आलोचना का भी उद्भव एवं विकास जुड़ा हुआ। इसलिए इस अध्याय में सबसे पहले पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाएगा। वहाँ उपन्यास आलोचना की एक लंबी विकासमान प्रक्रिया देखने को मिलती है। हालाँकि हिन्दी आलोचक विनोद तिवारी पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना के बारे में लिखते हैं ''उपन्यास का जन्म तो होता है अठारहवीं सदी के शुरू में और उसकी आलोचना शुरू होती है उन्नसवीं सदी के मध्य में। सौ-डेढ़ सौ साल बाद। वह भी उदय, इतिहास, व्याख्या और समीक्षा के स्तर पर ही। उपन्यास आलोचना की सैद्धान्तिकी का निर्माण तो और बाद में होता है। एक तरह से बीसवीं शताब्दी में आकर।''[1] कहने का मतलब यह है कि किसी विधा के उद्भव के बाद ही उस विधा आलोचना के मापदण्ड या सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं और उसके लिए पर्याप्त समय भी लग सकता है। अब देखना यह है कि उपन्यास जैसी वृहत विधा को नापने-जोखने, उसका मूल्याकंन करने के लिए पाश्चात्य जगत तथा हिंदी जगत के कौन-कौन से सिद्धान्त रहे हैं ?

(2.1) पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांत

यह सच है कि सबसे पहले उपन्यास विधा का उद्भव एवं विकास पाश्चात्य जगत में हुआ इसलिए उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों का भी उद्भव और विकास सबसे पहले वहीं देखा जा सकता है। यहाँ पर पहले पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाएगा और बाद में हिंदी जगत के उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों का। पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना के सिद्धांत निम्न हैं।

(2.1.1) मार्क्सवाद

मार्क्सवाद समाज के गठन को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है। मार्क्स और ऐंगेल्स ने सन् 1848 ई. में 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' तैयार किया था। ''Marx had an opportunity to make his own ideas on the basis of communist activities when he went to london to attend a congress of the newly formed communist league in December 1847. In lengthy debates he defended his view of how communism would come about and in the end he and Engels were commissiond with the task of putting down the doctrines of the league in simple language. The result was the Communist Manifesto published in February, 1848, which was to become the classic outline of marx's theory.''[2] अर्थात दिसंबर 1847 में नवगठित कम्युनिस्ट लीग के एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए जब मार्क्स लंदन गए तब उन्हें कम्युनिस्ट गतिविधियों के आधार पर अपने विचार रखने का अवसर मिला। गंभीर बहस में उन्होंने अपने विचार 'कम्युनिज़्म कैसे आएगा' के पक्ष में तर्क दिया और अंत में उन्हें और एंगेल्स को

लीग के सिद्धांतों को सरल भाषा में तैयार करने की जिम्मेदारी दी गई। परिणामस्वरूप फरवरी, 1848 में प्रकाशित वह कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो बना जिसे मार्क्स के सिद्धांत की क्लासिक रूपरेखा बनना था।

मार्क्स के विचारों का मूलाधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। इसका अर्थ है, दो शक्तियों के पारस्परिक द्वंद्व से भौतिक जगत का विकास। मार्क्सवाद समाज के लिए ऐसा शासन या व्यवस्था को आदर्श समझता है जिसमें किसी भी श्रेणी का शोषण न हो सके। परिश्रम करने वाली श्रेणी के हाथ में शासन है तो वह किसी दूसरी श्रेणी का शोषण नहीं करेगी। मानव विकास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने-परखने का पहला श्रेय मार्क्सवाद को है। सन् 1864 ई. में मार्क्स ने 'अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' की स्थापना की और उसका सफल नेतृत्व भी किया। वे एक समर्थ चिंतक और सक्रिय क्रांतिकारी भी थे। मार्क्स और ऐंगेल्स के बाद इस विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान वी. आई लेनिन ने दिया। स्टालिन, क्रूश्चेव, माओ-त्जे-तुंग आदि राजनीतिज्ञों ने भी इसा परंपरा को आगे बढ़ाया।

मानव समाज के क्रमिक विकास को लेकर मार्क्सवाद अपना सिद्धांत रूपायित करता है। मार्क्स के अनुसार विकास के मार्ग में अड़चनें जरूर होती हैं और अंतर्विरोधों के उत्पन्न होने पर ही एक नई व्यवस्था तैयार होती है। यह व्यवस्था मानव समाज को आगे बढ़ने का अवसर देती है। डॉ. पारसनाथ मिश्र लिखते हैं ''मार्क्स की दृष्टि में भाववादियों (हीगेलियन) का परमत्व (Absolute) सत्य से बहुत दूर है। हीगल द्वारा प्रतिपादित विचारतत्व प्रत्यक्ष अनुभवगम्य नहीं है। वह वैज्ञानिक नियमों पर भी खरा नहीं उतरता। मार्क्स ने भाववादी दर्शन का विरोध करते हुए उसे कल्पनामूलक सिद्ध किया तथा उसके स्थान पर वस्तुवादी दर्शन की स्थापना की। वह वस्तु-जगत को विचार-तत्व के बाह्य घटनात्मक स्वरूप को मानता है। परन्तु मार्क्स की दृष्टि में परमतत्व नाम की कोई भी चीज नहीं है। भूत ही वस्तुत: हमारी चेतना, आत्मा एवं विचारों का जनक है, जो कुछ भी इन्द्रियगोचर है, संसार में जिसकी सत्ता प्रत्यक्ष है। भौतिक जगत में जो हमारे अध्ययन का विषय बन सकता है, वही भूत है, वही पदार्थ है।''[3] इस तरह मार्क्स आध्यात्मिक जीवों की उत्पत्ति प्रकृति से स्वीकार करते हैं। वे मनुष्य की चेतना और विचार शक्ति को स्थूल प्रकृति का गुण नहीं मानते। मार्क्स इच्छा और चेतना को मस्तिष्क का कार्य समझते हैं। आध्यात्मवादी मनुष्य की इच्छा, विचार और कार्यों को आत्मा की क्रिया समझते हैं और प्रत्यक्ष कार्यों का स्थूल शरीर की क्रिया।

मार्क्सवादी सिद्धांत में 'भौतिकवाद' शब्द का अर्थ है, संसार की प्रत्येक वस्तु भूत अर्थात् पदार्थ से उद्भूत, निमित्त और संचालित है। भौतिकवाद का उद्भव लगभग 2500 वर्ष पूर्व चीन, भारत और यूनान में हुआ। वैज्ञानिक चिंतन के अभाव में इस विचारधारा को कोई तार्किक आधार नहीं मिल सका । आलोचक एवं लेखक यशपाल अपनी रचना 'मार्क्सवाद' में भौतिकवाद पर अपनी बात रखते हुए लिखते हैं ''मार्क्सवाद की दृष्टि में संसार सत्य और वास्तविक है। इस प्रकृति में ही गति और चेतना (motion and consciousness) का विकास होता है।''[4]

इस तरह मार्क्स और ऐंगेल्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना की थी। मार्क्स ने यह विचार हीगेल से ग्रहण किया था। हीगेल की द्वंद्वात्मकता भौतिकवादी नहीं आदर्शवादी थी। मार्क्स के अनुसार

द्वंद्ववाद बाह्य संसार और आंतरिक मानव-विचारों की गतिशीलता के सामान्य नियमों का अध्ययन करता है। स्तालिन के मत में इसका द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का नाम पड़ने का कारण यह है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, परखने और पहचानने का मार्क्सवादी ढंग द्वंद्वात्मक है। मार्क्स की राय में द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से ही मानव और मानवेतर जगत या मूल्यों का विकास होता है। जब दो शक्तियों के बीच संघर्ष होता है तो एक तीसरी शक्ति विकसित होती है। फिर तीसरी को चौथी वस्तु से संघर्ष करना पड़ता है। इस प्रकार पांचवी वस्तु का उद्भव और विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत में नयी वस्तुओं, नये-नये रूपों, नयी-नयी शक्तियों का विकास होता है। प्रत्येक नयी विकसित वस्तु को मार्क्स ने प्रथम दो वस्तुओं से अधिक श्रेष्ठ माना है। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ भौतिक शक्तियों के द्वंद्व से सृष्टि का विकास निश्चित कर दिया।

ऐतिहासिक भौतिकवाद 'हिस्टोरिकल मैटीरियलिज्म' का हिंदी रूपांतर है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सामाजिक रूप को ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। ऐंगेल्स के अनुसार ''The materialist conception of history starts from the proposition that the production (of the means to support human life) and, next to production, the exchange of things produced, is the basis of all social structure, the manner in which wealth is distributed and society divided into classes or order is dependent upon what is produced, how it is produced, how the products are exchanged. From this point of view the final cause of all social changes and political revolutions are to be sought, not in men's brains, not in men's better insight into eternal truth and justice, but in change in the modes of production and exchange.''[5] अर्थात इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की शुरुआत ही इस प्रस्ताव से होती है कि उत्पादन (मानव जीवन को पोषित करने का साधन) और, उत्पादन के बाद, उत्पादित चीजों का विनिमय, सभी सामाजिक संरचना का आधार है, जिस तरीके से धन वितरित किया जाता है और समाज का वर्गों या क्रम में विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि क्या उत्पादन किया जाता है, इसका उत्पादन कैसे किया जाता है, उत्पादों का विनिमय कैसे किया जाता है। इस दृष्टिकोण से, सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रांतियों का अंतिम कारण जो निकलकर आता है वह न तो पुरुषों के दिमाग में, न ही शाश्वत सत्य और न्याय में पुरुषों की बेहतर अंतर्दृष्टि में, बल्कि उत्पादन और विनिमय के तरीकों के बदलाव में है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का दृष्टिकोण यथार्थवादी भी है। यह जीवन की भौतिक परिस्थितियों पर बल देता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की रचना आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल की जाती है। मार्क्सवाद सिर्फ वस्तु जगत को ही देखता है और भौतिक अस्तित्व पर ही जोर देता है। इसलिए इसमें 'अर्थ' का बड़ा महत्व है। इसी अर्थ के नाम पर ही वर्ग संघर्ष का कार्य चलता है। जीवनयापन के लिए सबको अर्थ की आवश्यकता होती है लेकिन इस अर्थ को शोषक अपने कब्जे में रखते हैं और श्रमिक वर्ग इसके लिए तरसते रहते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार ईश्वर पर आस्था

रखकर, सिर्फ निष्क्रिय रहने से कोई फायदा नहीं मिलता है। जबकि वर्ग-संघर्ष या क्रांति के द्वारा ही अपना अधिकार पा लेने की सीख देता है। इसलिए यह सिद्धांत आध्यात्मवाद को भी नकारता है।

'अर्थ' शब्द को जब हम संकुचित अर्थ में लेते हैं तो इसका मतलब यह है कि जीवन चलाने के लिए धन अनिवार्य है। इसलिए इसे श्रमिकों के हाथ में लाने का प्रयत्न मार्क्सवाद करता है। यशपाल लिखते हैं ''समाज के इतिहास का आधार आर्थिक है, इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य जो कुछ करता है वह धन या द्रव्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है या केवल धन-द्रव्य ही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालता है। धन और द्रव्य का महत्व मनुष्य की दृष्टि में इसलिए है कि सामाजिक परिस्थितियों के कारण धन जीवन निर्वाह के साधनों का प्रतीक और प्रतिनिधि है।''[6] इसलिए मार्क्स मानते हैं ''That under Capitalism individual private property is abolished serves marx as a starting point in his argument about the nature of property in future society. In the Communist Manifesto he says that the distinguishing future of communism is not the abolition of property generally, but the abolition of bourgeois property.''[7] मतलब यह है कि भावी समाज में संपत्ति की प्रकृति के बारे में मार्क्स का वह तर्क जो एक प्रस्थान बिंदु के रूप में कार्य करता है उस तर्क (व्यक्तिगत निजी संपत्ति) को पूंजीवाद के तहत समाप्त कर दिया जाता है। 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में वे कहते हैं कि सामान्यतः कम्युनिज्म का प्रतिष्ठित भविष्य संपत्ति का उन्मूलन नहीं है बल्कि बुर्जुआ संपत्ति के उन्मूलन में है।

इसके अलावा मार्क्सवाद में मजदूर श्रेणी में कृषक मजदूर, क्लर्क, अध्यापक, अभिनेता, चित्रकार, इंजीनियर, लेखक, डॉक्टर आदि पेशों के लोग आ जाते हैं। मार्क्स ने देखा कि पूँजीवादी व्यवस्था से समाज संतुष्ट नहीं है। समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पैदावार के साधन मजदूर श्रेणी के हाथ में आना अनिवार्य है। यशपाल लिखते हैं ''सामाजिक व्यवस्था में क्रांति के बाद मजदूरों का शासन ठीक ढंग से कायम करने के लिए परिवर्तनकाल में कुछ समय तक मजदूरों का निर्बाध शासन 'मजदूर तानाशाही' (Dictatorship of proletariat) कायम करना जरूरी है। लेकिन मजदूरों का केवल निर्बाध शासन ही मार्क्सवाद का चरमलक्ष्य नहीं है। यह ऐसी शासन व्यवस्था कायम करने का साधन है जिसमें शोषक तथा शोषित दूसरी श्रेणी पर न रहे। समाज में शोषणरहित अवस्था तभी संभव हो सकती है जब समाज में श्रेणियों का अंत हो जाय।''[8] इस प्रकार मार्क्सवाद शोषण का अंत और समानता स्थापित करने के लिए मजदूर श्रेणी का शासन आवश्यक मानता है। अत: मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप एक वर्ग-रहित समाज की परिकल्पना की है। मार्क्स और ऐंगेल्स के अनुसार ''The proletariat goes through various stages of development with its birth begins its struggle with the bourgeosie. At first the contest is carried on by individual laboures, then by the work people of a factory, then by the operatives of one trade, in one locality, against the individual bourgeois who directly exploits them.''[9] अर्थात सर्वहारा वर्ग अपने जन्म के साथ विकास के विभिन्न चरणों से गुजरता है और पूंजीपति वर्ग के

साथ उसका संघर्ष शुरू होता है। यह संघर्ष सबसे पहले व्यक्तिगत मजदूरों द्वारा किया जाता है, फिर एक कारखानों में काम करने वाले लोगों के द्वारा, फिर एक इलाके में फैले एक व्यापार में शामिल लोंगों के द्वारा किया जाता है और यह संघर्ष ऐसे व्यक्तिगत बुर्जुआ के खिलाफ होता है जो सीधे तौर पर उनका शोषण करते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व से ही पूँजीवादी समाज का अंत होगा। मजदूर वर्ग की सत्ता ही पूँजीवाद का अंत करेगी। वर्ग विहीन समाज के निर्माण द्वारा ही शोषक और शोषित दोनों वर्गों का नाश हो जायेगा। इस प्रकार शासन भी सर्वहारा वर्ग के हाथ में होगा। फलस्वरूप उत्पादन की सभी सामग्री समाज के कब्जे में होगी। इस तरह मार्क्सवादी सिद्धांत का संक्षिप्त अध्ययन करने पर यही सिद्ध होता है कि मार्क्स और ऐंगेल्स ने मिलकर संसार के सभी मजदूरों को एकत्र करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने अनेक वर्ष के चिंतन-मनन के बाद ही इन सिद्धांतों को प्रयोग में लाने की कोशिश की है।

इसी के साथ मार्क्सवादी सिद्धांतों के प्रयोग में आने के बाद से ही विश्व भर के साहित्य में इस चिंतनधारा का समावेश ही होने लगा था। 19वीं सदी में पाश्चात्य साहित्य में इसका प्रभाव व्यापक स्तर पर हुआ। विशेषत: रूसी उपन्यास साहित्य ने इसी दर्शन से प्रेरणा ग्रहण की थी। इस संदर्भ में साहित्य और राजनीति के बारे में लेनिन का मत उल्लेखनीय है कि इस सर्वहारा लक्ष्य की पूर्ति के लिए 'दलीय साहित्य' की आवश्यकता है। उन्होंने साहित्य को साम्यवादी दल तथा सर्वहारा के हित-साधन का एक आवश्यक अंग सिद्ध किया है। साहित्य के प्रति अपने इस दृष्टिकोण के कारण उन्होंने गोर्की को लिखा था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कम्यूनिज्म के प्रचार के लिए जो कार्य कर रहे हैं वह बहुत ही गहरा है और निश्चय ही मानवता का कल्याण करने वाला है। लेनिन का कहना था ''समाचार पत्रों को पार्टी संगठन का मुखपत्र होना चाहिए और उनके लेखकों को हर तरह से इन संगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशक और वितरण केन्द्र, किताब की दुकानें तथा इस तरह के अन्य प्रतिष्ठान इत्यादि अनिवार्य रूप से पार्टी के नियंत्रण में होना चाहिए।''[10] पूँजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा का शोषण व्यापक रूप से चल रहा था। इस स्थिति में सर्वहारा के मुक्ति के लिए मार्क्सवाद एक हथियार के रूप में उभरा। इसका पहला सफल प्रयोग रूस में हुआ। सन् 1905 ई. में रूस का पहला प्रयास असफल हुआ लेकिन उससे पूँजीवाद की जड़ें हिलाने में सक्षम जरूर हुआ। सन् 1917 ई. का रूसी विप्लव ऐसा महान संभव हुआ कि जिसका प्रभाव विश्व भर के बुद्धजीवियों की विचारधाराओं पर पड़ा। यूरोपीय साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। रूस, पोलैंड, रूमानिया, जकोस्लोवाकिया आदि देशों के साहित्यिक चिंतनधारा ने मार्क्सवाद को ग्रहण किया।

19वीं सदी के यूरोपीय उपन्यासकारों के सामने बुर्जुआ-क्रांतियों की केवल मिसाल ही थी लेकिन 20वीं सदी के उपन्यासकारों के सामने अक्टूबर 1917 ई. की महान रूसी क्रांति। इस सदी में लिखे गये उपन्यासों का संबंध इस क्रांति से किसी न किसी रूप से अवश्य जुड़ा रहता है। गिसिंग का 'वर्क्स इन द डाउन' (1880), जैक लंडन का 'द आयरन हील' (1907), जोसेफ कॉनरेड के 'द सीक्रेट

एजेंट' (1907), जॉर्ज ऑरवेल का 'नाइनटीन एटीफोर' (1949), हक्सले का 'ब्रेव न्यूवर्ल्ड' (1932), कोशलर का 'डार्कनेस ऐट नून' आदि उपन्यासों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण आसानी से देखा जा सकता है।

इसके साथ ही मार्क्सवादी चिंतक 'साहित्य समाज का दर्पण है' जैसी प्रसिद्ध उक्ति को नकारते हैं। लेनिन ने भी लेखक के लिए जनता के बीच रहना परमावश्यक माना है। इसलिए गोर्की जब इटली लौटे तो लेनिन ने उनका स्वागत किया। उनकी दृष्टि में ''जनता के लेखक के लिए अपने वतन की हवा में साँस लेना, अपने दिल की प्रत्येक धड़कन से अपने देश के जीवन को महसूस करना, अपनी आँखों से उसकी गतिविधि को देखना बहुत जरूरी है।''[11] मैक्सिम गोर्की का उपन्यास 'माँ' सन् 1905 ई. में प्रकाशित हुआ। गोर्की के इस उपन्यास में रूसी क्रांति के पश्चात सर्वहारा की मुक्ति का जीवन्त प्रस्फुटित हुआ है। रूस के साथ-साथ चीन में भी मार्क्सवाद का प्रारम्भ 20वीं सदी के प्रारम्भिक काल में हुआ। चीन में 4 मई, 1919 के आन्दोलन से साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद का आरम्भ हुआ तथा पाचिड के 'चायनीज अर्थ' जैसे उपन्यासों पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

दूसरी तरफ अंग्रेजी साहित्य में भी एक नई क्रांति उभर कर सामने आ रही थी। इंग्लैंड में प्रगतिशीलता के नये स्वर मुखरित हुए। अंग्रेजी उपन्यासों की प्रगतिवादी दृष्टि की शुरूआत 18वीं सदी के हेनरी फील्डिंग की कृतियों में हुई थी। शौर्लेटवान्टे, जॉर्ज इलियट, थॉमस हार्डी, चार्ल्स डिकेन्स आदि ने इस परंपरा को और आगे बढ़ाया। इसके साथ ही अमेरिकी उपन्यासकारों की कृतियों में भी जनवादी विचारों के दर्शन मिलते हैं। कुल मिलाकर पाश्चात्य साहित्य में मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा और साथ ही विश्वसाहित्य में भी मार्क्सवादी दर्शन का सन्निवेश व्यापक रूप में देखने को मिलता है।

इसके अलावा मार्क्सवादी सिद्धांत का प्रभाव हिंदी पर भी पड़ा। सन् 1936 ई. में लखनऊ में आयोजित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम सम्मेलन में मुंशी प्रेमचंद द्वारा दिया गया व्याख्यान, जो 'साहित्य का उद्देश्य' के नाम से प्रकाशित है, 'मार्क्सवादी सौदर्यशास्त्र' का हिंदी में उत्कृष्टतम विश्लेषण है, जिसमें प्रेमचंद सुझाव देते हैं कि 'अब सौंदर्य केवल सुंदर स्त्री के लिपिस्टिक लगे होठों में ही नहीं देखना होगा अपितु अपने बच्चे को खेत के मेड़ पर सुलाकर काम करने वाली युवती के पपड़ी पड़े होठों में भी सौंदर्य देखना होगा। इस तरह मार्क्सवादी सिद्धांत उपन्यासों में अभिव्यक्त वर्ग संघर्ष, शोषण और उससे मुक्ति के यथार्थ चित्रण के आधार पर ही मूल्यांकन करता है। इस पद्धति का हिंदी में भी अधिक विकास हुआ है जैसे - शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, डॉ. राम विलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह आदि विचारकों को देखा जा सकता हैं।

(2.1.2) साहित्य का समाजशास्त्र

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर समाज का विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय समाज है और 'व्यक्ति' समाज की इकाई है। समाज में किसी व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से सामाजिक संबंध स्थापित होते हैं। इस कारण समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का जाल बन जाता है। समाजशास्त्र समाज पर पड़ने वाले प्रभावों तथा समाज की अन्त:क्रियाओं के स्वरूप का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक परिवर्तन की हर

एक घटना और सामाजिक संरचना की विभिन्नता समाजशास्त्र के अध्ययन में सन्निहित हो जाती है। इस कारण समाजशास्त्र का अध्ययन विषय व्यापक हो जाता है।

समाजशास्त्र के शाब्दिक अर्थ के संबंध में वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा 'समाजशास्त्र विश्वकोश' में लिखते हैं ''समाजशास्त्र अंग्रेजी शब्द सोशियोलॉजी का हिंदी रूपांतर है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द ग्रीक भाषा का 'logea' लोगिया है। 'सोशियस' का अर्थ है - समाज (society) और 'लोगिया' का अर्थ है – विज्ञान (logy या science)। इस प्रकार समाजशास्त्र (sociology) का शाब्दिक अर्थ हुआ – 'समाज का विज्ञान' या 'समाजशास्त्र'।''[12] इस प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। जैसा कि हम जानते हैं कि धर्म, राजनीति, प्रौद्योगिकीकरण, कानून, शिक्षा-व्यवस्था आदि तत्वों से सामाजिक जीवन का निर्माण होता है। समाजशास्त्र इन तत्वों का अध्ययन करता है, इस कारण इसकी विभिन्न शाखाएं विकसित हुई हैं जैसे - धर्म का समाजशास्त्र, ग्रामीण समाजशास्त्र, प्रौद्योगिकी का समाजशास्त्र और इसमें साहित्य का समाजशास्त्र इत्यादि। यहाँ पर समाजशास्त्र की एक प्रमुख उपयोगात्मक शाखा 'साहित्य का समाजशास्त्र' की चर्चा शोध विषय के संदर्भ में प्रासांगिक है।

(2.1.2.1) साहित्य का समाजशास्त्र - ऐतिहासिक विकास

साहित्य आलोचना एवं विश्लेषण के मानदंडों के लिए ऐतिहासिक विकास का अध्ययन अनिवार्य है। 18वीं सदी के पूर्व साहित्य का स्वरूप अधिकतर धार्मिक रहा था। सामंत काल में स्तुतिपरक चरित्रों का सर्जन साहित्य का प्रमुख उद्देश्य रहा है। 19वीं सदी के साथ विज्ञान का उदय हो गया और मानव जीवन में परिवर्तन की गति भी बढ़ी है। समाज परंपरागत रूढ़ियों और बंधनों से मुक्ति एवं स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हुआ तथा आधुनिक मूल्यों का उदय हुआ। साहित्य भी विज्ञान युग में परिवर्तन का हिस्सा बन गया है। समाजशास्त्र पाश्चात्य विचारकों की देन है। इस कारण समाजशास्त्र के विकास में पाश्चात्य विचारकों का योगदान बहुमूल्य है। ऑगस्ट कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक माने जाते हैं। इनका समय सन् 1798 से सन् 1857 ई. तक का है। सामाजिक संबंधों-समस्याओं को वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करने का प्रथम श्रेय कॉम्ट को दिया जाता है। इन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक अनुभव एवं ज्ञान को सामाजिक भौतिकी के नाम से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने प्राकृतिक विज्ञान की तरह ही अनुभव सामग्री पर भी सामाजिक अध्ययन की जरूरत महसूस की।

एलिजाबेथ और टॉमबर्न्स के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र का प्रथम अध्ययन फ्रेंच विचारक मादाम-द-स्ताल ने किया है। मादाम का समय सन् 1766 ई. से सन् 1817 ई. तक रहा है। मादाम ने साहित्य पर धर्म और कानून के प्रभाव को महत्व दिया। मादाम ने समाज में प्रथाओं, धर्म एवं कानून पर साहित्य का प्रभाव माना है। सामाजिक व्यवस्था में साहित्य द्वारा परिवर्तन होता है। इसके साथ ही एडम स्मिथ का समय सन् 1723 ई. से सन् 1790 ई. तक है। स्मिथ के अनुसार प्रौद्योगिकीकरण एवं व्यापारीकरण के कारण समाज में विघटन हो जाता है। जिसके चलते श्रम विभाजन का प्रभाव

साहित्य पर भी पड़ता है और साहित्य भी तमाम वर्गों में बँट जाता है। जर्मन विचारक हिगेल के अनुसार साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति होती है। हरबर्ट स्पेन्सर 'द प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' ग्रंथ में समाज की परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कला का सृजन मानते हैं।

19वीं सदी में प्रौद्योगिकीकरण, शहरीकरण और वैज्ञानिक आविष्कार से संपूर्ण विश्व का जीवन प्रभावित रहा। 19वीं सदी के प्रमुख विचारकों में एलन स्विंगवुड का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। एलन स्विंगवुड ने दो विचारधाराओं को प्रमुखता दी है। प्रथम विचारधारा के जनक एच. तेन रहे हैं। तेन ने अपने ग्रंथ 'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास' में साहित्य संबंधी मूल्यांकन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है ''तेन का सिद्धांत प्रजाति, काल और पर्यावरण के त्रिकू पर आधारित है। प्रजाति को वह वंशानुक्रम, शारीरिक संरचना, काल को युगचेतना और पर्यावरण को जलवायु तथा सामाजिक परिवेश के रूप में लेता है।''[13] इस विचारधारा के विद्वानों ने साहित्य में भूगोल तथा प्रजाति के सहसंबंध को स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण को महत्व प्रदान किया है, लेकिन वैज्ञानिक विश्लेषण के निश्चित प्रतिमानों के अभाव में इनका विश्लेषण समय एवं स्थान पर केन्द्रित हो गया है। द्वितीय विचारधारा के प्रमुख जॉर्ज लुकाच और गोल्डमान रहे हैं। इस विचारधारा के अनुसार साहित्य समाज का प्रतिबिंब नहीं, बल्कि यह तो मानव द्वारा किए गए सामुदायिक प्रयासों का रूप है। साहित्य के लक्ष्य में विश्व में बढ़ते मूल्य परिवर्तन को प्रस्तुत करना आवश्यक माना है।

इसके अतिरिक्त कार्ल मार्क्स भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों को समाजिक परिवर्तन का कारण मानते हैं। मार्क्स वर्ग संरचना, वर्ग संघर्ष एवं वर्ग परिवर्तन के कारण के रूप में अर्थ को महत्व देते हैं। बच्चन सिंह ने मार्क्स के विचारधारा के बारे में लिखा है ''मार्क्स की दो आकांक्षाएँ थीं – शोषणमुक्त वर्गविहीन समाज की स्थापना और संपूर्ण मनुष्य की परिकल्पना।''[14] मार्क्स का मानना था कि जहाँ समान आर्थिक स्तर समाज का सफल पोषण करता है, वहीं असमान आर्थिक स्तर संघर्ष का कारण बनता है। इस साथ ही साहित्य के समाजशास्त्र में लियोलावेंथल का चिंतन भी प्रमुख है। साहित्य के समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक समस्याओं पर जिन तीन आलोचक समाजशात्रियों ने कार्य किया है उनमें अर्डोनो, हर्वर्ट मारकुस और लियोलावेंथल प्रमुख हैं, किन्तु अर्डोनों ने आधुनिक कला के समाजशास्त्री तथा मारकुस ने दार्शनिक के तौर पर विशिष्ट ख्याति पायी। इनमें से लावेंथल ने ही साहित्य के समाजशास्त्र पर गंभीरता से कार्य किया। समाजशास्त्री आलोचना के लिए 16वीं, 17वीं सदी के स्पेनी लेखकों, 19वीं सदी के जर्मन कथाकारों और क्लासिकल फ्रांसीसी नाटककारों की कृतियों को आधार बनाया। उन्होंने आलोचना के लिए समकालीन कृतियों को ग्रहण नहीं किया। लावेंथल ने साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण किया है उनके निबंधों के तीन प्रमुख संग्रह हैं (1) साहित्य और मनुष्य की परिकल्पना (2) साहित्य, लोकप्रिय संस्कृति और समाज (3) कथा की कला और समाज। इन निबंधों में उन्होंने साहित्य के प्रति अपनी अवधारणा को व्यक्त किया। वे मानते हैं कि किसी भी साहित्य से पाठक को जो जीवनानुभव मिलते हैं वे निजी होने के साथ-साथ सामजिक और ऐतिहासिक भी होते हैं। लेखक

तटस्थ दर्शक मात्र नहीं होता वह तो ऐतिहासिक अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति करता है और मानवजीवन की दशाओं के बारे में अंतर्दृष्टि देने की क्षमता विकसित करता है।

विज्ञान और सामाजिक आंदोलन का प्रभाव दिन-ब-दिन बढ़ता रहा। परिणामत: नए-नए विमर्श को लेकर समाज में सांस्कृतिक एवं सामाजिक संघर्ष का उदय होता रहा। 20वीं सदी के विचारकों में लुसिए गोल्डमान प्रमुख रहे हैं। उन्होंने कृति में प्रतिबिंबित संरचनाओं के विश्लेषण को केन्द्र में रखते हुए 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' का सिद्धांत दिया। रेने वेलेक और वारेन ऑस्टिन ने साहित्य को संस्था के रूप में स्वीकार किया तथा साहित्यिक कृति के आधार के रूप में लेखक की सामाजिक स्थिति, कृति में अभिव्यक्त की गई अन्तर्वस्तु, साहित्य के प्रयोजन आदि को समाजशास्त्र के अध्ययन का आधार माना है।

एलन स्विंगवुड साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं तो डंकन साहित्य को धर्म, दर्शन और राजनीति की तरह संस्था मानते हैं। डंकन साहित्य का भिन्न समाज स्वीकार करते हैं। इस समाज को पहचानने के लिए लेखक, आलोचक तथा पाठक के संबंधों पर विचार करना जरूरी मानते हैं। रॉबर्ट एस्कारपिट लेखक, कृति और पाठक इन इकाईयों को समाजशास्त्र के अध्ययन में महत्वपूर्ण मानते हैं। माल्कम ब्रेडबरी अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में साहित्य को सामाजिक संस्था मानकर उसमें परंपराएँ, रीति-रिवाज एवं व्यवहार पद्धतियों की खोज इत्यादि महत्वपूर्ण मानते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इंग्लैंड में संस्कृति और उसके विभिन्न पक्षों पर विचार करने वाले चिंतकों में रेमण्ड विलियम्स का नाम प्रमुख है। रेमण्ड विलियम्स ने समकालीन ब्रिटिश समाज और समस्याओं पर विस्तार से लिखा है। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति तीन उपन्यासों, निबंध तथा नाटकों के माध्यम से की। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती मैथ्यू आर्नल्ड (कल्चर एण्ड एनार्की) टी. एस. इलियट (नोट्स टूवर्ड्स द डेफिनेशन आफ कल्चर) और एफ. आर. लीविस की संस्कृति संबंधी मान्यताओं का खण्डन 'दी लान्ग रिवोल्यूशन' (1961) में करते हुए संपूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को लोकतंत्र और समाजवाद की ओर बढ़ाने की अनिवार्यता को स्पष्ट किया। विलियम्स ने परम्परा को चुनौती देकर उपन्यासों का नया मूल्यांकन करते हुए परम्परा की दूसरी धारणा प्रस्तुत की। विलियम्स को विरासत में तीन अवधारणाएं मिली थीं। 1. स्वच्छंदतावादी कवियों का साहित्य चिंतन। 2. आर्नल्ड, इलियट और लीविस की आलोचना परम्परा। 3. अंग्रेजी की मार्क्सवादी धारा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी की स्थानीयता और सीमाओं से मुक्त होना भी, रेमण्ड को मिली चुनौतियों में से एक था। रेमण्ड ने विवाद और संवाद की यह व्यापक प्रक्रिया चलाकर संस्कृति और साहित्य का अपना समाजशास्त्र निर्मित किया।

इसके अतिरिक्त मिशेल जेराफा ने उपन्यास में अभिव्यक्त समाज के बारे में लिखा है – ''उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है।''[15] जेराफा के इस कथन के अभिप्राय पर ध्यान देने पर यह बात साफ हो जाती है कि साहित्य समाजशास्त्रियों के बीच उपन्यास अधिक लोकप्रिय क्यों है। इससे यह भी समझने में सुविधा होगी कि

कला के दूसरे रूपों और साहित्य की दूसरी विधाओं की तुलना में उपन्यास समाजशास्त्रीय विश्लेषण के अधिक अनुकूल क्यों है । अपने समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से पारिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना का लक्ष्य है, और समाजशास्त्रीय अन्वेषण का भी । समाजशास्त्र में मनुष्य की सामाजिकता की पहचान के अनेक रास्ते हैं । उनमें से जो रास्ता साहित्य संसार से होकर जाता है वह सबसे सुगम और विश्वसनीय तब होता है, जब वह उपन्यास के रचना संसार से गुजरता है, क्योंकि वहाँ न तो कविता की तरह आत्मपरकता की फिसलन होती है और न नाटक के यथार्थ का मायालोक होता है । उपन्यास की कला में मौजूद मनुष्य के समाज सम्बद्ध और इतिहास सापेक्ष रूप को आसानी से पहचाना जा सकता है । वहाँ कल्पना में रची बसी जिंदगी की वास्तविकता को आसानी से पाया जा सकता है । इसालिए साहित्य का समाजशास्त्र सबसे पहले और सबसे अधिक उपन्यास की ओर मुड़ता है । उपन्यास के समाजशास्त्र के विशेष विकसित होने का भी यही कारण है । अपने समय और समाज के निरीक्षण, परीक्षण और अन्वेषण की आधुनिक दृष्टि का एक रूप उपन्यास में मिलता है और दूसरा समाजशास्त्र में । रिचर्ड होगार्ट के शब्दों में यह भी कहा जा सकता है । कि ''उपन्यास में साहित्यिक कल्पना और समाजशास्त्रीय कल्पना की जो रचनात्मक एकता मिलती है, उसी की खोज और पहचान उपन्यास के समाजशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है ।''[16] यह सच है कि आधुनिक युग की सांस्कृतिक चेतना प्रतिनिधि कला रूप के बनने के लिए उपन्यास को कठिन संघर्ष करना पड़ा है । आधुनिक युग के प्रतिबंधित और तरह-तरह के सेंसरशिप के शिकार साहित्य का अगर कोई ब्यौरा तैयार किया जाए तो उसमें सबसे अधिक संख्या उपन्यासों की ही होगी ।

अत: स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की विचार पद्धति पाश्चात्य विचारकों की देन है । इसी कारण समाजशास्त्रीय सिद्धांतकार के रूप में पाश्चात्य विचारकों की समृद्ध परंपरा विकसित होती है । भारतीय संदर्भ में हिंदी की बात करें तो डी.पी. मुखर्जी, मैनेजर पाण्डेय आदि ने भी साहित्य के समाजशास्त्र के सिद्धांत में अपना विशेष योगदान दिया है ।

(2.1.2.2) समाजशास्त्र की परिभाषा

समाजशास्त्र का विवेच्य विषय 'समाज' है । इस कारण 'समाज' के अर्थ को स्पष्ट करना अति आवश्यक हो जाता है । 'नालंदा विशाल शब्दसागर' के अनुसार 'समाज' का अर्थ यह है ''समाज (संज्ञा पु.) 1.- समूह, गिरोह, 2.- एक स्थान पर रहने वाला अथवा एक ही प्रकार का कार्य करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह ।''[17] इसके अलावा वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा के 'समाजशास्त्र विश्वकोश' में 'समाज' शब्द के बारे में लिखा है ''समाज का अमूर्त यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक साधन-साध्य क्रिया से उत्पन्न संपूर्ण मानव संबंधों की जटिल व्यवस्था है जो रीतियों, कार्य प्रणालियों, अधिकार पारस्परिक सहयोग, समूहों, विभाजनों, नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं से निर्मित होती है ।''[18] अत: इस तरह अलग-अलग विद्वानों ने समाज के अर्थ को स्पष्ट किया है।

समाज शब्द की व्यापकता को देखते हुए समाजशास्त्र की परिभाषा समझना आवश्यक है। समाजशास्त्र की परिभाषा नालंदा विशाल शब्दसागर में कुछ इस प्रकार दी गयी है ''समाजशास्त्र वह शास्त्र है जो मनुष्यों को सामाजिक प्राणी मानकर उनके समाज तथा संस्कृति का उत्पत्ति विकास आदि का विवेचन करता है।''[19] वैसे समाजशास्त्री के व्यापक विषय को परिभाषा में बांधना कठिन है वहीं डॉ. निर्मला जैन समाजशास्त्र के बारे में लिखती हैं ''समाजशास्त्र अनिवार्य रूप से समाज में स्थित मनुष्य का वैज्ञानिक वस्तुपरक अध्ययन है सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन।''[20] साथ ही पाश्चात्य विचारक मैक्सवेबर ने समाजशास्त्र की परिभाषा निम्न प्रकार से की है – ''science which attempt's the interpretive understanding of social actions in order there by to arrive at casual explanation of it's course and effect's.''[21] (समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषणात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है और सामाजिक क्रियाओं का मनन और विवेचन प्रस्तुत करता है।) ऑबर्गन और निमकॉम ने समाजशास्त्र की परिभाषा के संदर्भ में लिखा है ''is the scientific study of social life''[22] (सामाजिक जीवन का शास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्र है।) वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा के लिखते हैं ''समाजशास्त्र सामाजिक अंत:क्रियाओं, सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवहार, मानव समाज, सामाजिक समूह, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक अवस्था तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों का विज्ञान है।''[23] इन सभी परिभाषाओं का अनुशीलन करने के बाद यह स्पष्ट होता है कि समाज की जटिल संरचना के कारण परिभाषाओं में भी भिन्नता दिखाई देती है। अत: वैचारिक अन्तर के बावजूद भी समाजशास्त्र की परिभाषाओं में सामाजिक संबंधों, अन्त:क्रियाओं और उनके परिणामों, सामाजिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक संरचना, संस्थाएं, प्रकार्य, अन्त:क्रियाएं आदि समाज की निरंतर घटित घटनाओं और उसके परिवर्तन का अध्ययन करता है।

(2.1.2.3) सामाजिक संरचना

सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था समाजशास्त्र की आधारभूत अवधारणा है। सामाजिक संरचना के जन्मदाता हर्बर्ट स्पेंसर हैं। इन्होंने समाज की अखंड व्यवस्था को अस्वीकार कर विभिन्न अंगों से व्यवस्थित ढंग से संयुक्त होकर एक रूपरेखा मानते हुए इसे सामाजिक संरचना कहा है। पाश्चात्य सामाजिक संरचना समाज से संबंधित संस्थाओं, समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों और कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को मानते हैं। वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा सामाजिक संरचना को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''सामाजिक संरचना के सदस्य, समूहों, संस्थाओं और संगठनों के मध्य अमूर्त एवं स्थिर ताने-बाने अर्थात् जाल को कहते हैं।''[24] इस तरह विभिन्न प्रक्रियाओं, बदलते प्रतिमानों का विश्लेषण करने, सामाजिक जीवन के माध्यम से स्वीकृत रचना सामाजिक संरचना मानी जाती है। सामाजिक संरचना समाजशास्त्रीय अध्ययन के तीन भागों में विभक्त की जाती है – संगठनमूलक सामाजिक संरचना, स्थानमूलक सामाजिक संरचना और अर्थमूलक सामाजिक संरचना।

संगठनमूलक सामाजिक संरचना के अंतर्गत परिवार, जाति एवं संप्रदाय आते हैं । इसमें परिवार, जाति संप्रदाय के वर्तमान स्वरूप, परिवर्तन, संबंधों की कटुता के कारणों पर विचार किया जाता है। स्थानमूलक संरचना के अंतर्गत राष्ट्र की विभिन्न इकाई आती है। राष्ट्र के साथ गाँव, कस्बा, नगर एवं महानगर आदि के परिवर्तन और समाज के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया जाता है। अर्थमूलक सामाजिक संरचना में कार्ल मार्क्स के वर्ग के आधार पर समाज का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। इसमें निम्नवर्ग, मध्यवर्ग और उच्चवर्ग में निहित समाज के परिवर्तन को दृष्टिगोचर किया जाता है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक संरचना के आधार पर विश्लेषण किया जाता है।

(2.1.2.4) साहित्य का समाजशास्त्र – अध्ययन विषय

समाज जटिल संबंधों और संरचनाओं के रूप में है। साहित्य कृति का संबंध समाज के साथ जोड़ने से पूर्व कृतिकार के व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक है। कृतिकार समाज की व्यक्ति रूप इकाई है । इस कारण कृतिकार पर सामाजिक लगाव-अलगाव, परिवेश का प्रभाव कृति में दृष्टिगोचर होता है। कृतिकार की सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव कृति में समाहित होता है । इस कारण साहित्य के समाजशास्त्र के अध्ययन में कृतिकार के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना जरूरी है । साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के विषय के बारे में डॉ. विश्वंभरदयाल गुप्ता का कथन दृष्टव्य है ''साहित्य और समाजशास्त्र दोनों ही व्यक्ति, समाज और संस्कृति को अपने वर्ण्य विषय में शामिल करते हैं। दोनों का संबंध मानव जीवन व्याख्या से है। साहित्य मानवीय अंत:क्रियाओं का परिणाम है। वह समाज को प्रतिबिंबित करता है, जिसका अध्ययन समाजशास्त्र का अध्ययन है।''[25] अत: स्पष्ट है कि समाज और कृति में निहित सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन साहित्य के समाजशास्त्र में किया जाता है।

इस तरह साहित्य के समाजशास्त्र का अध्ययन विषय एवं क्षेत्र व्यापक है। सामाजिक प्राणी के रूप में लेखक का समुदाय, उसके उद्भव, सामाजिक उत्तरदायित्व, विचारधारा एवं संदर्भ के अंत:क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसके अलावा कृति की अंतर्वस्तु उसमें विद्यमान संघटनात्मक संरचनाओं, कृति निर्मिति साहित्यिक धारा के उद्भव विकास के साथ-साथ कृति को पाठकों तक पहुँचाने वाली प्रक्रिया का भी अध्ययन किया जाता है । और तो और इसके अन्तर्गत माध्यम, प्रकाशक, वितरक, आलोचक या समीक्षक आदि का अध्ययन करते हुए कृति के अध्ययन के पूर्व साहित्यिक, पाठक और उनकी रुचियों का कृति पर प्रभाव एवं समाज पर उसका परिणाम भी इसके अधयन के दायरे में आता है।

इस प्रकार सामाजिक घटनाओं और मानव व्यवहार का अध्ययन करने में समाजशास्त्रीय पद्धति सहायक है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री पी. सोरोकिन समाजशास्त्र के अध्ययन के विषय के संदर्भ में लिखते हैं कि ''It seem's to be s study, first of the relationship and corelation between variou's classes of social phenomena (corelation between economic and religious. Family and moral judicial and economic, mobility and political phenomena and so

on) second that between the social and non-social (Geographic, biological etc) phenomena. Third the study of the general characteristic's common to all classe's of social phenomena.''[26] यह (समाजशास्त्र) सबसे पहले तो सामाजिक घटनाओं के विभिन्न वर्गों के बीच संबंधों एवं सह-संबंधों (आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक व नैतिक, न्यायिक आर्थिक गतिशीलता और राजनैतिक घटनाओं और इसी प्रकार की अन्य सामाजिक घटनाओं के बीच सह-संबंध) का अध्ययन प्रतीत होता है तथा दूसरा सामाजिक और असामाजिक (भौगोलिक, प्राणीशास्त्रीय इत्यादि) घटनाओं के बीच संबंध और तीसरा सामाजिक घटनाओं के समस्त वर्गों के सामान्य लक्षणों का अध्ययन करता है जो सभी में सामान्य रूप से मिलते हैं। स्पष्ट है कि साहित्य समाज के संघटित जीवन को निर्मित करने वाली संरचनाओं, अंत:क्रियाओं एवं व्यवस्था पर निर्मित होकर समाजशास्त्र अध्ययन के लिए पूरक है।

(2.1.2.5) समाजशास्त्र की संकल्पना

समाजशास्त्र निरंतर परिवर्तनशील विज्ञान है। सामाजिक संबंधों, सामाजिक स्थिरता प्रदान करने वाली संस्थाओं का अध्ययन समाजशास्त्र का अध्ययन विषय है। समाजशास्त्र की विभिन्न प्रक्रियाएं एवं संकल्पनाएं हैं जो निम्न हैं -

(2.1.2.5.1) मानव संस्कृति और समाज

मानव संस्कृति तथा समाज के विकास और प्रसार को समाजशास्त्र के वर्ण्य विषय में स्थान प्राप्त है। समाजिक संस्कृति और समाजशास्त्रीय संकल्पना के बारे में मेहरोत्रा का विचार है ''सामाजिक घटनाओं में समाज की संस्कृति, सभ्यता, संस्कृति सभ्यता के घटक तत्व, समूह, समितियाँ, संस्थाएं, जाति, परिवार, कानून, धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, भाषा आदि इन तत्वों का भोक्ता सामाजिक मनुष्य और उसके अंत:संबंध, अंत:क्रियाएँ आदि शामिल हैं।''[27] इससे स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन की सभी गतिविधियां सामाजिक घटनाओं के अंतर्गत आती हैं। आदर्श समाज-व्यवस्था का निर्माण और समाज को हानि पहुँचाने का कार्य दोनों को मानव अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार करता है। मनुष्य जीवन को अधिक उदात्त बनाने की जिम्मेदारी समाज के अंग के रूप में व्यक्ति पर आती है। व्यक्ति द्वार समाज में किए जाने वाले आचरण में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। समाज और व्यक्ति के संबधों में संस्कृति के महत्व को स्पष्ट करते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं ''कभी-कभी एक मानव समुदाय की समग्र जीवन पद्धति या सामाजिक विरासत या समस्त सृजन को 'संस्कृति' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत समाज के मूल्य, मान्यताएं, विश्वास, विचार, भाव, रीतिरिवाज, परंपरा, भाषा, ज्ञान, कला, धर्म आदि के मूर्त-अमूर्त रूपों को शामिल किया जाता है।''[28] इस प्रकार मानव संस्कृति के अन्तर्गत आने वाली समस्त क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

(2.1.2.5.2) सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाईयाँ

सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाईयाँ भी तीन प्रकार की होती हैं जैसे – सामाजिक संबंध, समूह एवं समुदाय तथा समितियाँ और संगठन। सामाजिक संबंध में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के साथ प्रत्येक प्रकार का संबंध 'सामाजिक संबंध' में आता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति से आने वाले संबंध (पति, पत्नी), व्यक्ति और समूह के बीच आने वाले संबंध (मालिक मजदूर, अध्यापक-छात्र), एक समूह का दूसरे समूह के अन्तर्गत आने वाले संबंध (दो परिवारों के बीच, दो राष्ट्रों के बीच)। इस प्रकार समाजशास्त्र व्यक्ति, समाज और संस्कृति को अपने वर्ण्य विषय में समाविष्ट करता है। समूह एवं समुदाय के अंतर्गत समाज में मौजूद समूह आते हैं जैसे – परिवार, पाठशाला आदि। समितियाँ तथा संगठन के अंतर्गत समाज की विभिन्न स्वरूपों की समितियाँ आती हैं। व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति, लाभ-हानि आदि पर समाज हित के लिए समितियों का गठन किया जाता है। परस्पर सहयोग तथा निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियमों पर आधारित समितियाँ स्थापित की जाती हैं।

(2.1.2.5.3) आधारभूत सामाजिक संस्थाएं

समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक आदि संस्थाओं का अध्ययन होता है। इन संस्थाओं के आधार पर घटनाओं को परिवेश, सामाजिक व्यवस्था एवं धर्म इत्यादि प्रकार से विभाजित किया जाता है। सामाजिक घटनाओं के विभिन्न वर्गों के बीच सहसंबंधों का अध्ययन संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है। राजनीतिक संस्था के अंतर्गत समाज पर पड़े राजनीति के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। चूँकि राजनीति का गहरा असर समाज के सभी वर्गों पर होता है। समाज में राजनीति का प्रभाव अन्य संस्थाओं पर दृष्टिगोचर होता है। राजनीति का गठन राष्ट्र निर्माण करता है। वर्ग तथा जाति के आधार पर सामाजिक असमानता राजनीति को प्रभावित करती है। राजनीति सामाजिक समूह, सामाजिक समितियाँ, परिवार एवं नौकरशाही आदि के सत्ता संबंधों को प्रभावित करती है। समकालीन राजनीतिक दल, कार्यप्रणाली के प्रति दृष्टिकोण, समाज के लिए कार्य और समाज-व्यवस्था को बनाए रखने के उद्देश्य से राजनीतिक संस्था कार्य करती है। समाज के अभिन्न अंग के रूप में राजनीतिक संस्था महत्व रखती है। राजनीतिक संस्था समाजशास्त्र के अध्ययन में अपना अलग अस्तित्व निर्माण करती है।

आर्थिक संस्थाओं के अन्तर्गत उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंधों के स्वरूप को प्रमुखता दी जाती है। आर्थिक संस्था के अन्तर्गत प्रौद्योगिकीकरण से उत्पन्न पूँजीवाद, नगरीकरण से उत्पन्न संस्कारों का नया रूप और पूँजी आधारित वर्ग-व्यवस्था का संबंध रहा है। समाजशास्त्र के प्रमुख विचारक कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर समाज के परिवर्तन का कारण 'अर्थ' को ही मानते हैं। आर्थिक संरचनाओं की भूमिका पर आर्थिक संस्थाओं का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। आर्थिक सत्ता का प्रभाव समाज पर निरंतर होता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ विषमताओं का परिणाम भी समाज की व्यवस्था पर होता है। उत्पादन प्रणाली के साथ-साथ सामाजिक संबंध भी परिवर्तित होते हैं। आर्थिक दशाएं और

परिस्थितियाँ व्यक्तियों के बीच के संबंधों को प्रभावित करती है। निर्धनता, बेरोजगारी, जनसंख्या वृद्धि एवं आर्थिक संपन्नता इत्यादि विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम सामाजिक संबंधों पर होता है।

सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रभाव व्यक्ति के संस्कार तथा भावना का विकास निर्मित कर मानवीय मूल्यों में समाहित होता है। संस्कृति व्यक्ति के द्वारा अर्जित सामाजिक व्यवहार का ढाँचा है। इसलिए यह प्रत्येक व्यक्ति, समूह अथवा समाज में भिन्न-भिन्न होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक दोनों पक्षों का महत्व है। भौतिक संस्कृति से तात्पर्य है विज्ञान द्वारा प्राप्त उपलब्धियाँ, अभौतिक संस्कृति में विश्वास, कला, आचार, व्यवहार, प्रथाओं, रूढ़ियों आदि को सम्मिलित किया जाता है।

धार्मिक विश्वास, जनरीतियाँ एवं नैतिक नियम आदि का नियमन धार्मिक संस्थाओं में करते हैं। इसके साथ ही परंपराओं के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक नियम नई पीढ़ी को हस्तांतरित किए जाते हैं। इस कारण व्यक्ति का आचरण धार्मिक संस्थाओं के साथ-साथ परिवेश पर निर्भर करता है। इसके अलावा सामाजिक संस्थाएँ समाज का प्रमुख अंग होती हैं। समाज का संगठित रूप परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं का प्रमुख आधार है। परंपरागत परिवार का ढाँचा समाज के नियमों, बंधनों को स्वीकार करता है। आधुनिक जीवन में भौतिक विकास का प्रभाव अधिक होने से समाज के परंपरागत नियम शिथिल हुए हैं परिवार संयुक्त रूप से बिखरकर छोटे रूप में स्वतंत्र दिखाई देने लगे हैं। परिवार विघटन से परंपरागत कार्यों का हस्तांतरण हुआ है। सामाजिक संस्था में इन सभी परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है।

(2.1.2.5.4) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ

समाज में रहते हुए व्यक्ति के पारस्परिक संपर्क में आने के कारण सामाजिक प्रक्रिया निर्मित होती है। सामाजिक संपर्क, संचार तथा सामाजिक संबंधों के माध्यम से सामाजिक प्रक्रिया निरंतर प्रवाहमान रहती है। समाज परिवर्तन के कारक के रूप में सामाजिक प्रक्रिया का स्वीकार करते हैं। सामाजिक प्रक्रिया के समाजशास्त्रीय स्वरूप पाँच हैं। जिनमें पहला है सहयोग, समायोजन तथा सात्मीकरण। इस सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत सहयोग और व्यवस्थापन आते हैं। सामूहिक भावना सहयोग की प्रक्रिया में निहित होती है। व्यवस्थापन व्यक्ति अथवा समूहों में सामंजस्य स्थापित करता है। व्यक्तियों और समूहों में अपेक्षाकृत सहयोग या सामंजस्य के संबंधों का निर्माण हो जाना समायोजन कहलाता है। इसके अलावा सात्मीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति या दो समूहों की संस्कृति उनके आचार-विचार आदि तत्व निहित होते हैं। दूसरा प्रकार है सामाजिक विभेदीकरण। इसके अन्तर्गत विभेदीकरण के प्रमुख समाजशास्त्रीय आधार लिंग, आयु, प्रजाति और सामाजिक परिस्थिति आदि आते हैं जो व्यक्तियों में भिन्नता विकसित करती है। इस तरह सामाजिक विभेदीकरण की विभिन्न प्रक्रियाएँ समाज के अन्तर्गत होती है। तीसरा है सामाजिक संघर्ष। इसके अन्तर्गत व्यक्ति और समूह उद्देश्य प्राप्त करने हेतु स्पर्धा और परिश्रम को प्रोत्साहन देकर व्यक्ति के विकास का सृजन करते हैं। जब स्पर्धा कल्याणकारी

उद्देश्यों से हट जाती है तब वह संघर्ष का निर्माण करती है। इसमें चेतना और अधिक परिश्रम का व्यय होता है।

इसके अलावा चौथा प्रकार है सामाजिक विघटन। इसके अन्तर्गत सामाजिक समूह द्वारा स्थापित व्यवहार, प्रतिमानों, संस्थाओं और नियंत्रण के नियमों का भंग करना आता है। इसके सामन्यत: चार प्रकार किये जाते हैं। जिसमें सबसे पहला है वैयक्तिक विघटन। वैयक्तिक विघटन में अपराध को प्रमुखता दी जाती है। अपराध समाज और व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को विकृत कर देता है। इसके अन्तर्गत आकस्मिक अपराधी, अचेतन अपराधी, चारित्रिक दोषयुक्त अपराधी, व्यावसायिक अपराधी आते हैं। ये सारे अपराध एवं वैयक्तिक विघटन समाज के सभी स्तर, उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग आदि में कहीं कम तो कहीं अधिक पाये जाते हैं। दूसरा है समुदायिक विघटन। बेकारी, निर्धनता एवं राजनीतिक दुराचार आदि सामुदायिक विघटन के अन्तर्गत आते हैं। तीसरा है पारिवारिक विघटन। इसे समाज की नींव के रूप में देखा जाता है। पारिवारिक तनाव, विवाह-विच्छेद, तनावग्रस्त सदस्यों के कारण उत्पन्न नई समस्याएं आदि पारिवारिक विघटन के अन्तर्गत आती हैं। इसके साथ ही चौथा और अंतिम प्रकार है अंतर्राष्ट्रीय विघटन। दो राष्ट्रों या अधिक राष्ट्रों के बीच तनावग्रस्त संबंध अंतर्राष्ट्रीय विघटन में आते हैं। जैसे – राष्ट्रों के बीच का युद्ध, आतंकवाद को बढ़ावा देना आदि।

(2.1.2.6) साहित्य का समाजशास्त्र : अध्ययन पद्धति

समाजशास्त्रीय अध्ययन की व्यापकता अधिक है। इसलिए इस अध्ययन के लिए निश्चित पद्धति का दावा नहीं किया जा सकता। समाजशास्त्र में समाज के लिए किसी एक मात्र अध्ययन पद्धति न होने के कारण सभी के लिए मान्य, विश्वसनीय पद्धतियों में ऐतिहासिक, तुलनात्मक और संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धतियां प्रमुख हैं। ऐतिहासिक पद्धति के अंतर्गत साहित्य में निहित काल विभाजन, प्रमुख युगीन प्रवृत्तियों का साहित्य के विकास पर प्रभाव एवं परिणामों के अध्ययन पर बल दिया जाता है। समाज, सामाजिक आदर्श और सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन का अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत किया जाता है। इसमें साहित्य को दस्तावेज मानकर उसका विवेचन किया जाता है। साहित्य के बदलते स्वरूप और परिवर्तन के कारकों का अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से किया जाता है। साथ ही तुलनात्मक पद्धति के अन्तर्गत व्यक्तियों और सामाजिक संस्थाओं के संबंधों के स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन में सामाजिक संस्थाओं के परस्पर संबंध, परिवर्तन और प्रभावों, का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न देश, प्रजाति और विभिन्न काल के अध्ययन के लिये तुलनात्मक पद्धति बहुत उपयोगी है। इसमें एक सामाजिक घटना या कथा पर विभिन्न रचनाकारों द्वारा की गई अभिव्यक्ति का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। इसके अलावा साहित्य कृति में निहित समानता, विभिन्नता आदि के कारकों का अध्ययन किया जाता है। इसके साथ ही साहित्यिक मूल्यों, आदर्शों, साहित्य संस्थाओं के विभिन्न घटकों का सामाजिक स्थिति आदि के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति में सामाजिक इकाईयों के अंत:संबंध, उसकी स्थिति, भूमिका और समाज को दिए जाने वाले योगदान का अध्ययन होता है । प्रकार्यवाद एक विचार, सिद्धांत है । प्रकार्यवाद सामाजिक संरचनाओं के विचार का प्रभाव, उसके कारण और परिणाम को समझने में सहायक होता है । इस पद्धति को विश्लेषित करते हुए गजानन चव्हाण लिखते हैं ''संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति की दो आधारभूत अवधारणाएं हैं...संरचना और प्रकार्य । इस पद्धति को अवलंबित करने वाले साहित्य – समाजशास्त्री साहित्य – संस्था की संरचना के अंगों – लेखकों, पाठक, प्रकाशक, आलोचक के मध्य विद्यमान अंत:संबंधों का अध्ययन करते हैं । साथ ही वे इन अतं:संबंधों को निर्धारित करने वाले प्रतिमानों की स्थिति एवं भूमिका का अध्ययन करते हैं ।''[29] साहित्य के अंत:संबंधों के निर्धारण, विश्लेषण के लिए संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति अतिआवश्यक है । इसके अतिरिक्त इस पद्धति में मनोविकारग्रस्त चरित्र का अध्ययन, मूल्यांकन करने के लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का उपयोग किया जाता है ।

(2.1.2.7) साहित्य का समाजशास्त्र : सिद्धांत

'सिद्धांत' प्रयोग या परीक्षण के परिणाम को व्यक्त करते हैं । समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का संबंध सामाजिक घटनाओं से होता है । यह पद्धति साहित्य में वर्णित घटनाओं और समाज के समकालीन घटनाओं का कारणों सहित व्याख्या करती है । इसमें सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के मध्य साहित्य संस्था पर होने वाले परिवर्तन और प्रभाव को विश्लेषित किया जाता है । साहित्य संस्था और समाज की जटिल संरचनाओं को व्याख्यायित करने के लिए प्रतिच्छाया सिद्धांत, नियामक सिद्धांत और प्रभावक सिद्धांत उपयोगी माने जाते हैं ।

प्रतिच्छाया सिद्धांत 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस मान्यता को प्रतिपादित करता है । इस सिद्धांत के संस्थापक लुइस बोनाल्ड हैं । बोनाल्ड के अनुसार किसी देश के साहित्य का अध्ययन करने से उस राष्ट्र के व्यक्तियों के जीवन का बोध किया जाता है । कुल मिलाकर प्रतिच्छाया सिद्धांत समाज और उसकी संरचना को समझने में उपयोगी हो सकती है । लेकिन इसमें कृति की पाठक द्वारा स्वीकृति, अस्वीकृति, कृतिकार की सामाजिक स्थिति एवं कृतिकार के परिवेश, सामाजिक परिवर्तन आदि के बारे में स्पष्ट रूप से अंकन असंभव होता है । इसके अलावा नियामक सिद्धांत में समाज और मानव व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है । साथ ही इसके द्वारा साहित्य में वर्णित विचारधारा का समकालीन समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है । जनता की इच्छाओं, भावनाओं के संगठन में साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण है । अपराध, भौतिकता, आध्यात्मिक आदि का सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है ।

'प्रभावक सिद्धांत' द्वारा साहित्य में नई चेतना और समाज को नया विचार प्रदान किया गया है । यह समाज में फैली विकृतियों के विरोध में चेतना का निर्माण करता है । प्रभावक सिद्धांत के बारे में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि ''रचनाकार भले ही समाज का शासक न हो लेकिन वह कई बार शासकों

के लिए खतरा बन जाता है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान प्रतिबंधित असंख्य कविताओं, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों पर एक नजर डालते ही यह सच्चाई सामने आ जाएगी।''[30] इस तरह स्पष्ट है कि समाज की व्यापक चेतना संवेदनशीलता को नई दृष्टि देने का कार्य साहित्य द्वारा किया जाता है। उपर्युक्त सिद्धांतों के अलावा 'व्यक्तित्व सिद्धांत' भी है जो कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव लक्षित करता है। लेखक के परिवेश और अभिव्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों को व्यक्तित्व सिद्धांत में महत्व दिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य सामाजिक संरचना के विभिन्न रूपों तथा परिवर्तन के स्वरूप का विश्लेषण करना है।

(2.1.3) यथार्थवाद

यथार्थवाद को जानने, समझने के लिए तमाम तरह के सवाल सामने आते हैं जैसे - यथार्थवाद क्या है? यह शब्द कहाँ से लिया गया है? इसका अर्थ क्या है? आदि। और तो और इन सवालों पर बात करते हुए डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''हिंदी में यथार्थवाद अंग्रेजी के रियलिज्म (Realism) के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होता आया है। यथार्थ का अर्थ है यथा + अर्थ यानी जैसा है वैसा अर्थ। किंतु इसका रूढ़ पारिभाषिक अर्थ समझने के लिए इतिहास और दर्शन के क्षेत्र में जाना पड़ेगा। यथार्थवाद मूलत: दर्शन के क्षेत्र का शब्द है, जहाँ से साहित्य व कला के क्षेत्र में ले लिया गया है।''[31] साथ ही इस शब्द को दर्शनशास्त्र के सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रथम दार्शनिक प्लेटो थे। इसके अलावा यह माना जाता है कि कला और साहित्य के क्षेत्र में 'यथार्थवाद' एक आंदोलन के रूप में 19वीं सदी में फ्रांस में उभरा। सर्वप्रथम सन् 1826 ई. में कर्फ्यू फ्रांस ने 'यथार्थवाद' को अपने एक निबंध में परिभाषित करने का प्रयास किया। उसके बाद 1855 में फ्रांस के प्रसिद्ध चित्रकार कूर्वे ने अपने चित्रों में यथातथ्य शैली का व्यवहार किया तथा अपनी चित्र प्रदर्शनी के प्रवेश द्वार पर 'यथार्थवाद' शब्द अंकित किया। चित्रकला में यथार्थवाद के अभ्युदय के बाद सन् 1857 ई. में फ्रांसीसी उपन्यासकार 'फ्लौबेयर' (Gustave Flaubert) का प्रथम यथार्थवादी उपन्यास 'मदाम बावेरी' (Madame Bovary) प्रकाशित हुआ। इस तरह यथार्थवाद ने साहित्य में प्रवेश किया।

इसके अतिरिक्त यथार्थवादी विचारधारा के अभ्युदय की पृष्ठभूमि में दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई प्रकार के कारण रहे हैं। विज्ञान ने मानव समाज की पुरातन रूढियों को तोड़कर मनुष्य का दृष्टिकोण तथ्यवादी बनाया। डार्विन के विकासवादी सिद्धांत ने मनुष्य-जीवन संबंधी धार्मिक मान्यताओं को झकझोरा, परिणामस्वरूप 19वीं सदी के मनुष्य का दृष्टिकोण आदर्शवादी आवरण को भेदकर जीवन के स्थूल तथ्यों की ओर मुड़ा। वह अब यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही सभी कुछ देखने-समझने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे कला-साहित्य के क्षेत्र में भी यथार्थवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। यथार्थवादी आंदोलन की इस पृष्ठभूमि में जॉन लॉक (John Lock) द्वारा प्रणीत अनुभववादी विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। अनुभववादी दर्शन अनुभूत तथ्यों पर

विशेष बल देता है। यह एक आत्मनिष्ठ यथार्थवादी दर्शन है। इस दर्शन से प्रभावित साहित्यकारों में देश-काल के गोचर रूपों तथा प्रतीतानुभूत रूपों के चित्रण की प्रवृत्ति का विकास हुआ। डॉ. अमरनाथ यथार्थ तथा यथार्थवाद के बारे में चर्चा करते हुए लिखते हैं ''यथार्थ और यथार्थवाद एक दूसरे के पूरक हैं। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है, पर इसका कलात्मक अभिव्यक्तीकरण यथार्थवाद है। यथार्थवाद का प्रयोग साहित्य में आदर्शवाद एवं स्वच्छंदतावाद के विपरीत अर्थों में किया जाता है। जो साहित्यकार मानव-जीवन एवं समाज का संपूर्ण तथा वास्तविक चित्र उपस्थित करता है और अपने साहित्य का विषय वायवी-जगत से न चुनकर वास्तविक से चुनता है, वह यथार्थवादी कहलाता है। वस्तुत: 'यथार्थवाद' यथार्थ की आधारभूमि पर खड़ा किया हुआ जीवन का जीवंत चित्र है।''[32]

इसके साथ ही यथार्थवाद की परिभाषा करते हुए 'कजामिया' उसे एक पद्धति नहीं बल्कि पूरी विचारधारा मानते हैं। जार्ज लुकाच यथार्थवादी साहित्य में समाज का यथावत् चित्रण मानते हैं। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''In Realism that the author must honestly record without fear or favour everything he sees around him. 'फ्लौवेयर' वस्तुगत दृष्टिकोण और जीवन के सामान्य पक्षों के महत्वपूर्ण उद्घाटन को यथार्थवाद की प्रमुख विशेषता मानते हैं।''[33] साथ ही ऐंगेल्स ने यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए बड़े तात्विक ढंग से स्पष्ट किया है जिसे शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'यथार्थवाद' में उद्धृत किया है ''मेरे विचार से 'यथार्थवाद' का आशय यह है कि लेखक विवरणों और ब्यौरों के सत्य प्रस्तुतिकरण के अलावा प्रतिनिधि पात्रों को प्रतिनिधि परिस्थितियों में सच्चाई के साथ चित्रित करे।''[34] यथार्थवादी कलाकार का प्रयत्न हमेशा ही उन घटनाओं और पात्रों का प्रस्तुतीकरण करना होता है, जो वास्तविक जगत की प्रतिच्छाया हों। वह असम्भव, वायवी तथा अद्भुत को प्रकृति-विरुद्ध मानकर, उनके चित्रण को अनुचित समझकर अपने साहित्य से बहिष्कृत करता है। वह एक प्रकार से मानव- समाज और जीवन का अनासक्त और निष्पक्ष फोटोग्राफर होता है। वह कृति को व्यक्तिगत विचारों के प्रचार-प्रसार का साधन नहीं मानता, वरन जो कुछ उसके आस-पास घटित हो रहा है, उसके प्रकाशन का माध्यम मानता है। साथ ही यह भी जान लेना जरूरी है कि जीवन के यथावत चित्रण से तात्पर्य मात्र यौन-वर्जनाओं, कुत्सित जीवन की घटनाओं, छल-छद्मों से भरी कहानियों, भद्दी एवं अश्लील बातों के चित्रण से ही नहीं है। यथार्थवाद को मात्र असामाजिक यौन-संबंधों, पतित जीवन की घृणित दुर्बलताओं का ही नग्न चित्र समझना, उसे न समझने जैसा है। यथार्थवादी साहित्यकार मनुष्य के आदर्श एवं दुर्बल दोनों रूपों का यथावत चित्रण करता है।

वैसे तो यथार्थवाद अपनी लम्बी विकास यात्रा में समय-समय पर दृष्टिगत तथा शैलीगत दोनों आयामों पर अनेक नये रूपों में सामने आया है, लेकिन यथार्थवाद की कुछ प्रमुख धाराएँ भी हैं जिनका विवरण देते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं ''प्रधानत: उसकी दो प्रमुख दिशाएं रही हैं। इन्हें क्रमश: 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' (क्रिटिकल रियलिज्म) तथा 'समाजवादी यथार्थवाद' (सोशलिस्ट रियलिज्म) के नाम से अभिहित किया गया है।''[35] कुल मिलाकर शिवकुमार मिश्र ने मुख्य रूप से दो धाराओं को वरीयता दी है जो एक तरह से ठीक भी है। इसके अलावा कुछ विचारक 'प्रकृतिवाद' नाम

की एक अन्य प्रवृत्ति को भी 'यथार्थवाद' का अंग अथवा उसे यथार्थवादी आन्दोलन के विकास का एक आयाम मानते हैं लेकिन मार्क्सवादी साहित्य चिन्तकों ने भी 'प्रकृतिवाद' को 'यथार्थवाद' का अंग नहीं माना है, और उसे साहित्य के एक प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण के रूप में ही स्वीकार किया है। मुझे यह आपत्ति सही भी लगती है। इसके साथ ही कुछ विचारक मनोविश्लेषशास्त्र के संदर्भ से उद्भूत अन्तश्चेतनाप्रधान साहित्य को भी यथार्थवाद के गोले में स्वीकार करने की सिफारिश करते हैं। इसमें अति यथार्थवाद जैसी प्रवृत्तियाँ भी शामिल हैं। इसे वे अन्तश्चेतनावादी यथार्थ या मनोवैज्ञानिक यथार्थ के नाम से संबोधित करते हैं।

इसके साथ ही 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' में 'यथार्थवाद' एक विशिष्ट चिंतन पद्धति है जिसके अनुसार कलाकार को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए और 'आलोचनात्मक' एक दृष्टिकोण है। तात्पर्य यह कि आलोचनात्मक यथार्थवाद, जीवन के अंतर्विरोध को आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषित तो करता है, किंतु उनमें निहित किसी रचनात्मक संभावना को संकेतित नहीं करता। मार्क्सवादी इसे 'बुर्जुआ यथार्थवाद' भी कहते हैं। सोवियत लेखकों की पहली कांग्रेस में गोर्की ने दो प्रकार के बुर्जुआ यथार्थवादी लेखकों का उल्लेख किया है, एक वे हैं, जो अपने वर्ग चरित्र के अनुसार अपने ही वर्ग का गौरव-गान किया करते हैं, और दूसरे वे हैं, जो अपने वर्ग की खरी आलोचना करते हैं। इसे वे 'क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद' भी कहते हैं, पर इनमें समाजवादी यथार्थवादियों की तरह विधेयात्मक दृष्टि नहीं होती।

आलोचनात्मक यथार्थवाद की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय जार्ज लुकाच को है। 'स्टीज इन यूरोपियन रियलिज्म' तथा 'द मीनिंग आफ कंटेम्पोरेरी रियलिज्म' जैसी कृतियों में उन्होंने यथार्थवाद के सैद्धांतिक पक्ष का विस्तृत विवेचन किया और 'द हिस्टोरिकल नावेल' में ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रकृति का मार्मिक विश्लेषण करते हुए उसका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। जार्ज लुकाच ने बाल्जाक के बहाने लेखक और उसके वैश्विक दृष्टिकोण के बीच के संबंध की समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। लुकाच के अनुसार ''सत्य के प्रति जिज्ञासा तथा निष्ठा और यथार्थ के प्रति उद्दाम आसक्ति अथवा दूसरे शब्दों में ईमानदारी तथा सच्चाई किसी भी रचनाकार को महान बनाती है।''[36] इसीलिए उनको लगता है कि बाल्जाक राजतंत्रवाद का समर्थक होते हुए भी रचना के स्तर पर जितनी ईमानदारी से राजतंत्रवादी फ्रांस की सामंती व्यवस्था के अध:पतन का उद्घाटन किया है, वह उसे यथार्थवाद के महान पुरस्कर्ताओं की कोटि में प्रतिष्ठित कर देता है।

जार्ज लुकाच ने 'सामाजवादी यथार्थवाद' नामक अपने निबंध में इस विषय का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लिखा है ''समाजवादी यथार्थवाद का परिप्रेक्ष्य निश्चित रूप से समाजवाद के लिए संघर्ष है। अत: समाजवादी यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद से महज इस कारण ही भिन्न नहीं है कि वह एक ठोस समाजवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित है, वरन् इस कारण भी भिन्न है कि वह समाजवाद की स्थापना के लिए संघर्षरत शक्तियों का चित्रण करने के लिए इस परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल एक भीतरी व्यक्ति के रूप

में भीतर से करता है। जबकि आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक समाजवाद का चित्रण यदि करता भी है तो एक बाहरी व्यक्ति के रूप में।''[37] इस तरह आलोचनात्मक यथार्थवाद को अधिक व्यापक रचनात्मक प्रवृत्ति का माना है। हालांकि उन्होंने बाल्जाक, लियो तालस्ताय तथा टामस मान जैसे आलोचनात्मक यथार्थवाद के महान लेखकों के साथ गोर्की और शोलोखोव जैसे समाजवादी यथार्थवाद के महान रचनाकारों के कृतित्व का भी विस्तार से विश्लेषण किया है। आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपल्बधियों के प्रति लुकाच अत्यंत निष्ठावान है लेकिन उनका मूल प्रतिपाद्य आलोचनात्मक यथार्थवाद और सामाजवादी यथार्थवाद के बीच विभाजक रेखा खींचने के बजाय दोनों में घनिष्ठ संबंध-सूत्रों की तलाश करना ही दिखाई देता है। आलोचनात्मक और समाजवादी यथार्थवादी दृष्टि का यह एक तथ्य है। दोनों यथार्थ के प्रति गहरे लगाव से परिचालित होती हुई यथार्थवादी साहित्य परंपरा को विकसित करती हैं। यह एकता रणनीतिगत नहीं बल्कि आंतरिक और बुनियादी है। आलोचनात्मक यथार्थवाद ने अतीत और वर्तमान में जो महान लेखक पैदा किये हैं उनकी कृतियों का अध्ययन समाजवादी यथार्थवाद के लेखकों को यथार्थ की अधिक गंभीर समझ प्रदान करेगा और उनकी प्रतिभा को निखारने में मदद करेगा।

आगे उपन्यास में अभिव्यक्त यथार्थवाद पर बात करते हुए राबर्ट आल्टर ने ठीक ही लिखा है कि – ''सभी उपन्यास यथार्थपरक होते हैं। लेकिन इस यथार्थपरकता के दो रूप हैं। एक है आत्मचेतन रूप और दूसरा यथार्थवादी रूप है।''[38] पहले में उपन्यासकार इस बात के बारे में निरंतर सजग रहता है कि वह एक कथा लिख रहा है इसलिए वह यथार्थ से अधिक उसकी चेतना में ध्यान देता है और उस चेतना के बनते-बदलते रूपों को पाठकों के सामने रखता है। यथार्थवादी उपन्यासकार यथार्थ की समरूपता और समानधर्मिता की प्रतीति बनाए रखने की निरंतर कोशिश करता है। निश्चय ही शब्दों और वस्तुओं में अंतर होता है और दूसरे कलामाध्यमों की तरह उपन्यास में भी यथार्थ की सीधी पुनर्प्रस्तुति नहीं होती। उपन्यास में शाब्दिक संकेतों के माध्यम से पाठक के मन में व्यक्तियों, स्थानों, स्थितियों, घटनाओं और संस्थाओं की समरूपता और समानधर्मिता की चेतना पैदा करने की कोशिश होती है।

यथार्थवादी साहित्यकारों ने भाषा और शिल्प के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। सहज-सरल बोधगम्य भाषा और सहज शिल्प विधान यथार्थवादी साहित्य की खास विशेषताएं हैं। यही कारण है कि हिंदी की प्रगतिवादी परंपरा पर यथार्थवाद का सर्बाधिक प्रभाव देखने को मिलता है। यथार्थवादियों के लिए भाषा के चुनाव की समस्या के बारे में ग्राम्शी ने लिखा है ''भाषा एक साथ ही एक जीवित वस्तु है और जीवन तथा सभ्यता का अजायबघर भी।''[39] यथार्थवादी लेखक के लिए भाषा के स्वरूप या भाषा की बुनावट पर विचारों का गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। ग्राम्शी आगे लिखते हैं ''एक ही ऐतिहासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले दो लेखकों में से एक उस यथार्थ का कलाकार बन जाता है और दूसरा केवल प्रवक्ता।''[40] इस तरह ग्राम्शी की यह बात कला की क्षमता के अन्तर को स्पष्ट करती है।

(2.1.4) मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेशणवादी सिद्धांत का अध्ययन करें तो पाते हैं कि मनोविश्लेषण शब्द अंग्रेजी के 'साइको-एनालसिस' (Psycho-analysis) का हिंदी पर्याय माना जाता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सिगमंड फ्रायड (Sigmund freud, 1856-1939) द्वारा मानसिक रोगियों का इलाज करते हुए स्नायविक व मानसिक विकारों के संबंध में सुझाये गये सिद्धांत व व्यवहार को मनोविश्लेषण कहते हैं। अत: चिकित्सा की यह विधि जिन मूल सिद्धांतों पर आधारित है उन सिद्धांतों के स्पष्टीकरण, समर्थन, विरोध आदि के कारण फ्रायड के समय से लेकर अब तक मनोविश्लेषण ने इतनी प्रगति कर है कि आधुनिक युग की कोई भी विचारधारा इसके प्रभाव से अछूती नहीं दिखाई देती है।

मानसिक स्नायविक रोगों की चिकित्सा करते समय फ्रायड ने देखा कि सम्मोहन क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालाप में स्वच्छंद विचार साहचर्य से बहुत से पुराने अनुभव पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। उन्होंने यह भी पाया कि इन अनुभवों का मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूप से दमन है। इस कारण वे जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर पहुँचे उसके सार के रूप में 'शैशवीय दमित कामवृत्ति' को देखा जा सकता है। डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''फ्रायड के अनुसार यह जीवन में मुख्य प्रेरक शक्ति है, यह शिशु में जन्म से ही कार्यशील रहती है। और इसका प्रकाशन मानव के समस्त व्यवहार में परोक्ष रूप से होता है। इस शक्ति को अधिक व्यापक अर्थ देने के लिए वे लिबिडो (Libido) शब्द का प्रयोग करते हैं। शैशव में जब मानस में केवल 'इड'(Id) ही विकसित रहता है, दमन का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावों के कारण अहं (Ego) और सुपर इगो (Super ego) का विकास होने लगता है और स्वाभाविक कामेच्छाओं का दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओं से अचेतन मानस का निर्माण होता है। फ्रायड की मान्यता है कि शिशु की कामवृत्ति अपने माता-पिता और भाई-बहनों की ओर प्रेरित होती रहती है और व्याक्ति के मन में कुंठाएं बन जाती हैं। 'इडिपस कुंठा' (Oedipus complex) का फ्रायड के सिद्धांत में विशेष महत्व है जो ग्रीक नायक इडिपस (जिसने अपने पिता की हत्या करके अपनी माता से विवाह किया था) के नाम पर है।''[41] इस प्रकार डॉ. अमरनाथ फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की विवेचना करते हैं और बताते हैं कि उनके सिद्धांत में 'इपिडस कुंठा' का बहुत महत्व है।

इसके अलावा फ्रायड के 'इड', 'इगो' और 'सुपर इगो' के काम करने की प्रक्रिया पर और विस्तारपूर्वक बात करते हुए त्रिभुवन सिंह 'हिंदी साहित्य कोष' से उद्धृत करते हुए लिखते हैं ''मानस के जन्मजात नैसर्गिक पक्ष को वे 'इड' कहते हैं। यह लिविडो का कोष है।...'इड' व्यक्ति के अस्तित्व की प्रेरक शक्तियों या मूल प्रेरक भण्डार है, ये प्रवृत्तियां विशेष इच्छाओं का रूप लेकर परिवेश की ओर उन्मुख होती हैं और इस प्रकार चेतन मन को प्रभावित करती हैं। 'इड' में किसी प्रकार संघटन या व्यवस्था नहीं है। यह यथार्थ से पूर्ण उदासीन है और केवल सुखेच्छा से परिचालित होता है।...इड प्रबल उत्तेजना का अव्यवस्थित रूप है – इसके लिए शुभाशुभ, नैतिक-अनैतिक आदि मूल्यों का अस्तित्व नहीं,

व्यक्ति की जन्मजात सुखेच्छा की तृप्ति ही इसका मात्र काम है।''[42] वह इसके आगे लिखते हैं '''अहं' शब्द का दार्शिनक दृष्टिकोण से अर्थ व्यावहारिक अविद्या से सीमित, अनात्मा से एकीकृत आत्मा है, जो मैं या मेरे की भावना उत्पन्न करती है...फ्रायड के मनोविज्ञान में कामवृत्ति, संघर्ष, दमन और अवरोध महत्वपूर्ण हैं...'अहं' संसार और 'इड' के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। यह 'इड' की मौलिक प्रवृत्तियों को संसार के यथार्थ के अनुरूप और संसार को 'इड' की वासनाओं के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है।''[43] और 'सुपर इगो' के काम की प्रक्रिया के बारे में त्रिभुवन सिंह आगे उद्धृत करते हुए लिखते हैं ''...उचित अनुचित की नैतिक मान्यताएं इसी अंश द्वारा निर्मित होती है। यह अहं और इदं दोनों पर नियन्त्रण रखता है।''[44]

साथ ही फ्रायड का यह भी मानना है कि साधारण स्वस्थ्य जीवन में भी ये दमित वासनाएं और कुंठाएं अपने आपको व्यक्त करने का प्रयत्न करती रहती हैं परंतु 'सुपर इगो' द्वारा निर्मित प्रतिरोध के कारण ये अपने स्वाभाविक रूप में व्यक्त नहीं हो पातीं और कपट वेशों में प्रकट होती है। ये कपट रूप स्वप्न और जाग्रत जीवन की भूलें हैं। अधिक प्रबल होने पर हिस्टिरिया, खण्डित व्यक्तित्व, अपराध भावना आदि बहुत से मानसिक-स्नायविक रोग हो जाते हैं। इसके अलावा वह मानते हैं कि मानव का छोटे से छोटा व्यवहार भी सप्रयोजन होता है। मानसिक जीवन में कुछ भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता है। प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखत: कोई कामेच्छा होती है जिसे हम मनोविश्लेषण के द्वारा जान सकते हैं।

मनोविश्लेषण केवल फ्रायड के सिद्धांतों तक ही सीमित नहीं है। अन्य मनोविश्लेषकों ने अपने अनुसंधान द्वारा कुछ नए सिंद्धांतों से मनोविश्लेषण को और अधिक समृद्ध बनाया है। फ्रायड के सहयोगियों और शिष्यों में एडलर (Alfred Adler 1870-1937) और जुंग(Carl Gustav Jung, 1875-1961) ने फ्रायड से कुछ भिन्न सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया है। एडलर के मनोविज्ञान में 'लिबडो' अथवा 'कामवृत्ति' का उतना महत्व नहीं है जितना 'अहम' का। उनका मानना है कि फ्रायड कामवृत्ति को अनावश्यक महत्व देते हैं। मानसिक स्नायविक रोगों का मूल कारण कामवृत्ति के अतिरिक्त अहं की मांग भी हो सकती है। एडलर के मनोविज्ञान में आत्म स्थापन की प्रवृत्ति ही प्रमुख है, कामवृत्ति नहीं। मानसिक स्नायविक रोग का मूल कारण हीनत्व कुंठा है। यथार्थ से संघर्ष के कारण व्यक्ति के आत्म स्थापन को संतुष्टि नहीं मिल पाती है और उसमें हीन भावना विकसित हो जाती है।

जुंग ने भी मनोविश्लेष्ण के सिद्धांतों में कुछ सुधार करके अपना मत दिया है। वह भी फ्रायड के इसी मत के विरोधी थे कि जीवन की प्रमुख प्रेरक शक्ति 'कामवृत्ति' है। उन्होंने 'लिबिडो' शब्द का अधिक विस्तृत अर्थ लिया जिसमें फ्रायड की 'कामवृत्ति' और एडलर की 'आत्मस्थापन प्रवृत्ति' दोनों ही सम्मिलित हो गईं। वह उसे जीवन की प्रारम्भिक और सामान्य प्रेरक शक्ति मानते हैं, जो मानव के सभी व्यवहारों में व्यक्त होती है। जुंग का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत व्यक्तित्व के प्रकारों का सिद्धांत है। उनके अनुसार ''व्यक्ति मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं – एक वे जिनका ध्यान और शक्ति अपने पर ही केन्द्रित

रहती है, दूसरे वे जिनकी शक्ति सामाजिक और भौतिक वातावरण की ओर प्रकट होती है। पहले प्रकार के व्यक्ति अंतर्मुखी और दूसरे प्रकार के व्यक्ति बहिर्मुखी होते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओं में केन्द्रित होने के कारण अधिक भावुक, कल्पनाशील, एकांत प्रिय और अव्यावहारिक होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति व्यवहार कुशल, समाजप्रिय और क्रियाशील अधिक होते हैं।''[45]

इसके साथ ही यह सिद्धांत बीसवीं सदी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली सिद्धांत रहा है जिसने साहित्य और कला की दुनिया पर भी व्यापक प्रभाव डाला है। इस संदर्भ में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''फ्रायड के अनुसार कला और धर्म, दोनों का उद्भव अचेतन मानस की संचित प्रेरणाओं और इच्छाओं से ही होता है। दमित वासनाएं जब उदात्त रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं, तो साहित्य और कला को जन्म देती हैं। साहित्य, कला, धर्म आदि सभी को फ्रायड इन्हीं संचित वासनाओं और प्रेरणाओं से उद्भूत मानता है।''[46] इसके साथ ही फ्रायड के शिष्य एडलर के विचार इससे थोड़ा भिन्न हैं। एडलर के अनुसार हीनता ग्रंथि (Inferiority complex) सभी मनुष्यों में पायी जाती हैं, जिसके कारण मानव की जीवन दृष्टि का निर्माण होता है। साहित्यकार अपनी मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए ऐसे कल्पनाशील लोक का निर्माण करता है जिसमें उसे अपने अतृप्त प्रेम, दलित सम्मान और कुंठित शक्ति की क्षतिपूर्ति का क्षेत्र मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि कलासृष्टि, व्यक्ति की आत्महीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति का परिणाम है। इसके अलावा कार्ल जुंग के अनुसार साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा केवल अमुक्त कामकुंठाओं का ही उदात्तीकृत विस्फोट नहीं, अपितु समष्टिमन की अवचेतन गति है जो दमित वासनाओं को ही व्यक्त न कर आदर्श का भी संस्थापन करती है। इसके अतिरिक्त फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत से कला के क्षेत्र में 'अति यथार्थवाद' जैसे आन्दोलनों को भी प्रेरणा मिली है। नैतिकता और उसके प्रतिमानों पर उसने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छंद विचारों की एक नयी पीढ़ी को उसने जन्म दिया है। अंग्रेजी साहित्य में डी.एच. लॉरेन्स और जेम्स जॉयस इस प्रवृत्ति के प्रमुख लेखक रहे हैं।

यह सच है कि फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धांतों का जितना प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ा, उतना ही प्रभाव आलोचना के स्वरूप पर भी पड़ा और उसी के परिणामस्वरूप मनोविश्लेषणवादी आलोचना प्रणाली का जन्म और विकास हुआ। इस प्रणाली का प्रथम प्रयोग जेम्स ने 'हैमलेट' की आलोचना के माध्यम से किया था। डॉ. सामर सेट ने 'सैडनेस इन शेक्सपीरियन ट्रेजडी' में शेक्सपीयर के पात्रों की आलोचना इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर की है। इस आलोचना पद्धति का मूल उद्देश्य रचना के पात्रों की मनस्थितियों एवं अंत:प्रेरणाओं का विश्लेषण करना है। इस पद्धति के लिए साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है। उसमें जो कुछ सामाजिक तत्व परिलक्षित होते हैं, वे साहित्यकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नहीं, अपितु वे सामाजिक दबाव के परिणाम होते हैं। इन आलोचकों के अनुसार पुरानी मान्यताएं व्यर्थ और आरोपित हैं। पाप-पुण्य, भले-बुरे, छोटे-बड़े के बंधे-बंधाये पैमाने झूठे हैं। वे मनुष्य का विनाश करते हैं क्योंकि वे मनुष्य के अवचेतन में स्थित वेगवान वासनाओं की तुष्टि नहीं बल्कि उनका दमन करते हैं और उसके विकास को बाधित भी। अत: नैतिकता के झूठे परदे के नीचे मनुष्य का ह्रास होता है।

(2.1.5) शैली विज्ञान

शैली विज्ञान मूलत: अंग्रेजी के स्टाइललिस्टिक (Stylistics) का हिंदी पर्याय माना जाता है। शैली विज्ञान की उत्पत्ति के बारे में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली संबंधी विवेचन के सूत्र अरस्तू के काव्यशास्त्र में मिल जाते हैं किंतु आधुनिक शैली विज्ञान की प्रतिष्ठा बीसवीं सदी के आरंभ में प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी सस्यूर (Ferdinand de Saussure, (1857-1913) की स्थापनाओं से आरंभ होती है। नयी समीक्षा की भांति ही शैली विज्ञान भी कृति को स्वायत्त मानता है।''[47] इस प्रकार शैली विज्ञान एक अपेक्षाकृत नवीन आलोचना-प्रणाली है, जो रचना का पूर्वाग्रहहीन, वस्तुनिष्ठ, व्यवस्थित भाषायी विश्लेषण कर उसके मर्म को उजागर करने का दावा करती है। इसका आविर्भाव-क्षेत्र भाषा-विज्ञान और कार्य-क्षेत्र साहित्य है। भाषा विज्ञान, भाषा का विश्लेषण मात्र करता है जबकि शैली विज्ञान इससे आगे और गहरे जाकर साहित्य के मार्मिक कथ्य की पड़ताल का भी दावा करता है।

इसके साथ ही शैली विज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए रविन्द्र श्रीवास्तव लिखते हैं ''शैली विज्ञान भी साहित्य को समझने-समझाने की एक दृष्टि है जो शैली के साक्ष्य पर एक ओर साहित्यिक कृति की संरचना (स्ट्रक्चर) और गठन (टेक्स्चर) पर प्रकाश डालती है। और दूसरी ओर कृति का विश्लेषण करते हुए उसमें अंतर्निहित साहित्यिकता का उद्घाटन करती है। वस्तुत: शैली विज्ञान भाषा के रास्ते चलकर काव्यकृति के प्रकाशमान अंतर्जगत में प्रवेश करने की विधि का आलोचनाशास्त्र है।''[48] इस तरह शैली विज्ञान मूलत: भाषा विज्ञान की एक शाखा है जो साहित्य की समीक्षा में भाषा-विश्लेषण के महत्व को रेखांकित करती है। इस पद्धति में भाषा के सभी अभिव्यंजक उपादानों-ध्वनि, विज्ञान, छंद शास्त्र, पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, शब्द शास्त्र का समावेश किया गया है। इस संदर्भ में जे.ए.कुड्डन कहते हैं ''It is an Analytical Science which covers all the expressive aspects of language phonology, morphology, syntax and lexicology.''[49] नई समीक्षा और शैली विज्ञान में अंतर यह है कि शैली विज्ञान, भाषा विज्ञान का पूरा-पूरा आधार ग्रहण करके विश्लेषण में प्रवृत्त होती है जबकि नई समीक्षा ऐसा नहीं करती है। उसमें विसंगति, विडंबना, अनेकार्थता, संकेतार्थ, संतुलन आदि जिन औजारों का प्रयोग किया जाता है वे भाषाविद के औजार नहीं हैं। उनका संबंध काव्य न्याय से है।

वस्तुत:भाषा का प्रयोग बाह्य जगत संबंधी सामान्य सूचनाएं देने के लिए होता है, जबकि साहित्य की भाषा में प्रकट अर्थ के अतिरिक्त किसी आभ्यंतर अर्थ या आशय के उद्घाटन की क्षमता भी होनी चाहिए। जहाँ वह भाषा मात्र सामान्य सूचना देती प्रतीत होती है वहाँ भी उसमें अनेक अन्य अर्थ छिपे होते हैं। शैली वैज्ञानिक समीक्षा यह देखती है कि रचनाकार की भाषा उस आभ्यंतर अर्थ का उद्घाटन करने में सक्षम है या नहीं, और वह यह कार्य किस तरह संपन्न कर रही है। रोमन जौकोब्सन ने माना है कि कविता में भाषा के 'सब पैटर्न' का प्रयोग होता है। और इस पैटर्न का अध्ययन ही शैली

वैज्ञानिक आलोचना का आधार है। इसके अलावा रेने वेलेक यह मानते हैं ''सामान्यत: भाषा का 'नॉर्म' से हटा हुआ, अर्थात् मानक रूप का अतिक्रमण करने वाला रूप ही काव्य में प्रयुक्त होता है और शैली विज्ञान मूलत: इस विचलित रूप का अध्ययन करता है। ये विचलन या अतिक्रमण भी क्रमश: अपने तरीके से नियमबद्ध होकर एक नयी संहिता को जन्म देने लगते हैं। शैली वैज्ञानिक समीक्षा अतिक्रमित भाषा के माध्यम से भी कृति में अन्तर्निहित कथ्य की पहचान तथा विश्लेषण की चेष्टा करती है। उसके लिए रचनाकार की संकल्पना, विचारधारा तथा इनसे प्रेरित कथ्य का भी महत्व है।''[50] इस प्रकार शैली वैज्ञानिक समीक्षा साहित्य को सामान्य भाषा के रूप में नहीं, बल्कि विशिष्ट अभिव्यक्ति साहित्य के रूप में ग्रहण करती है जिसमें भाव और रचनाकार की जीवन दृष्टि को भी नजर में रखना जरूरी होता है। इसमें समीक्षक के लिए आवश्यक होता है कि वह भाषा के माध्यम से उस कथ्य और जीवन दृष्टि तक पहुँचे। समीक्षक को भाषा विज्ञान तथा शैली विज्ञान ही नहीं, साहित्यशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए ताकि कृति के अर्थ तक पहुँचने के लिए, यह देख पाने के लिए कि शैली के उपकरणों का सही और सार्थक प्रयोग हुआ है या नहीं, उसे साहित्यशास्त्र संबंधी उपकरणों से भी अपना संदर्भ जोड़ना होगा। कुल मिलाकर भाषा विज्ञान और साहित्यशास्त्र का शैली विज्ञान में संगम भी दिखता है क्योंकि इसके बिना कृति का विश्लेषण अधूरा ही होगा।

इस प्रकार कृति केन्द्रित होने के नाते शैली विज्ञान समीक्षा पद्धति रचना की विशेषताओं का अधिक अच्छी तरह मूल्यांकित तो करती है लेकिन इसी के साथ इस पद्धति में यह कमी भी जुड़ जाती है कि इसमें रचना के सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों सहित रचना में अभिव्यक्त यथार्थ भी पूरी तरह उपेक्षित रह जाते हैं।

(2.1.6) रूसी रूपवाद

रूपवाद शब्द अंग्रेजी के 'फार्मलिज्म' का हिंदी पर्याय माना जाता है। चूँकि इसका प्रदुर्भाव रूस में हुआ था। इसलिए इसे 'रूसी रूपवाद' भी कहते हैं। यह एक प्रकार का कलावादी आन्दोलन है, जो 20वीं सदी के दूसरे दशक में शुरू हुआ था। डॉ. अमरनाथ इसके बारे में लिखते हैं ''रचना में सामाजिक मूल्य संदेश अथवा कथ्य की तुलना में रूप और तकनीक पर अधिक बल देने के कारण इस आन्दोलन को रूपवाद कहते हैं। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों में बोरिस इकेनबाम, विक्टर शक्लोवस्की, जान मुकरोवस्की, रेने वेलेक और रोमन जेकोब्सन प्रमुख हैं।''[51]

रूसी रूपवादी सिद्धांत पूरा बल भाषा पर देता है। साहित्य की भाषा, भाषा का चयनित और उदात्त रूप होता है। क्योंकि इनकी दृष्टि में रचना के भाषा की संरचना रचनाकार के दृष्टिकोण से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इनके यहां भाषा एक स्वायत्त इकाई के रूप में मानी जाती है, जिसका विश्लेषण विवेचन रचना को नये ढंग से परखने की बुद्धि प्रदान करता है। रूपवादियों के दो केन्द्र रहे हैं – मास्को और पीटर्सबर्ग। मास्को में 'भाषिकी' के केन्द्र की स्थापना 1915 ई. में तथा पीटर्सबर्ग में सन् 1916 ई. में हुई। इस केन्द्र से जुड़े लोग मुख्यत: भाषाविद थे। ये भाषाविद समीक्षक साहित्य के रूप पर विशेष बल

देते हैं तथा साहित्य के दृष्टिकोण यानी विचारधारा को नगण्य मानते हैं। इसलिए रूपवाद पर बात करते हुए डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''ये समीक्षक उन प्रतीकवादियों और बिंबवादियों की मान्यताओं से अधिक प्रेरित प्रतीत होते हैं, कविता की रूप-रचना पर जरूरत से ज्यादा बल दिया जाता है। इनका मूल मंतव्य कविता की भाषा संरचना, उसकी 'टेकनीक' का विश्लेषण है। दर्शन, प्रत्यय, समाज, सौन्दर्य, रसादि इनकी दृष्टि में कविता के लिए गौण हैं। अपनी इन्हीं मान्यताओं के कारण रूपवादी समीक्षा संरचनावाद, शैलीविज्ञान आदि अन्य समीक्षापरक अभिधानों के समकक्ष और समांतर एक आंदोलन है। कला को एक आत्मानुशासी स्वायत्त और निजी अनुशासन मानने वाले श्क्लोवस्की कला को जिंदगी से मुक्त मानते हैं और कला रूपों का विवेचन कला के स्वायत्त नियमों द्वारा किये जाने की वकालत करते हैं।''[52] इस प्रकार पारंपरित समीक्षादृष्टि से अलग जब रूपवादी समीक्षा करता है तो उसका ध्यान पारंपरित भाषिक इकाईयों (जैसे रूपक, बिंब, अलंकार आदि) से हटकर कविता के भाषिक घटकों में एक नई 'दीप्ति' से साक्षात्कार करता है। नई दीप्ति को चिन्हित करना रूसी रूपवादी समीक्षा का सरोकार है। अत: काव्य-भाषा के रूपविधान में अपरिचित, अद्भुत अजनबीयता को उसे विरूपित करके तलाशना रूसी रूपवाद का एक प्रमुख संघटक तत्व है।

इसके अलावा रोमन जैकोब्सन ने तो कवि के मनोभावों को अविवेच्य तक कहा है। इसलिए रोमन जैकोब्सन के बारे में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''रोमन जैकोब्सन, कवि प्रणीत मनोभावों, संकल्पनाओं को अविवेच्य मानते हैं, यदि कुछ विवेचनीय है तो कविता का रूप, उसकी निर्मित, उसकी भाषा क्योंकि कविता का निर्माण भाषा से ही होता है। काव्य भाषा का विशिष्ट अनुप्रयोग है। परन्तु यह अनुप्रयोग बिंबों और अलंकारों में नहीं होता क्योंकि ऐसा तो सामान्य में होता है। इस प्रयोग और अनुप्रयोग का केन्द्र कविता की भाषिक निर्मित (संरचना) होती है।''[53] इस तरह रूसी रूपवादी सिद्धांत में साहित्य की भाषा उसके रूप-विधान पर ही ज्यादा बल दिया जाता है क्योंकि उनका मानना है कि रचना की निर्मित भाषा से ही होती है। अत: रूसी रूपवाद की जमीन कृति की कला, उसकी भाषा, रूप-विधान आदि पर आधारित है।

(2.1.7) आधुनिकतावाद

आधुनिकतावाद को अंग्रेजी में मॉडर्निज्म कहते हैं। यूरोप में 16वीं सदी के मध्य से लेकर 19वीं सदी के मध्य तक आधुनिक शब्द का प्रयोग 'वर्तमान' के पर्याय के रूप में किया जाता था। पुनर्जागरण के बाद 'आधुनिक' शब्द कई विशेषणो को जन्म दिया जैसे – 'आधुनिकतवाद', 'आधुनिकीकरण' आदि। इसलिए आधुनिकीकरण में सामाजिक वर्गों की सीमाओं के मिटने तथा ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों और महानगरों की ओर प्रस्थान, सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा का प्रसार, ज्ञानविज्ञान का विस्तार, सामंती मूल्यों का ह्रास आदि शामिल है। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को नगरीकरण तथा नए अभिजात वर्ग के उदय के रूप में देखा जाता है। आधुनिकतावाद के लिए काल

विभाजन अलग-अलग देशों के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। तीसरी दुनिया के देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बहुत बाद में शुरू हुई।

आधुनिकता का संबंध आधुनिकीकरण के फलस्वरूप पुरातन तथा परंपरागत विचारों एवं मूल्यों, धार्मिक विश्वासों और रूढ़िगत रीति-रिवाजों के विरुद्ध नवीन और वैज्ञानिक आविष्कारों, विचारों, नए मूल्यों आदि से है। 'आधुनिकीकरण' शब्द उन समस्त परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग किया जाता है जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के कारण प्रकट हुई है। डॉ. अमरनाथ आधुनिकतावाद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं ''आधुनिकतावाद सामाजिक समस्याओं के बजाय व्यकित के स्वरूप तथा आत्मबोध को प्रमुख मानता है। प्रत्येक वस्तु , विचार तथा संरचना पर व्यक्ति की वैयक्तिकता की छाप अंकित है। बाह्य जगत या वस्तुएं या तो मनुष्य की मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति हैं या मात्र उसका प्रतीक है। आधुनिकतावाद प्रत्येक विश्वास और विचार को संशय की दृष्टि से देखता है। इसी कारण उसमें अनास्था का स्वर मुखर है। वह मूल्यों की स्थिरता में विश्वास नहीं रखता। मूल्य न केवल अनावश्यक तथा अर्थहीन हैं बल्कि हानिकर भी है। मूल्यों के संकट का ही फल है कि लेखक अपने लेखकीय दायित्व को स्वीकार नहीं करता। आधुनिकतावाद अतीत से विमुख होकर वर्तमान में शरण लेता है। वह स्थायी अनुभवों की अपेक्षा क्षणिक अनुभवों को वाणी देता है। अत: मनुष्य के अनुभव क्षणिक तथा विखंडित होते हैं। आधुनिकतावाद धर्म, प्रकृति, परंपरा, नैतिकता, प्रतिबद्धता, आस्था, मूल्य तथा प्रत्येक प्रचलित विचार तथा वस्तु-स्थिति और व्यवस्था को चुनौती देता है। विद्रोह उसका मूल स्वर है। आधुनिकतावाद हर प्रकार के सामाजिक, नैतिक, वैचारिक तथा यौन दमन के विरुद्ध है।''[54]

तमाम परिवर्तनों के कारण साहित्य और कला के क्षेत्र में भी तेजी से नये चिंतन और नये प्रयोग दिखाई देने लगे। आधुनिकतावाद साहित्य और कला के क्षेत्र में भी एक महत्वपूर्ण आन्दोलन बनकर उभरा। वैसे तो आधुनिकतावाद साहित्य, कला तथा अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के लिए बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में प्रचलित रहा। लेकिन वास्तव में साहित्यिक प्रवृत्तियों के समय की कोई निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। कई प्रवृत्तियां कभी-कभी एक-दूसरे से जुड़ी हुई एक ही समय में प्रवाहित होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, साहित्य की नई प्रवृत्तियां प्रस्फुटन से पूर्व बीज-रूप में पूर्व प्रवृत्तियों में मौजूद रहती हैं, वे बाद में आन्दोलन की शक्ल लेती हैं। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने तो यह भी कह दिया कि आधुनिकतावाद कोई अलग से साहित्यिक प्रवृत्ति, आन्दोलन या सिद्धान्त नहीं है, अपितु यह स्वच्छंदतावाद का ही विस्तार है।

टी. एस. इलियट की काव्य-कृति 'द वेस्टलैंड' और जेम्स ज्वायस के उपन्यास यूलिसेस सन् 1922 ई. में प्रकाशित हुए। इन कृतियों को साहित्यिक आधुनिकतावाद का मूल माना जाता है। आधुनिकतावादियों के लिए साहित्य का कोई सामाजिक प्रयोजन नहीं है। इसी कारण साहित्य मूल्यों तथा उद्देश्यों से पृथक होकर विकसित होने लगा। आधुनिकतावादियों की नवीन से नवीनतर सृजन करने

की तीव्र इच्छा के कारण प्रयोग अपने आप में ध्येय और मूल्य बन गये। इसके अन्तर्गत प्रति क्षण नया होने, कुछ अपूर्व, विलक्षण या अद्वितीय प्रस्तुत करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। रूप, शिल्प तथा शैली के नित नए प्रयोग साहित्यिक आधुनिकतवाद की विशिष्टता है। नयी भाषा, नयी संरचना, नयी शब्दावली, पुराने प्रचलित शब्दों का नया अर्थ, नयी साहित्यिक पदावली की झलक आदि आधुनिकतावादी साहित्य की पहचना है। सुप्रसिद्ध आधुनिकतवादी कवि एजरा पाउंड ने तो यहां तक कह दिया है ''अच्छी कविता कभी भी बीस वर्ष पुरानी शैली में नहीं लिखी जा सकती।''[55]

आधुनिकतावाद के प्रभाव से साहित्य का शास्त्रीय सौन्दर्य-बोध संदिग्ध हो गया। साहित्यिक कृतियों को पूर्णता की दृष्टि से नहीं, टुकड़ों-टुकड़ों में देखने की प्रवृत्ति बढ़ गई। मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश, परिवार तथा वर्तमान परिस्थिति से अलगाव अनुभव करने लगा। व्यक्ति भीड़ में भी अकेला महसूस करने लगा। एकाकीपन और अलगाव आधुनिकतावादी साहित्यिक कृतियों का मुख्य सरोकार है। प्रयोग आधुनिकतावाद का मुख्य उद्देश्य बन गया। इसी प्रयोगधर्मिता के बारे में टी, एस. इलियट लिखते हैं ''हमारी सभ्यता के वर्तमान को देखते हुए, ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कवियों को भी कठिन होना चाहिए। हमारी सभ्यता विविधता और जटिलता के विराट आयामों को समावेशित करती है, और विविधता और जटिलता एक परिष्कृत संवेनशीलता से संयोजित होकर जो परिणाम उत्पन्न करती है, उन्हें भी विविध और जटिल ही होना चाहिए। कवि को ज्यादा से ज्यादा समावेशी, ज्यादा सांकेतिक, ज्यादा परोक्ष होना चाहिए, जिससे कि वह अपने अर्थ संधान के लिए भाषा को बाध्य कर सके। इस तरह अभिव्यक्ति के नये धरातलों को तोड़ने का प्रयास बड़े पैमाने पर होने लगे। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य को सही शब्दों का सही क्रम (राईट वर्ड्स इन राईट आर्डर) के रूप में पहचाना जाने लगा। लेकिन कविता का यह 'सही' हर कवि के लिए तय नहीं था। इस 'सही' को जानने-समझने और परखने के रास्ते हर कवि ने अपने-अपने तरीके से तलाशे। कला के अन्य रूपों की तरह कविता भी प्रयोगधर्मिता की संवाहक बनी।''[56] इस तरह प्रयोगधर्मिता के साथ-साथ आधुनिकतावाद में दुरूहता तथा पाठकीय उपेक्षा के कारण इसका रचना विधान जटिल और अपरिचित लगने लगता है। पाठक को सम्प्रेषण की कमी की शिकायत रहती है। परिणामस्वरूप वह अर्थ-बोध तथा सैंद्रय-बोध से वंचित रह जाता है।

(2.1.8) नई समीक्षा

नई समीक्षा प्रणाली का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ और विकास अमेरिका में। नई समीक्षा का उद्भव और विकास दो विश्व-युद्धों की ध्वंसात्मक चेतना के बीच हुआ माना जाता है। इस समीक्षा-पद्धति पर अस्तित्ववादी विचारधारा का भी प्रभाव देखने को मिलता है। ''अस्तित्ववादी विचारधारा की भांति ही नयी समीक्षा यह मानती है कि कविता या नाटक एक कलाकृति है – मात्र भाव या विचार नहीं।...अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन का अस्तित्व वर्तमान में ही है। इसी सूत्र को पकड़कर नयी समीक्षा सभी पुरानी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धतियों का निषेध करती है। अस्तित्ववाद अपनी पूरी ताकत से दर्शन

और विज्ञान का निषेध करता है – और ठीक यही स्थिति नयी समीक्षा में मिलती है। दर्शन से पल्ला झाड़कर ही नयी समीक्षा आधुनिक भाषाशास्त्र और बिंबवाद का सहारा लेती है।''[57]

इसके साथ ही नयी समीक्षा का नामकरण सहज रूप से सन् 1911 ई. में कोलंबिया विश्वविद्यालय के प्रो. स्पिनगर्न द्वारा 'न्यू क्रिटिसिज्म' के संबोधन से माना जाता है। इसकी मान्य परिभाषा जॉन क्रो रैन्सम ने पहली बार अपनी पुस्तक 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' की भूमिका में प्रस्तुत की है। एफ.आर. लिविस, इवोर विंटर आदि अनेक लेखक, जिनकी समीक्षा में नवीन दृष्टि का उन्मेष, आधुनिक भावबोध और कविता को नयी दृष्टि से समझने-परखने की आकांक्षा थी, नयी समीक्षा के वृत्त में परिगणित होते रहे। जिस समीक्षक परम्परा में प्राप्त, रोमानी अथवा भाव-प्रवण काव्य चेतना से भिन्न, नयी काव्य चेतना का उन्मेष दिखाई दिया, उसी को नया समीक्षक मान लिया गया। किंतु चौथे दशक के अंत में अमेरिका के साहित्यिक क्षेत्र में पहुँचकर यह प्रवृत्ति प्राय: लक्षणबद्ध हो गयी और एक विशिष्ट समीक्षा दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने लगी। सामान्य रूप से नयी समीक्षा के उन्नायकों में जॉन क्रो रेन्सम, एलेन टेट, एफ. आर. लीविस, आई. ए. रिचर्ड्स. ब्लैकमूर, राबर्ट पेन वारेन, क्लिंथ ब्रुक्स तथा विलियम एम्पसन के नाम उल्लेखनीय हैं।

नई समीक्षा के विकास में टी. एस इलियट और आई. ए. रिचर्ड्स का बहुमूल्य योगदान है। जॉन क्रो रेन्सम ने तो नई समीक्षा की शुरूआत ही रिचर्ड्स से मानी है। जॉन क्रो रेन्सम का आधारभूत सिद्धांत है – ''शब्द-विधान या रूपात्मकविश्लेषण (टैक्स्चर)। वे शब्द-विधान और अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) के सहभाव संबंध से ही कविता का जन्म मानते हैं किंतु 'अर्थ-विधान' को सहायक और शब्द-विधान को प्रधान मानकर ही कविता के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं।''[58] इस तरह जॉन क्रो रेन्सम ने अर्थ-विधान को सहायक और शब्द-विधान को मूल मानते हुए कृति का विश्लेषण करते हैं। चूंकि नई समीक्षा मात्र रूपवाद न होकर विश्लेषणात्मक आलोचना का एक नया ढंग है, नयी प्रवृत्ति है, नया विकास है, इस दृष्टि से 'नई समीक्षा' शब्द का प्रचलन है। वहीं नई समीक्षा के अन्य विचारकों में एलेन टेट, राबर्ट पेन वारेन, ब्लैकमूर क्लींथ ब्रुक्स, और एम्पसन के विचारों के बारे में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''एलेन टेट के अनुसार कविता का अस्तित्व जिस संतुलन पर स्थित होता है वह उसके बहिरंग संतुलन और अंतरंग संतुलन के बीच घटित होता है। राबर्ट पेन वारेन ने काव्य भाषा में व्यंग्य, विरोधाभास और प्रतीक पर विशेष बल दिया। ब्लैकमूर ने सबसे अधिक महत्व जेस्चर को दिया। उनके अनुसार सांकेतिकता ही काव्यभाषा का प्रधान गुण है क्योंकि इसमें गति होती है। जहां अभिधा की भाषा समाप्त हो जाती है, वहां सांकेतिक भाषा काम करती है। क्लींथ ब्रुक्स ने विसंगति को काव्यभाषा का प्रधान गुण माना है। एम्पसन ने अनेकार्थता को काव्यभाषा का प्राण तत्व स्वीकार किया।''[59] बहरहाल, इन सभी के काव्य सिद्धांत पूर्णत: समान न होने के बावजूद समीक्षा के कुछ मौलिक तथ्यों के विषय में एक गहन एकता का संकेत देते हैं। जैसे कविता एक विचार या भाव नहीं है, वह अपने आप में एक विशिष्ट अनुभव है, यह अनुभव रूप के अनुभव से अभिन्नता रखता है। इस प्रकार 'रूप' ही समीक्षा का मूल धर्म है और इस 'रूप' की स्वायत्त-सत्ता है। इस दृष्टि से 'रूप' में कलात्मक संरचना और बनावट का अर्थ निहित है।

अत: कहा जा सकता है कि नई समीक्षा ने रोमांटिक व्यक्तिवाद और विक्टोरियन नैतिकता का विरोध किया। इन्हीं परिस्थितियों ने कवि को केन्द्र से हटाकर 'कृति' को केन्द्र में स्थापित कर दिया। नई समीक्षा ने काव्य पाठ की नवीन पद्धति के क्षेत्रों को सूक्ष्मता से उद्घाटित किया। कविता को कविता के रूप में ही समाझाने-समझने पर बल दिया। परंपरा के पुनर्विचार का काम नये समीक्षकों ने बड़ी निष्ठा से किया, समसामयिक लेखन पर ध्यान केन्द्रित करते हुए नये सृजन को बढ़ावा दिया। कविता के ऊपर से साहित्येतर मूल्यों के आघात को कम किया एवं काव्य की स्वायत्त सत्ता को प्रतिष्ठित किया। नयी समीक्षा ने जोर देकर कहा कि काव्य का अपना एक संसार है जो राजनीति तथा विज्ञान के संसार से एकदम अलग है।

(2.1.9) उत्तर-आधुनिकतावाद

'उत्तर-आधुनिकतावाद' के लिए अंग्रेजी में 'पोस्टमॉर्डिनिज्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द अपनी अवधारणा को लेकर इतना विवादास्पद हो चुका है कि इसके स्वरूप के बारे में कुछ भी कह पाना कठिन है। किसी एक की निगाह में उत्तर-आधुनिकता, आधुनिकता का अगला चरण है तो दूसरे की निगाह में आधुनिकता से मुक्ति। फिलहाल, मलयराय चौधरी जोर देकर यह घोषणा करते हैं ''''पोस्टमॉर्डिनिज्म' का अर्थ 'मॉर्डिनिज्म' के बाद का दौर नहीं, बल्कि मॉर्डिनिज्म से मुक्त अवस्था का दौर होना चाहिए।''[60] उत्तर-आधुनिकता की दूसरी अवधारणा साम्राज्यवादी मुल्कों के प्रवक्ता बुद्धिजीवियों की है। इस खेमे के सिद्धान्तकारों में ल्योतार, बौद्रिआ और फेडरिक जेमसन प्रमुख हैं। ल्योतार की पुस्तक 'द पोस्ट मॉडर्न कन्डीशन ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' से इसका आरम्भ माना जाता है। ल्योतार आज के समय को उत्तर-आधुनिक स्थितियां कहते हैं। ल्योतार के शब्दों को उद्धृत करते हुए डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''उत्तर-आधुनिकतावाद महावृत्तांत के विरुद्ध है।...मैक्रो और ग्लोबल की जगह माइक्रो और एथनिक विमर्श केन्द्र में आ रहे हैं। छोटे-छोटे अस्मिता समूहों का उदय (नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि) वस्तुत: समकालीनतावादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ उत्तर-आधुनिक आवाज का परिणाम है।''[61] और फ्रेडरिक जेमसन अपनी पुस्तक 'पोस्ट मॉडिर्निज्म द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैप्टीलिज्म' में उत्तर-आधुनिकता को पूँजीवाद के विकास की खास अवस्था माना है। इसे वे उपभोक्ता पूँजीवाद या वृद्ध पूँजीवाद भी कहते हैं जबकि ल्योतार उस समय को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं ''ज्ञान की अवस्था बदल जाती है जब समाज उत्तर-औद्योगिक युग में और संस्कृति उत्तर-आधुनिक युग में प्रवेश करती है। यह बदलाव कम से कम 1950 के दशक के अंत से चालू है।''[62] इस तरह उत्तर-आधुनिकता को लेकर विभिन्न विचारकों के मत भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं।

यह सच है कि बाजार ने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है। आज की विश्व अर्थव्यवस्था उपभोग केन्द्रित है। बाजार ने ज्यादा से ज्यादा उपभोग को बढ़ावा दिया है जिसका शिकार मध्यवर्ग हो रहा है। बड़ी कंपनियां रोज नए-नए उत्पाद के रूप में नई इच्छाएं पैदा करती हैं। विज्ञापन को वे अपने सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करती हैं। तकनीकी क्रांति ने मीडिया को मास मीडिया में

बदल दिया है। मीडिया द्वारा हत्या, बलात्कार जैसे जघन्य अपराध भी स्टोरी बनाकर बेचे जा रहे हैं। इसने विश्रंखलित व्यवस्था को जन्म दिया है और केन्द्रीकृत व्यवस्था को तोड़ा है। डॉ. अमरनाथ उत्तर-आधुनिकता के दृष्टिकोण पर चर्चा करते हुए लिखते हैं ''एक व्यापक दृष्टिकोण से उत्तर-आधुनिकता के तीन केन्द्रीय तत्व हैं, पहला समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार, दूसरा तर्कवाद का नकार और तीसरा आधुनिकतावाद की सभ्यता का नकार।''[63] इस प्रकार उत्तर-आधुनिकता सार्वभौमिक समग्रतावादी सत्यों पर प्रश्न चिह्न लगाती है। उत्तर-आधुनिकता तार्किकता पर भी प्रश्न चिह्न लगाती है।

इस तरह उत्तर-आधुनिकता के चिंतन में भाषा की पारदर्शिता के प्रश्न का केन्द्रीय स्थान है। उत्तर-आधुनिकता ने संचार के नए साधनों, सूचना और मीडिया तकनीकी के द्वारा संकेतों को उसके संदर्भ से हटा दिया है। इसका परिणाम है कि वस्तुगत सत्य पर प्रश्न चिह्न लगा दिये गए हैं और प्रतीकात्मक यथार्थ ही हमारे जगत का निर्माण करने लगा है। इस प्रक्रिया में अंतत: अर्थ की मृत्यु हो जाती है। उत्तर-आधुनिकता ईश्वर की मृत्यु, विचारधारा का अंत, लेखक की मृत्यु, इतिहास का अंत, कला का अंत, आलोचक की मृत्यु, मनुष्य की मृत्यु इत्यादि अनेक मृत्युओं की घोषणा करती है। देरिदा ने 'दी एंड ऑफ मैन' में लिखा है ''मृत्युपर्व का जो क्रम ईश्वर की मृत्यु से शुरू हुआ था उसने अंतत: मनुष्य की जान भी ले ली है।''[64] इसी प्रकार रोलां बार्थ ने 'दी डेथ ऑफ ऑथर' में लिखा है ''किसी पाठ को एक लेखक द्वारा वस्तुत: पाठ के अर्थ की सीमाबंदी है। यह पाठ को एक अंतिम अर्थ दे देता है। इस तरह यह लेखन का अंत है।''[65] इस तरह उत्तर-आधुनिकता तमाम मृत्युओं की घोषणा करता हुआ लेखक की भी मृत्यु की घोषणा कर देता है।

(2.1.10) विखंडनवाद

अंग्रेजी के 'डिकंस्ट्रक्शन' के लिए हिंदी में 'विखंडन' शब्द प्रचलित है, इसे कुछ विद्वानों ने 'विरचनावाद' या 'विनिर्मितिवाद' भी कहा है। 1960 के दशक में जॉक डेरिदा द्वारा मार्टिन हाइडेगर के अध्ययन से ज्ञान के क्षेत्र में एक आन्दोलन की शुरूआत हुई, जिसे विखंडनवाद के नाम से जाना गया। देरिदा ने कांट, हीगल, मार्क्स, कीर्केगार्ड, नीत्से के साथ-साथ काफ्का, और सास्यूर जैसे अनेक विचारकों पर फ्रेंच भाषा में लिखा है। उन्होंने सारी दुनिया की यात्रा की और अपने विचारोत्तेजक व्याख्यानों से बहुत प्रसिद्धि हासिल की। लेकिन सबसे ज्यादा लोकप्रिय 'डीकंस्ट्रक्शन' की अवधारणा ने दिलाई। हापिंकस विश्वविद्यालय में देरिदा ने एक पर्चा पढ़ा जिसके बाद तेजी से साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में विखंडनवाद उभरा और अमेरिकी समीक्षा में छा गया।

इसके अलावा विखंडनवादी सिद्धांत के बार में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''विखंडनवाद एक दार्शनिक सिद्धांत के बजाए पाठ को पढ़ने की एक शैली है। इसमें माना गया है कि कोई लेखक जब अपने पाठ का निर्माण करता है तो वह अपने परिचित दूसरे पाठों के आधार पर ऐसा करता है और जब पाठक किसी पाठ को पढ़ता है तो वह ठीक लेखक वाली प्रक्रिया से गुजरता है। इसलिए इस प्रक्रिया में जो पाठ निर्मित होता है वह निश्चित रूप से उस पाठ से भिन्न होता है, जिसे लेखक ने लिखा था। इस

कारण यदि कोई पाठक किसी पाठ को पूरी तरह प्राप्त कर लेने की बात सोचता है तो वह व्यर्थ है, क्योंकि बहुत से पाठों के आधार पर निर्मित किसी 'पाठ' का अर्थ हमारे नियंत्रण के बाहर होता है। इसलिए प्रत्येक पाठक किसी पाठ को पढ़ने की प्रक्रिया में एक दूसरा पाठ निर्मित करता है। इस तर्क के अनुसार सांस्कृतिक जीवन भी बहुत से पाठों की एक श्रंखला है, जिसमें बहुत-से पाठ दूसरे बहुत-से पाठों के साथ प्रतिच्छेद करते हुए और अधिक पाठों को निर्मित करते हैं।''[66] तो वहीं विखंडनवाद के बारे में पाल द मान लिखते हैं ''विखंडन के बाद परंपरागत टीका शास्त्र और इतिहास दोबारा साहित्य में फिर लौट सकते हैं। 'ऑफ ग्रामेटोलोजी' 'दमित' की वापसी की किताब है।''[67] साथ ही देरिदा तो हर दबे हुए तत्व की वापसी चाहते हैं और पश्चिमी दर्शन के दबे हुए हाशियों को दिखाते हैं। यह 'दबे हुए तत्व' की खोज अचानक नहीं है और न ही अप्रत्यक्ष की तलाश है, बल्कि देरिदा की नजर में तत्वमीमांसा को खोलने के लिए आवश्यक है। देरिदा बताते हैं कि प्लेटो, अरस्तू तथा हीगेल यही मानते हैं कि वाक् प्राकृतिक है, प्राथमिक है, स्वाभाविक है। इसलिए उनकी नजर में हर वह चीज संदेहास्पद है जो लिखित है। देरिदा इसी अवधारणा का विखंडन करते हैं और बताते हैं कि जिसे वाक् कहा जा रहा है उसमें भी ध्वनि के अलावा, विराम चिह्न, अन्वय चिह्न होते हैं जो सिद्ध करते हैं कि वाक् में भी 'लिखित' रहता है।

इस तरह अनिश्चितिता के इस सिद्धांत के बारे में सुधीश पचौरी लिखते हैं ''देरिदा पर कोई भी समग्रतावादी काम इसलिए असंभव है कि देरिदा का विखंडन स्वयं शब्दार्थ के अनिश्चय और नीति के भाव को बार-बार रेखांकित करता है। इसीलिए उसका कोई एक अर्थ, एक परिभाषा निश्चित नहीं होती और इसीलिए वह अभी तक कुंजी बनने से बचा हुआ है। चूँकि देरिदा के यहां भेद और स्थगन लगातार रणनीति बनाते हैं इसलिए वे असहमतियाँ और फतवों-फैसलों के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ते। वे हरेक टैक्सट को संदेह से शुरू करते हैं। देरिदा का मानना है कि शब्द का अर्थ कहीं भी भाषा के अन्वय में वर्तमान नहीं होता। अर्थ हमेशा फिसलता है, उसमें फिसलन रहती है। भेद और स्थगन यहां सिद्धांत नहीं हैं और न ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ निश्चित हुए किसी शब्दकोष में कैद हैं। वे ऐसे शब्द हैं जो हर टैक्स्ट के व्यंजकों की श्रृंखला में सक्रिय रहते हैं जो लगातार भाषा और प्रतिनिधिकता की श्लिष्टता और निश्चित को अतिक्रांत और आक्रांत करते रहते हैं।''[68]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विखंडन से पहले अब तक मौजूद साहित्य की सैद्धांतिकी में समीक्षा दोयम दर्जे का ही काम मानी जाती रही है। अब तक दर्शन के मुकाबले साहित्य हाशिए पर ही रहा है, समीक्षा रचना के मुकाबले हमेशा दूसरे दर्जे की नागरिक मानी जाती रही है। विखंडन बताता है कि आलोचना, रचनात्मक साहित्य की गुलाम नहीं है। रचनाकार स्वयं को बड़ा या ऊँचा ही मानते आए हैं लेकिन विखंडन ने उनकी यह सुपीरियटी धराशायी कर दी है। इस संदर्भ में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''देरिदा ने पहली बार साहित्य को दर्शन से भी बड़ा सिद्ध किया है। अपने विखंडन में उन्होंने यह बताया है कि साहित्य दर्शन है, सोचने का एक तरीका है। इस अवधारणा से तमाम परंपरावादी सिद्धांत खंडित होते हैं। विखंडन मानता है कि आलोचना लेखन का एक तरीका है, जो किसी चीज में से किसी चीज को खोजता नहीं है बल्कि उस टैक्स्ट में अर्थ का निर्माण भर करता है

जिससे वह संलग्न होती है। इसलिए वह रचना की तरह रचनात्मक है। जिस तरह रचना टैक्स्ट में अर्थ का निर्माण करती है, उसी तरह आलोचना टैक्स्ट में 'अर्थ का निर्माण' करती है। इसलिए रचना और आलोचना, 'अर्थ निर्माण के दो तरीके' हैं। बड़े-छोटे नहीं हैं।''[69]

(2.1.11) संरचनावाद

संरचनावाद अंग्रेजी शब्द स्ट्रक्चरलिज्म (Structuralism) का हिंदी पर्याय माना जाता है। संरचनावाद सबसे पहले पाश्चात्य समीक्षा जगत से हिंदी में आया। यह 1960 के दशक के फ्रांस में विकसित बौद्धिक विश्लेषण एवं चिंतन की वह पद्धति है जिसे विश्व स्तर पर भाषाविदों, साहित्य समीक्षकों, दार्शनिकों, मनोविज्ञान शास्त्रियों तथा नृविज्ञान शास्त्रियों का उत्साहवर्द्धक समर्थन मिला। डॉ. अमरनाथ इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं ''यह आज की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और व्यापक बौद्धिक व्यवस्था या पद्धति है, जिसकी व्याप्ति में जीवनविज्ञान, अर्थशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, साहित्य आदि को समेटा जा सकता है। हर वस्तु का एक अवयव होता है, उसके अपने घटक होते हैं, उन घटकों के अपने पारस्परिक संबंध होते हैं। प्रत्येक घटक एक ओर दूसरे घटक से संबंद्ध होता है तो दूसरी ओर पूरे अवयवी के साथ। इसके विवेचन की एक पद्धति होती है जिसे 'संरचनावाद' का नाम दिया गया है।''[70]

एक अवधारणा के अनुसार संरचना को बौद्धिक चिंतन की विषय-वस्तु अरस्तू ने 'पालीटिक्स' में बनाया था। 17वीं सदी में इसका प्रयोग 'बनावट' तथा 18वीं और 19वीं सदी में भौतिक तथा प्राणि जगत की कार्य प्रणालियों को समझने के लिए किया जाने लगा। संरचनावाद को पद्धति के रूप में स्थापित करने का श्रेय स्विस भाषाविद फार्डिनेन्ड सास्योर (Ferdinand de Saussure, 1857-1913) को जाता है। सास्योर ने संरचनावाद का सिलसिलेवार ब्यौरा अपनी प्रसिद्ध कृति 'कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स (Course in General Linguistics) में प्रस्तुत किया। जिसका प्रकाशन मरणोपरान्त उनके शिष्यों ने किया। सास्योर के अनुसार भाषा के दो रूप हैं, एक 'लांग' (Langue) और दूसरा 'परोल' (Parole)। 'ल लांग' को अंतर्वैयक्तिक भाषा व्यवस्था कह सकते हैं। 'ल परोल' को व्यक्ति-विशेष की भाषा कहा जा सकता है। 'लांग' अंत:संबंधित प्रतीकों की ऐसी सामान्य व्यवस्था है, जो पूरे समाज में वैचारिक सम्प्रेषण संभव बनाती है। यह व्यवस्था भाषा समुदाय के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य है। परोल का क्षेत्र सीमित है, व्यक्ति भेद से उसका रूप बदल जाता है। राम का 'परोल' श्याम से भिन्न होगा। 'परोल' की परिवर्तनशीलता के कारण उसका वैज्ञानिक अध्ययन करना कठिन है। 'लांग' के ही नियमों से परोल नियंत्रित होता रहता है। 'परोल' के रूप में ही 'लांग' खंडश: अभिव्यक्ति पाता है। 'परोल' के आधार पर भाषा के नियमों का अनुसंधान ही संरचना है। दूसरे शब्दों में भाषा संकेतों की एक प्रणाली है, इसकी अपनी एक संरचना होती है। 'भाषा संकेतों की एक प्रणाली है' इसे समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि प्रत्येक संकेत के दो पक्ष या दो भाग होते हैं, पहला संकेतक (Signifier) और दूसरा संकेतित (signified)। इन दोनों (संकेतक और संकेतित) से मिलकर किसी चिह्न या प्रतीक की रचना होती है। कहने का मतलब यह है कि संकेतक का अर्थ संकेत देने वाली किसी

भौतिक वस्तु से है जो संकेत देकर हमारे व्यवहार को प्रभावित एवं परिचालित करती है। जैसे चौराहे पर लगी हरी लाल बत्तियां। लाल बत्ती के जलने से हम रूक जाते हैं और हरी बत्ती के जलने पर हम चलने लगते हैं। संकेतित से तात्पर्य उस अर्थ से है जो अर्थ संकेतक को समाज देता है। उपर्युक्त उदाहरण में लाल रंग को खतरे के अर्थ में परिभाषित किया गया है। यह अर्थ समाज द्वारा दिया गया है।

संरचनावाद के दूसरे बड़े स्तम्भ लेवी स्ट्रास (Claude Levi-Strauss, 1908) हैं। स्ट्रास ने संरचनावाद का इस्तेमाल सांस्कृतिक परिदृश्यों जैसे मिथकों, रक्त संबंधों, साहित्यिक कृतियों को समझने के लिए किया। स्ट्रास के अनुसार मूल मिथक 'लांग' है तो उसके अलग-अलग रूप 'परोल'। उनका मानना है कि चिह्न प्रत्येक संस्कृति में पाये जाते हैं चाहे उसे कितना ही पिछड़ा कहा जाता रहा हो। और चिह्नों को समझने का कोई निर्धारित तरीका नहीं है। वस्तुत: कोई भी सांस्कृतिक चिह्न एक से अधिक व्याख्या के लिए उन्मुक्त हैं। इन चिह्नों के बीच पारस्परिक संबंध हैं किंतु उन्हें केवल अमूर्त स्तर पर ही देखा जाना चाहिए। इस तरह मिथकों का अध्ययन करते समय स्ट्रास ने पाया कि मिथक चिह्नों की व्यवस्था का ही अटूट अंग हैं तथा अक्सर मिथकों के प्रवर्तक भी उनके छिपे अर्थों को नहीं जान पाते हैं क्योंकि मिथक की संरचना के अंदर कई समानांतर तथा परस्पर विरोधी चिह्न विद्यमान हैं। मिथक के अलग-अलग रूपों के सिद्धांत को रोलॉ बार्थ (Roland Barthes, 1915-1980) ने पर्याप्त प्रश्रय दिया है। उन्होंने सास्योर के विचारों का प्रयोग भाषा के अतिरिक्त जीवन के हर क्षेत्र जैसे कुश्तियों की प्रतियोगिताओं, टी. वी. के धारावाहिकों, पाक कला, फैशन आदि में भी किया है।

फूको, अल्थूसर, लाकॉ आदि ने अपने-अपने ढंग से संरचनावाद पर विचार किया और उसे एक पूर्ण शास्त्र का दर्जा प्रदान किया। रोलां बार्थ ने 'संस्कृति' को भी भाषा माना तथा संस्कति धर्मी साहित्य की व्याख्याएं संभव कीं। भाषा के ऐसे चिह्न चुनकर जो संस्कृतिमूलक हैं संरचना की दृष्टि से विश्लेषित-विवेचित किये जा सकते हैं। संरचनावाद के सूत्रों को समझाने के लिए उन्होंने 'द फैशन सिस्टम' नामक पुस्तक में लिखा है '''संरचना' के बाहर बोध नहीं है। अर्थ लेखक के पास नहीं होता, पाठ की संरचना में निहित रहता है।''[71] बार्थ 'पाठ' को फैलाने के पक्षधर हैं। शब्द, पद, वाक्य, मुहावरा आदि से पाठ की संरचना होती है। साहित्य-निर्माण में पांच नियम काम करते हैं - व्याख्या, चिह्न संहिता, प्रतीकात्मकता, क्रिया व्यापार संहिता, सांस्कृतिकता। ये पांचों नियम एक ऐसा जाल बनाते हैं जिसमें होकर सारा पाठ गुजरता है। उस प्रक्रिया की पकड़ ही संरचनावाद है। 'संरचनावाद' के अनुसार हमें साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट एकता से युक्त संपूर्ण संरचना के रूप में देखना होता है। यह संपूर्ण संरचना पर्त-दर-पर्त इतनी जटिल होती है कि इसे अदभुत उपसंरचनाओं-ध्वनि, छंद, बिंब, पद-विन्यास आदि गुम्फ के रूप में देखा जा सकता है। कृति विशेष की जटिल संरचना के विश्लेषण से प्राप्त सिद्धान्तों के आधार पर अंतत: साहित्य मात्र की रचना के मूल सिद्धांतों का अन्वेषण संरचनावाद का लक्ष्य है। इसके साथ ही संरचनावादी उन मानसिक क्रियाओं का अन्वेषण भी करना चाहता है जो कृति विशेष को पढ़ते समय उसे समझने के प्रयत्न में पाठकों द्वारा निष्पादित होती है। इतना होने पर भी संरचनावाद के

लिए रचना केवल शाब्दिक या भाषिक संरचना है। इसलिए रचानाकार के वैचारिक-भावात्मक अभिप्राय का विवेचन संरचनावाद के अन्तर्गत नहीं आता।

इसके अलावा मार्क्सवादी परंपरा में भी संरचनावाद को तरजीह दी गई है। जिसका श्रेय लुई अल्थ्यूसर (Louis Althusser, 1918-1990) को जाता है। सास्योर के इस विचार ''भाषा एक सामाजिक तथ्य है जिसका अस्तित्व भाषा के प्रयोगकर्ता के अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों से स्वतंत्र होता है''[72] ने अल्थ्यूसर को आकर्षित किया। लेवी-स्टार्स के विचारों से भी उन्हें बल मिला। उन्होंने एक विज्ञान के रूप में मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की पुनर्रचना करने में संरचनावादी अवधाराणाओं का प्रयोग किया है। अल्थ्यूसर के संरचनावाद में उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद के कुछ मुद्दों का पूर्वाभास मिलता है जिनका प्रभाव उनके दो प्रतिभावान विद्यार्थियों-जाक देरिदा और माइकेल फूको के विचारों में प्रतिबिंबित होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि संरचानावाद का झुकाव रूपवाद की तरफ होता है। इस तरह संरचनावाद एक ऐसा वाद है जो लेखकीय अथवा आलोचकीय अनुभव को अकारथ और गौण मानता है और पाठ-निर्माण, पाठ-संरचना में छिपे तथ्यों को उजागर करने का प्रयास करता है।

(2.1.12) उत्तर-संरचनावाद

उत्तर-संरनावाद शब्द अंग्रेजी के 'पोस्ट स्ट्रक्चरलिज्म' के लिए लिखा जाता है। कुछ विद्वान इसे संरचनावाद का अगला चरण मानते हैं और कहते हैं कि इन दोनों को वैसे नहीं अलगाया जा सकता जैसे आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद को अलगाया गया है। संरचनावाद कुछ विशिष्ट विचारों का गुंफ है जो कई अनुशासनों जैसे इतिहास, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य आदि पर लागू किया जाता है। इसे स्थापित करने के लिए पांच फ्रांसीसी विचारकों की प्रमुख भूमिका मानी जाती है, वे क्लाडेलेवी स्त्रास, माइकेल फूको, रोलां बार्थ, लुई अल्थयुसर और जैकियस लकन हैं। सास्यूर द्वारा विश्लेषित भाषिक संरचना इसके केन्द्र में है। सास्यूर की बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक 'कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स' 1960 में प्रकाशित हुई थी। तीन दशकों तक इसका प्रभाव रहा फिर नवें दशक में इसका प्रभाव घटना शुरू हुआ तथा इसका स्थान उत्तर-संरचनावाद ने ले लिया। इस तरह इसकी जन्मभूमि फ्रांस ही मानी जाती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि नव-संरचनावाद के आगमन की औपचारिक घोषणा 1966 में ही हो गई थी। जॉन हॉपिकन्स विश्वविद्यालय ने फ्रांसीसी दार्शनिक जॉक्स देरिदा को एक संगोष्ठी में आमंत्रित किया था जिसमें उन्होंने अपना पर्चा 'स्ट्रक्चर साइन एंड द प्ले इन द डिस्कोर्स ऑफ द ह्यूमन साइंस' पढ़ा था। इस तरह देरिदा के चिंतनपरक लेखन ने संचरनावाद की स्थापना की थी। इसके बाद पाल डी मन ने इसे और विकसित किया। उत्तर-संरचनावाद आज के बौद्धिक वातावरण का महत्वपूर्ण स्वर माना जाता है साथ ही यह उत्तर-औद्योगिक युग की उपज माना जाता है। यह उत्तर-आधुनिक समय का ऐसा उत्पाद है जो विखंडन पर बल देता है। कृति विशेष की जटिल संरचना के विश्लेषण से प्राप्त सिद्धांतों के आधार पर अंतत: साहित्य मात्र की रचना के मूल में सिद्धांतों का अन्वेषण

संरचनावाद का लक्षण है । संरचनावाद के लिए रचना मूलत: शाब्दिक या भाषिक संरचना होती है । इसलिए रचनाकार के वैचारिक-भावात्मक आभिप्राय का विवेचन प्राय: संरचनावाद के अंतर्गत नहीं आता।

यद्यपि संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद दोनों भाषिकी से संबद्ध हैं और भाषा पर ही अपने-अपने तरीके से विमर्श करते हैं पर संरचनावाद में भाषा को एक मॉडल के रूप में उसकी प्रस्तुति पर ज्यादा जोर दिया जाता है। लेकिन उत्तर-संरचनावाद में इस पर और अधिक बल दिया जाता है। सास्यूर के अनुसार 'भाषा अर्थ को उन्मूलित करती है' जिसे देरिदा स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार अर्थोन्मूलन का अभिप्राय है कि अर्थ शब्द से पहले रहता है। देरिदा का कहना है कि भाषा अर्थ की सृष्टि करती है। भाषा के बाहर कुछ भी नहीं है। इस तरह उत्तर-संरचनावाद में सारा बल पाठ पर ही दिया जाता है। पाठ की सामान्य और गहन संरचना में ही सब कुछ निहित है। समीक्षा पाठ केन्द्रित ही होती है। इसलिए पॉल डी मन ले लिखा है ''काव्य-पाठ में ही आलोचना निहित रहती है। आलोचना की पद्धति, उसकी प्रक्रिया, उसके प्रतिमान हमें 'टैक्स्ट' में खोजने चाहिए।''[73] उत्तर-संरचनावाद पाठ के बाहर के किसी प्रतिमान या आदर्श सिद्धांत को पाठ-समीक्षा के लिए अनावश्यक मानता है।

इसके अलावा उत्तर-संरचनावाद स्त्रीवादी दृष्टि को भी बड़ा महत्व देता है। इस संदर्भ में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं ''उत्तर-संरचनावाद ने 'स्त्री-पाठ' पर भी बल दिया है। 'स्त्री-पाठ' से अभिप्राय है कि किसी 'पाठ' को औरत की तरह पढ़ना । इस पुरुष प्रधान समाज में साहित्यिक पाठ को अब तक पुरुषवादी मनोवृत्ति से ही पढ़ा जाता रहा है अब 'स्त्रीवादी' दृष्टि से पढ़ने पर बल दिया गया है।''[74] इसके तरह पाठ को स्त्री की दृष्टि से पढ़ने पर जोर देते हुए उत्तर-संरचनावाद 'पाठ' के उन स्थलों को भी बड़ा महत्व देती है जिनसे पाठक या आलोचक पूर्णत: अनभिज्ञ होता है इन्हें अज्ञात स्थल कहा जाता है । चूँकि इन स्थलों को बार-बार पढ़ने पर हर बार नए अर्थों का संधान होता है, इसलिए उत्तर-संरचनावादियों के लिए ये पाठ के अत्यंत महत्वपूर्ण अंश होते हैं।

इसके साथ ही उत्तर-संरचवाद की प्रमुख विशेषताएं पाठ की समीक्षा अथवा व्याख्या के सिद्धांत की प्रधानता है, लेकिन व्याख्या के पहले आलोचक को अपने तेवर और रणनीति के बारे में खुलासा पहले कर देने पर बल देता है। पहले यह कहा जाता था कि रचनाकार बड़े जतन से पाठ को अर्थपूर्ण बनाता है। उत्तर-संरचनावाद इस तर्क को स्वीकार नहीं करता है। संरचनावाद पहले ही लेखक की सत्ता को अस्वीकार कर चुका था। उत्तर-संरचनावाद एक कमद और आगे बढ़ गया, वह किसी भी केन्द्र को या पाठ में निहित नियंत्रक-संहिता को स्वीकार ही नहीं करता। रचनाकार के विकेन्द्रीकृत होते ही पाठ का एक मात्र व्याख्याकार पाठक हो गया। पठन का अर्थ है चिह्नों के अन्तर्संबंधों की व्याख्या करना। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में लेखक ने किस उद्देश्य से पाठ लिखा है या फिर वह पाठ में क्या कहना चाहता है-निरर्थक हो गया। पाठक निडर होकर पाठ के अन्दर प्रवेश करता है तथा उसकी व्याख्या की

उन सीमित संभावनाओं को टटोलता है । उत्तर-संरचनावाद व्याख्या प्रक्रिया के बाहर खड़े होने का दिखावा करता है मगर हकीकत में उसका उद्देश्य व्याख्या पर नियंत्रण स्थापित करना है।

इस तरह पाश्चात्य जगत के उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों के तौर पर हम मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, यथार्थवादी, मनोविश्लेषणवादी, शैली विज्ञानवादी, रूसी रूपवादी, आधुनिकतावादी, नई समीक्षावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, विखंडनवादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी सिद्धांतों को देख सकते हैं और कह सकते हैं कि पाश्चात्य जगत में उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों की एक लम्बी और समृद्ध परंपरा दिखाई देती है।

(2.2) हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धांत

उपन्यास जीवन के व्यापक रूप का चित्रण करता है । समकालीन समय, समाज के निरीक्षण की सूक्ष्मता और भव्यता उपन्यास में अंकित की जाती है । उपन्यास विधा की जीवन के साथ निकटता प्रतापनारायण टंडन के कथन में साफ झलकती है, वह लिखते हैं ''उपन्यास शब्द 'उप' तथा 'न्यास' के योग से बना है, जिनके अर्थ क्रमश: 'समीप रखी हुई वस्तु' अर्थात् ऐसी कृति जो हमें अपने जीवन के निकट प्रतीत हो । 'न्यास' का अर्थ यदि रखना, स्थापना अथवा प्रतिषा माना जाय तो उपन्यास उस कृति को कहेंगे जो जीवन के किसी कथात्मक रूप को हमारे निकट रखे ।''[75] इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक घटनाओं और जीवन का व्यापक रूप उपन्यास विधा में मिलता है । मानव जीवन के बाह्य जगत के विवरण के साथ मानव मन की गहराइयों की अभिव्यक्ति उपन्यास में होती है।

उपन्यास के सामान्य गुणों के बारे में चर्चा करते हुए बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं - ''उपन्यास तो प्रौढ़ बुद्धि युवा जनों के मन रमाने वाली गुटिका है जिसका मुख्य अंग श्रृंगार रस है । इसी कारण यह Immoral असत् काव्य समझा जाता है, बिना इसके यह ऐसा भासित होता है जैसा सर्वांग सुन्दरी रमणी की किसी ने नाक काट लिया हो । बन्दिश 'परिक्षा गुरु' की निस्सन्देह बहुत उत्तमोत्तम और यथार्थ है पर इसकी भाषा की रुखाई और निरा उपदेश वाक्य पढ़ते-पढ़ते जी ऊब जाता है इसी से हमने लिखा है कि नावेल Immoral असत्-उपदेशक होकर भी बुरे और भले पात्रों के चरित्र का बराबर में मुकाबिला करते अन्त में भले पात्र को उपन्यास के किस्से का मुख्य नायक बनाए ।''[76] यहाँ पर बालकृष्ण भट्ट की उपन्यास पर स्थापना से यह साफ पता चलता है कि उन्होंने उपन्यास की भाषा तथा आदर्श एवं भले पात्रों को नायक के रूप में देखना चाहा है और उसी को महत्व दिया है न कि समाज के यथार्थ को । इसीलिए बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में परीक्षा गुरु उपन्यास बोझिल लगता है।

और तो और महावीर प्रसाद द्विवेदी जी तो उपन्यास को समाज में शिक्षा देने का एक बेहतर माध्यम तक मान लेते हैं। उनके अनुसार घटना-विस्तार तथा पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण करने के लिए आवश्यकता पड़ने पर मानस-शास्त्र की भी सहायता ले लेनी चाहिए ताकि उपन्यास पूरे जातीय जीवन का मुकुर बन सके । इसलिए वे लिखा है – ''घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार जरूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवी मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके ।...उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए । उसकी सहायता से

सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाए जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती।''[77]

वहीं दूसरी तरफ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने लेख 'उपन्यास और कहानी' में यह बताने की कोशिश की है कि उपन्यास में क्या प्रधान होने पर उसमें कैसी तब्दीली या बदलाव आता है या यूँ कहें कि वह उपन्यास किस प्रकार का उपन्यास बन जाता है। अत: उपन्यासों की प्रवृत्ति कैसे बदल जाती है इस पर चर्चा करते हुए वे लिखते हैं ''उपन्यास में ये छ:बातें रहती हैं। शास्त्रीय भाषा में इन्हें क्रमश: (1) पात्र, (2) कथा-वस्तु, (3) कथोपकथन, (4) देश-काल, (5) शैली और (6) उद्देश्य कहते हैं। उपन्यास के इन छह तत्वों में से कभी-कभी एक या दो तत्व प्रधान हो जाते हैं। उनकी प्रधानता के अनुसार उपन्यासों के भिन्न-भिन्न भेद हो जाते हैं। उदारहण के लिए, जिन उपन्यासों में पात्रों की प्रधानता होती है वे चरित्र-प्रधान और जिनमें घटना की प्रधानता होती है उन्हें घटना प्रधान उपन्यास कहते हैं। अन्यान्य बातों की प्रधानता भी उनके नाम पर ही प्रसिद्ध होती है।''[78] इस प्रकार उन्होंने यहाँ पर उपन्यासों के दो प्रकार बताए हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी आगे उपन्यासकार की रचना कुशलता उसके दृष्टिकोण ईमानदारी, संवेदशीलता तथा उसके एकात्मता की अनुभूति को महत्व देते हुए लिखते हैं ''हम उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटना-विकास की चतुराई, पात्रों के सहज स्वाभाविक विकास की सच्चाई और अपने निजी दृष्टिकोण की ईमानदारी के कारण मनुष्यमात्र के साथ एकात्मत: अनुभव करते हैं, दूसरे दुख-सुख में अपनापन पाते हैं, इस प्रकार हमारा हृदय संवेदशील और आत्मा महान बनती है। हम पहले तय कर चुके हैं कि यह एकात्मता की अनुभूति साहित्य का चरम साध्य है।''[79]

इसके साथ ही उपन्यास के शैली पर भी हिंदी के आलोचकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह सच है कि उपन्यास की भाषा-शैली के साथ-साथ उसके कहन का भी बहुत महत्व होता है और उपन्यास आलोचना के प्रारम्भिक दौर में तो उपन्यास की संरचना, उसके चरित्र-चित्रण, उसमें निहित घटनाओं के साथ-साथ उसमें अभिव्यक्त विषयवस्तु पर चर्चा की एक लंबी परंपरा रही है। इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं ''सच तो यही है कि उपन्यास कविता नहीं है, इसलिए वर्णन उसका आवश्यक अंग है। पर वर्णन अब साध्य नहीं, साधन अधिक है, क्योंकि प्रधान है अनुभव का संपुंजन और संप्रेषण। उसी सीमा तक वर्णन को अब हल्का होना चाहिए, तभी वह उपन्यास के पूरे विधान में रचनात्मक सहायता दे सकता है। इसलिए पहले से अधिक आवश्यक हो गया है कि उपन्यास में वर्णन और संप्रेषण दोनों की भाषाओं का आनुपातिक प्रयोग हो।''[80] इसके अलावा उपन्यास के संरचनात्मक गठन के बारे में विस्तारपूर्वक एवं तर्कपूर्ण ढंग से विश्लेषण करते हुए प्रो. गोपाल राय अपनी पुस्तक 'उपन्यास की संरचना' में लिखते हैं ''उपन्यास की संरचना का विषय से अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध होता है। विषय से अलग संरचना की कल्पना असम्भव है, उसका अस्तित्व ही विषय सापेक्ष होता है। यद्यपि कुछ आलोचक विषय को ही रूप का अनुवर्ती मानते हैं पर यह मान्यता तर्क संगत नहीं है। विषय के बिना रूप का अस्तित्व उसी प्रकार संभव नहीं है जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का। यदि द्रव्य

(मैटर) को भी मूल तत्व मानें तो उसका रूपायन नाना प्रकार की वस्तुओं में होता है। इससे रूप का ही विषय का अनुवर्ती होना सिद्ध होता है। इसके साथ यह भी कम सच नहीं है कि संरचना की विशिष्टता के चलते ही विषय-विशेष को वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। विषय और संरचना दोनों परस्परावलम्बी हैं।''[81]

उपन्यास की संरचना के साथ-साथ उसके विषय का चुनाव भी बड़ा महत्व रखता है। विषय के चुनाव से उपन्यास के ढांचे पर भी प्रभाव पड़ता है। विषय के अनुरूप ही उसकी रचना-प्रक्रिया भी भिन्न होती है। एक उन्यासकार के लिए उपन्यास के विषय के चुनाव से लेकर उसके प्लाट तक उसे बहुत सवालों से जूझना होता है तब जाकर कहीं अच्छे उपन्यास की रचना हो पाती है। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में प्रेमचंद अपने लेख 'उपन्यास-रचना' में लिखते हैं ''उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शनशास्त्र के ग्रंथ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम, कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना का चित्रण करे लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसंद कर लेता है। विषय विर्धारित हो जाने के पश्चात उसे प्लाट की चिंता होती है। वह सोता या जागता, चलता हो या बैठा, उसी चिंता में डूबा रहता है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीना, बरसों लग जाते हैं। इस चिंता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तम उसकी रचना होगी।''[82] इससे स्पष्ट है कि एक उपन्यासकार को उपन्यास की रचना करने के लिए कितने यत्न करने पड़ते हैं। उपन्यास के विषय से संबंधित ही प्रेमचंद ने अपने दूसरे लेख 'उपन्यास के विषय' में लिखा है ''उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका संबंध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उसके देवत्व और पशुत्व , उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।''[83] कुल मिलाकर प्रेमचंद उपन्यासों के विषय और विषयवस्तु को महत्व प्रदान करते हुए आदर्श की तरफ झुकते हुए दिखाई देते हैं।

इस तरह जब हिंदी उपन्यास आलोचना में संरचनात्मक ढाँचे से लेकर उसके उपकरणों पर बहस चल रही थी। उस समय जहाँ एक तरफ डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने चरित्र-चित्रण को घटनाओं का संयोजन मानते हुए लिखा है ''उपन्यास का विश्लेषण करते हुए जो आलोचना लिखी गई है, उसमें इसके तीन नियामक तत्व आम तौर पर गिनाए गए हैं और ये हैं कथानक, चरित्र-चित्रण और परिवेश। इनमें से तीसरा तत्व इतना प्रतीकात्मक है कि इसे कुछ आधुनिक सिद्धान्तों में 'वातावरण' या 'टोन' की संज्ञा दी गई है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि ये तीनों तत्व एक-दूसरे का निर्धारण करते हैं। हेनरी जेम्स ने अपने लेख 'द आर्ट ऑफ फिक्शन' में ठीक ही प्रश्न किया है, ''चरित्र घटनाओं के संयोजन से अलग है ही क्या ? और घटनाएं चरित्र को उजागर करने से इतर क्या है ?''[84] जिसे नकारा नहीं जा सकता। वहीं दूसरी तरफ बच्चन सिंह उपन्यास की तकनीक को महत्व देते हुए उसे सही ठहराते हुए उन्होंने अपनी किताब 'उपन्यास का काव्यशास्त्र' में प्रेमचंद से लेकर जैनेन्द्र और अज्ञेय के द्वारा तकनीक पर कही गई बातों को भी उद्धृत किया है और वह निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं ''इधर के कुछ

उपन्यास टेक्नीक की नवीनता और मॉडर्निटी को लेते हुए भी पूरे तौर पर भारतीय हैं। उदाहरणार्थ – कितने पाकिस्तान, काशी का अस्सी, पहला गिरमिटिया। अभिप्राय यह कि तकनीक दुधारी तलवार है। इसके प्रयोग में अपेक्षित सावधानी बरतनी चाहिए।''[85] इस तरह बच्चन सिंह तकनीक को महत्वपूर्ण तो मानते हैं साथ में उसके प्रयोग के लिए सावधानी भी बरतने को कहते हैं जिससे एक सफल उपन्यास की रचना हो सके।

महावीर प्रसाद द्विवेदी मनोविज्ञान को उपन्यास लिखने में बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार बिना मनोविज्ञान को जाने-समझे उपन्यास के चरित्रों व पात्रों में स्वाभाविकता नहीं लायी जा सकती। इसीलिए वे लिखते हैं ''उपन्यासों में मनुष्यों के ही चरित्रों और मनुष्यों के ही कार्यों तथा उनसे संबंध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती है। अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, उसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्यकारण-संबंध का ज्ञान हो।...उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटना परिवेश और चरित्र –चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजन न होना चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखकों को मनशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अथवा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।''[86] महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो उपन्यास को लिखने के मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण माना है जबकि धर्मवीर भारती ने एक-कदम आगे बढ़कर अपने लेख 'उपन्यास और आत्मान्वेषण' में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों को महत्वपूर्ण मानते हुए उसका मूल्यांकन कर लिखा है ''मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में कई स्थलों पर व्यापक कला-दृष्टि उभर आती है और ऐसे स्थलों पर उपन्यासों का मानव-पक्ष सजीव हो उठता है।''[87] इसके अलावा इलाचंद्र जोशी ने अपने उपन्यास 'प्रेत और छाया' की भूमिका में फ्रायड के मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के बारे में विस्तारपूर्वक बड़ी ही गहराई से विश्लेषण करते हुए लिखा है ''आदिकाल से लेकर आज तक के विकास काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियां मानव अथवा पूर्व मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं, उनमें समयानुक्रम से संस्कार परिशोधन हुआ, वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में संचित होती चली गईं । विकास की प्रगति के साथ-ही-साथ परिशोधन वृत्तियों के भी पुन: परिशोधन होते चले गए। पर जिन प्रारम्भिक प्रवृत्तियों का परिशोधन हुआ और उस नए परिशोधन के पूर्व की वृत्तियां भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर आज्ञात ही रूप संचित हो गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रवर्तित होता चला गया। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियां और उनके संसार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने मन में अवश्य सफेदपोशी कर ली है, पर जिस परदे पर वह सफेदपोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा-सी बात में वह फट जाता है और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियां परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती है। इन मूल पशु-प्रवृत्तियों को

जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर के गेंद की तरह ऊपर उछाल मारने लगती हैं।''[88] कुल मिलाकर उपन्यास आलोचना का यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कुछ रुख बदलने लगा था। जो आलोचना सिर्फ उपन्यासों के संरचनात्मक ढांचे के सिद्धांतों पर टिकी थी अब वह उपन्यास आलोचना की तरफ मुड़ती हुई दिखाई देने लगी थी।

आलोचक रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'भाषा साहित्य और संस्कृति' में तो यहां तक लिख दिया है जिसे डॉ. नगेद्र अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में भी उद्धृत किया है ''पार्टी जन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान हो।''[89] यह वक्तव्य रामविलास शर्मा की सीमाओं को भले ही निर्धारित करता हो लेकिन वे यहाँ पर लेनिन के इस वाक्य 'दलीय-साहित्य' का पूर्णत: समर्थन जरूर करते हुए दिखाई देते हैं। यही वजह है कि उनको 'गोदान' जैसी कालजयी कृति के मूल में 'ऋण की समस्या' दिखाई देती है।

मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक नामवर सिंह प्रेमचंद की प्रगतिशीलता का हवाला देते हुए अपने भाषण में एक जगह कहते हैं ''प्रेमचंद की लड़ाई का मतलब था धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई, सेक्यूलरिज्म की लड़ाई। आजादी की लड़ाई से पहले साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि कुछ और थी। बँटवारे के बाद राही मासूम रजा ने 'आधा गाँव' लिखा तो शानी ने 'काला जल'। प्रेमचंद-साहित्य का एक विषय बहुत महत्वपूर्ण था साम्प्रदायिक सद्भाव का। चाहे मुस्लिम कट्टरतावाद हो या हिन्दू साम्प्रदायिकतावाद, वे दोनों का पुरजोर विरोध करते हैं। अमृतलाल नागर ने भी 'बूँद और समुद्र' लिखा है जो लखनऊ के आधार पर एक साम्प्रदायिक सद्भाव दिखाता है। प्रेमचंद तो महासागर थे। उतनी व्यापक भूमि तो किसी एक लेखक के पास नहीं है, लेकिन उसके हिस्से को लेकर प्रगतिशीलता की लड़ाई में आगे बढ़ने वाले लोग हिंन्दी और उर्दू दोनों में हैं।''[90] नामवर सिंह प्रेमचंद को सिर्फ सेक्यूलर ही नहीं रेखांकित करते हैं बल्कि उनकी पारखी व गहरी प्रगतिशील दृष्टि के बारे में भी आगे कहते हैं ''प्रेमचंद ने सन् 1930 के आसपास ऐलानिया तौर पर कहा था कि वे जो कुछ लिख रहे हैं वह स्वराज के लिए, उपनिवेशवादी शासन से भारत को मुक्त कराने के लिए लिख रहे हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि केवल जॉन की जगह गोविंद को बैठा देना ही स्वराज्य नहीं है, बल्कि सामाजिक स्वाधीनता भी होनी चाहिए। सामाजिक स्वाधीनता से उनका तात्पर्य साम्प्रदायवाद, जातिवाद, छुआछूत से मुक्ति और स्त्रियों की स्वाधीनता से भी था। इस अर्थ में वे स्वाधीनता की परिभाषा करते थे। उनकी प्रगतिशीलता का जो आधार था, उसे बहुत बुनियादी और क्रांतिकारी कहना चाहिए। उनकी रचनाओं पर नजर डालें तो उसमें जमींदार के खिलाफ गरीब किसानों की लड़ाई है। जाति व्यवस्था के खिलाफ दबे कुचले लोगों की लड़ाई है।''[91] इस तरह वह मार्क्सवादी विचारधारा को आधार बनाकर प्रेमचंद में ऐसे तमाम प्रगतिशील तत्वों को विस्तारपूर्वक हमारे सामने रखते हैं।

इसके अलावा मोहन राकेश ने उपन्यासों में यथार्थ पर बल देते हुए यथार्थवादी उपन्यासों को महत्वपूर्ण माना है और उसका मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वही उपन्यास मान्य होगा जिसमें यथार्थ

की शक्ति का परिचय प्राप्त हो सके। इसीलिए मोहन राकेश अपने लेख 'उपन्यास और यथार्थ चित्रण' में लिखते हैं ''वह उपन्यास तभी होगा जब उसके पात्रों द्वारा कहा गया एक-एक शब्द उनके जीवन की परिस्थितियों द्वारा उन्हें विवश करके कहलाया गया हो। तभी उसमें हम यथार्थ की शक्ति का परिचय पा सकते हैं। तब ये लंबे-लंबे भाषण भी हों तो वे रेडीमेड बाहर से लाकर वहाँ रखे गये प्रतीत नहीं होते।...हार्डी टाल्स्टाय, चेखव, शरत् और प्रेमचंद की रचनाओं की सबसे बड़ी शक्ति जीवन के स्थानीय रंगों की पहचान और उन्हें उनकी वास्तविकता में अंकित कर देने की योग्यता ही है।''[92] मैं समझती हूँ कि यथार्थवाद एक जीवन दृष्टि है जिसका प्रभाव पूरे साहित्य के साथ उपन्यासों पर भी पड़ा है। इसके साथ ही यथार्थवाद के प्रभाव के बारे में बात करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने उसे व्याख्यायित करने की कोशिश की है जिसको त्रिभुवन सिंह ने अपनी किताब 'हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद' में उद्धृत किया है। वह लिखते हैं ''महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिंबित करती है, अत: उसकी एक मात्र कसौटी ही उसका यथार्थवाद है।''[93] इस तरह शिवदान सिंह चौहान ने महान साहित्य की एक मात्र कसौटी के रूप में यथार्थवाद को देखा तो वहीं नंददुलारे बाजपेयी यथार्थवाद पर चर्चा करते हुए लिखते हैं ''यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तुजगत से है।''[94] इसी तरह डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं ''कला-क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है, जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।''[95] यहाँ पर न नंनददुलारे वाजपेयी की इस धारणा को अनदेखा किया जा सकता है कि यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तुजगत से है और न ही हजारी प्रसाद द्विवेदी की इस धारणा को कि यथार्थवाद अवस्था के अनुरूप अपने स्वरूप को बदलता रहता है, जो उपन्यास विधा में साफ देखा जा सकता है।

यह सच है कि उपन्यास में समाज जीवन की कहानी, चरित्र और उनकी मनोवृत्ति, हृदय की उन्मुक्त स्थिति आदि का अंकन स्पष्ट रूप से किया जाता है। उपन्यास जीवन का व्यापक और सूक्ष्म चित्र स्पष्ट करने के कारण समाजशास्त्रीय अध्ययन के अधिक निकट पहुँचता है। उपन्यास में समाज के समकालीन परिवेश के साथ, विचार, भाव आदि का रूप विस्तार से मिलता है। विषयवस्तु की सोच से उपन्यास और समाजशास्त्र में समानता दिखाई देती है। उपन्यास के सामजशास्त्र का एक-दूसरे से जुड़ाव स्पष्ट करते हुए मैनेजर पांडेय लिखते हैं ''अपने समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना का लक्ष्य है और समाजशास्त्रीय अन्वेषण का भी। एक उसकी कलात्मक पुर्नरचना का माध्यम है तो दूसरा उसके बौद्धिक विश्लेषण का साधन।''[96] इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की सामाजिकता, परिवर्तन, जीवन मूल्य आदि की पहचान उपन्यास के माध्यम से होती है। उपन्यास वर्ण्य विषय की व्यापकता, विषय चुनाव के सामाजिक आधार, व्यक्ति और समाज के संबंधों का विश्लेषण और जनजीवन के निरंतर परिवर्तन आदि कारणों से समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए निकटतम विधा उपन्यास है।

पश्चात्य जगत में साहित्य के समाजशास्त्र के विकास के आरम्भिक काल से ही उपन्यास के सामाजिक आधार, अर्थ और अभिप्राय की खोज होती आ रही है। उपन्यास के उदय काल से उसके रूप और अन्तर्वस्तु का ऐतिहासिक, सामाजिक स्वरूप साहित्य विचारकों को आकर्षित करता रहा है। मादाम स्तेल और हेगेल के चिंतन से उपन्यास के सामाजिक आधार और अभिप्राय पर विचार की जो परंपरा शुरू हुई थी, वह उपन्यास के विकास के साथ-साथ विकसित हुई है। विगत चार सदियों में पश्चात्य जगत में उपन्यास की कला में निरंतर निखार आया है, उसकी रचना दृष्टियों में भी विविधता आयी है और कलात्मक प्रयोगों की अनेक परंपराएं विकसित हुई हैं। मैनेजर पाण्डेय तो यह भी मानते हैं कि इन सबके समानांतर उपन्यास की समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए आवश्यक दृष्टियों और पद्धतियों की खोज भी होती रही है। इसी प्रक्रिया में उपन्यास के समाजशास्त्रीय विश्लोषण की अवधारणाओं और पद्धतियों का विकास हुआ है। वह अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में लिखते हैं ''उपन्यास की समाजशास्त्रीय व्याख्या की अनेक दृष्टियां और पद्धतियां हैं। सबसे पुराना दृष्टिकोण विधेयवाद का है, जिसका नया रूप अनुभववाद में दिखाई देता है। इसमें एक ओर उपन्यास के सामाजिक अस्तित्व को निर्धारित करने वाली भौतिक परिस्थितियों का विश्लेषण होता है तो दूसरी ओर उपन्यास के पाठकीय ग्रहण का विवेचन किया जाता है। उपन्यास के समाजशास्त्र का एक और रूप मार्क्सवादी विश्लेषण में मिलता है, जिसमें अंतर्वस्तु और रूप में निहित सामाजिक यथार्थ, चेतना विचारधारा आदि की खोज होती है।''[97]

इसके अलावा यह जगजाहिर है कि उपन्यास का आधुनिकता से संबंध जन्म से ही रहा है क्योंकि उपन्यास के उद्भव एवं विकास में आधुनिकता का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उपन्यास एक तरफ अपनी शक्ति से आधुनिक मनुष्य के आदर्श स्वप्न को अभिव्यक्त करता है तो दूसरी तरफ उसकी जटिल मिथकीयता को भी हमारे समाने नग्न रूप में पेश करता चलता है। इस संदर्भ में वैभव सिंह लिखते हैं ''आधुनिकता का अपना सर्वग्रासी स्ट्रक्चर रहा है, जिसकी अनंत भुजाओं में व्यक्ति की दासता की सैकड़ों कहानियां दबी हुई हैं। संपूर्ण स्वतंत्रता एक मिथ है और उपन्यास से बेहतर ढंग से इस मिथ को व्यक्त करने का शायद ही कोई अन्य माध्यम हो। इस अर्थ में उपन्यास की ऐतिहासिक शक्ति यह रही है कि वह आधुनिक मनुष्य के कई आदर्श स्वप्नों की कथा तो कहता है, पर उनकी जटिल मिथकीयता को भी उघाड़ देता है।''[98]

हिंदी उपन्यासों को आधुनिकता उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांतों के आधार पर भी जाँचने-परखने और मूल्यांकित करने की कोशिश हुई है। इस संदर्भ में सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श' के हिंदी साहित्य के उपन्यास विधा में अभिव्यक्त उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव की पहचान करते हुए लिखा है ''समकालीन हिंदी साहित्य के कुछ उत्तर-आधुनिक क्षणों को टटोला गया है, विखंडित किया गया है। कुरुकुरु स्वाहा, हरिया हरकुलीज की हैरानी, डूब, मुझे चाँद चाहिए' जैसे उपन्यासों का...उत्तर-आधुनिक पाठ किया गया है। इन रचनाकारों ने समकालीन हिंदी के विमर्श को बहुत दूर तक बदल दिया है। उनमें बहुत कुछ आधुनिक बचा हुआ है। अनेक जगह

आधुनिक तथा उत्तर-आधुनिक में हल्के तनाव यहां हैं। लेकिन ये वो लोग हैं जिनकी रचनाएं उत्तर-आधुनिक दृश्य को भरने वाली हैं।''[99]

इस तरह हिंदी उपन्यास आलोचना बहुत दिनों तक उपन्यास के उद्भव एवं विकास तथा तत्वों और उसके उद्देश्यों पर ही बहस करती रही। धीरे-धीरे यह उपन्यास आलोचना की तरफ तो मुड़ी लेकिन बाद में भी व्यावहारिक ही ज्यादा रही। इसलिए राजेन्द्र यादव उपन्यासों के अध्ययन, मूल्यांकन हेतु सिद्धांतों की चिंता व्यक्त करते हुए तथा हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों के कारणों पर लिखते हैं ''मेरा विश्वास है कि काव्य-समीक्षा के समृद्ध होने का कारण यह है कि वहां पुरानी कृतियों का बार-बार नए दृष्टिकोण से विश्लेषण-विवेचन हुआ है, व्याख्याएं और पुनर्व्याख्याएं हुई हैं...कथा समीक्षा में प्राय: ऐसा कम हुआ है। वहाँ उपन्यासों के अन्दर और बाहर की दुनियाओं की समीक्षाएँ तो बहुत हैं, मगर स्वयं उपन्यास की कला और बाहरी भीतरी यथार्थ के संबंधों के अन्त:क्रियाओं की पड़ताल या स्वरूप की पहचान कम है। शायद 'चंद्रकांता संतति' प्रसाद के उपन्यास या 'नदी के द्वीप' आदि समीक्षाएं मैंने इसी चिंता में लिखी हैं।''[100] राजेन्द्र यादव की इस बात से कुछ हद तक तो सहमत हुआ जा सकता लेकिन पूर्णत: नहीं क्योंकि यहाँ पर सवाल उठता है कि क्या किसी कृति या उपन्यास की मात्र व्याख्या एवं पुनर्व्याख्या करने से ही उसके मूल्यांकन के सिद्धांतों पर पहुँचा जा सकता है? उत्तर होगा, नहीं। अत : कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास आलोचना ने स्वयं कोई सिद्धांत विकसित करते हुए नहीं दिखाई देती है।

अत: हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य जगत में उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों की एक लम्बी एवं समृद्ध परंपरा है फिर चाहे वह मार्क्सवादी सिद्धांत हो या समाजशास्त्रीय सिद्धांत। जहाँ एक तरफ मार्क्सवादी सिद्धांत अर्थ को केन्द्र में रखकर उपन्यास का मूल्यांकन करता है तो वहीं दूसरी तरफ समाजशास्त्रीय सिद्धांत ने साहित्य को संस्था के रूप में मानकर लेखक, पाठक के साथ-साथ दोनों के बीच की प्रक्रियाओं को महत्व दिया। इसलिए इस पद्धति ने कृति में लेखक के द्वारा अभिव्यक्त समुदाय, संस्थाएं, उनकी संरचना, संरचना के परिवर्तन के कारण, उसका समुदाय के साथ अंत:संबंध आदि का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। साथ ही यथार्थवादी सिद्धांत उपन्यास में अभिव्यक्त समाज, संघर्ष, शोषण आदि को यथार्थ की भूमि पर मूल्यांकित करता है तो वहीं मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत ने रचना के पात्रों की मन:स्थितियों एवं अंत:प्रेरणाओं का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण माना है।

आधुनिकतावाद के प्रभाव से साहित्यिक कृतियों को पूर्णता की दृष्टि से नहीं, टुकड़ों-टुकड़ों में देखने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। जहाँ एक तरफ विखंडनवादी सिद्धांत ने अनिश्चितिता को मानते हुए समग्रता का खंडन किया और कहा कि पाठ का अर्थ अनिश्चित है। वहीं नई समीक्षा ने 'अर्थ-विधान' को सहायक और 'शब्द-विधान' को प्रधान मानकर ही साहित्य के विश्लेषण करने पर जोर दिया। रूपवादी सिद्धांत साहित्य के पारंपरित समीक्षादृष्टि से हटकर उसकी समीक्षा करने पर जोर देती है। उत्तर-आधुनिकता सार्वभौमिक समग्रतावादी सत्यों पर प्रश्न चिह्न लगाया। साथ ही संरचनावादी सिद्धांत 'संरचना' के बाहर

बोध नहीं मानते हुए कहा अर्थ लेखक के पास नहीं बल्कि पाठ की संरचना में निहित होता है। वहीं उत्तर-संरचनावादी सिद्धांत पाठ के बाहर के किसी प्रतिमान या आदर्श सिद्धांत को पाठ-समीक्षा के लिए जरूरी नहीं मानता। साथ ही वह 'स्त्री-पाठ' पर जोर देता है तथा 'पाठ' को औरत की तरह पढ़ने के लिए कहता है। इसके अलावा नयी समीक्षा की तरह शैली विज्ञान भी कृति को स्वायत्त मानती है और रचना को पूर्वाग्रहहीन, वस्तुनिष्ठ, व्यवस्थित भाषायी विश्लेषण कर उसके मर्म को उजागर करने पर अधिक बल देती है। इस तरह पाश्चात्य जगत में रचना या उपन्यास को मूल्यांकित करने के लिए बहुत सारे सिद्धांत सामने आये, जिसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहाँ आलोचना सिद्धांतों की एक लम्बी परंपरा दिखाई देती है।

दूसरी तरफ हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धांत तो न के बराबर ही हैं। पहले यहाँ उपन्यास आलोचना के नाम पर बहुत दिनों तक उपन्यासों के प्रमुख तत्वों पर ही बहस होती रही। बाद के समय में जब गंभीरतापूर्वक आलोचना शुरू हुई तो वह व्यावहारिक ही रही। जिस पर पाश्चात्य जगत के सिद्धांतों का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है फिर चाहे वह रामविलास शर्मा की उपन्यासिक आलोचना हो या प्रो. नामवर सिंह की और चाहे मैनेजर पाण्डेय, वैभव सिंह, त्रिभुवन सिंह, सुधीश पचौरी ही क्यों न हों सभी के आलोचना की एक जैसी ही हालत है। कुल मिलाकर हिंदी उपन्यास आलोचना में सैद्धांतिक पक्ष नदारद है।

संदर्भ सूची

1. उपन्यास कला और सिद्धांत, विनोद कुमार व अजय आनंद, (सं.) पृ. सं. – 8
2. Marx a very short introduction, Peter singer, pg. - 08
3. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल, डॉ. पारसनाथ मिश्र, पृ.सं. – 17
4. मार्क्सवाद, यशपाल, पृ. सं. - 44
5. Marx Engels Lenin on scientific communism, Marx, Karl, pg. 36
6. मार्क्सवाद, यशपाल, पृ. सं. - 51
7. The Social and Political thought of Karl Marx – Shlomo Avineri, pg. 115
8. मार्क्सवाद, यशपाल, पृ. सं. - 59
9. on the Communist Menifesto, Harold J. Lasley, pg. 142-143
10. आलोचना – अप्रैल – 1970, पृ सं. - 47
11. वही, पृ. सं. - 47
12. समाजशास्त्र विश्वकोश, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ. सं. - 259
13. साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. सं. - 1-2
14. वही, पृ. सं. - 8
15. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. – 227
16. वही, पृ. सं. – 228
17. नालंदा विशाल शब्दकोश, नवलजी, (सं.) पृ. सं. - 1407
18. समाजशास्त्र विश्वकोश, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, जयपुर, पृ. सं. - 258
19. नालंदा शब्दसागर, नई दिल्ली, नवल जी (सं.) पृ. सं. - 1407
20. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, निर्मला जैन, पृ. सं. - 01
21. sociology – 4- all. Blogspost.com/2009–home page (maxweber – theory of social and economic organisation) pg. – 80 date 20/01/16, time 4:00pm
22. sociology-4-all-blogspost.com/2009-home page (ogburn and nimkoff a handbook of sociology) pg. – 9,date 17/07/16, time 12:45pm
23. समाजशास्त्र विश्वकोश, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ. सं. - 260
24. वही, पृ. सं. - 254
25. साहित्य का समाजशास्त्र, अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति, डॉ. विश्वंभरदयाल गुप्ता, पृ. सं. - 62
26. Sorokin p. – contemporary – so…gical – theories, (pdf) pg. no. - 761
27. साहित्य का समाजशास्त्र :मान्यता और स्थापना, मेहरोत्रा, पृ. सं. - 34
28. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ . सं. - 66
29. साहित्य का समाजशास्त्र, गजानन चव्हाण, मधुमती, पूनम दहिया (सं.) 2000, मार्च, पृ. सं. - 50
30. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. - 18
31. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ. सं. 285
32. वही, पृ. सं. - 285
33. वही, पृ. सं. - 285
34. यथार्थवाद, शिवकुमार मिश्र, पृ. सं. - 25
35. वही, पृ. सं. - 24
36. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. – 235
37. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ. सं. – 70
38. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. – 247-248
39. वही, पृ. सं. – 244
40. वही, पृ. सं. – 242

41. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ. सं. – 266
42. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, त्रिभुवन सिंह, पृ. सं. – 14
43. वही, पृ. सं. – 14
44. वही, पृ. सं. – 14
45. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ. सं. – 266
46. वही, पृ. सं. - 185
47. वही, पृ.सं. - 340
48. वही, पृ.सं. - 340
49. वही, पृ.सं. - 340
50. वही, पृ.सं. - 340
51. वही, पृ. सं. – 308
52. वही, पृ. सं. – 308
53. वही, पृ. सं. – 308
54. वही, पृ. सं. – 60
55. पृष्ठ संख्या – 61
56. ईपीजी पाठसाला, समकालीन साहित्य चिंतन, आधुनिकतावाद, प्रो. रामबक्ष जाट, प्रो. नामवर सिंह, प्रो. प्रियम अंकित, प्रो. निर्मला जैन, प्रो. देवशंकर नवीन, पृ. सं. – 5
57. इंगिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय मानविकी विद्यापीठ, एम. एच. डी – 5, साहित्य सिद्धांत और आलोचना, पृष्ठ संख्या – 48
58. वही, पृ. सं. – 48
59. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ. सं. – 188
60. वही, पृ. सं – 78
61. वही, पृ. सं – 78
62. वही, पृ. सं – 78
63. वही, पृ. सं – 78
64. वही, पृ. सं – 79
65. वही, पृ. सं – 79
66. वही, पृ. सं – 326
67. वही, पृ. सं – 327
68. वही, पृ. सं – 326
69. वही, पृ. सं – 327
70. वही, पृ. सं – 346
71. वही, पृ. सं – 347
72. वही, पृ. सं – 347
73. वही, पृ. सं – 84
74. वही, पृ. सं – 84
75. हिंदी उपन्यास कला, प्रतापनारायण टंडन, पृ. सं. 9
76. उपन्यास कला और सिद्धांत, विनोद तिवारी व अजय आनंद (सं.) भाग-1, पृ. सं. – 20-21
77. वही, पृ. सं. 27-28
78. वही, पृ. सं. –102
79. वही, पृ. सं. – 121
80. वही, पृ. सं. –288-289
81. उपन्यास की संरचना, प्रो. गोपाल राय, पृ. सं. 66
82. उपन्यास कला और सिद्धांत, विनोद तिवारी व अजय आनंद (सं.) भाग-1, पृ. सं. – 045

83. वही, पृ. सं. –039
84. हिंदी उपन्यास : पहचान और परख, डॉ. इन्द्रनाथ मदान (सं.) पृ. सं. – 14
85. उपन्यास का काव्यशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. सं. 35
86. उपन्यास कला और सिद्धांत, विनोद तिवारी व अजय आनंद (सं.) भाग-1, पृ. सं. – 25
87. हिंदी उपन्यास : पहचान और परख, डॉ. इन्द्रनाथ मदान (सं.) पृ. सं. – 27
88. प्रेत और छाया, इलाचंद्र जोशी, भूमिका से
89. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेद्र, पृ. सं. - 702
90. प्रेमचंद और भारतीय समाज, नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी (सं.) पृ. सं. – 16
91. वही, पृ. सं. – 15
92. हिंदी उपन्यास : पहचान और परख, डॉ. इन्द्रनाथ मदान (सं.) पृ. सं. – 32-33
93. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, त्रिभुवन सिंह, पृ. सं. – 49
94. आधुनिक साहित्य, पं. नंनददुलारे वाजपेयी, पृ. सं. – 420
95. विचार और वितर्क, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. – 95
96. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. –227
97. वही, पृ. सं. –228-229
98. भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, वैभव सिंह, पृ. सं. – 14
99. उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, सुधीश पचौरी, पृ. सं. – 11
100. उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, पृ. सं. - 09

अध्याय - 3

21वीं सदी के उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(3.1) वामपंथी आंदोलन के विविध रूपों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.2) भूमण्डलीकरण का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.3) नव-आर्थिक नीतियों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.4) इतिहास की सबाल्टर्न दृष्टि का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.5) सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.6) पूर्ववत सांस्कृतिक परंपरा का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

(3.7) अस्मितामूलक प्रवृत्तियों के उत्थान का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

21वीं सदी के उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

21वीं सदी के उपन्यासों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानने से पहले हमें यह जान लेना जरूरी है कि क्या साहित्य पर समाज में चल रहे तमाम तरह की घटनाओं से उपजे द्वंद्वों का, उसकी गतिशीलता का प्रभाव पड़ता है या नहीं ? वैसे तो साहित्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। जैसे बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को 'जन समूह के हृदय का विकास' माना है तो महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को 'ज्ञानराशि का संचित कोश' माना है। इसी तरह मुक्तिबोध ने 'कलाकृति को जीवन की पुनर्रचना' माना है। इन विचारकों की परिभाषाओं से साफ जाहिर होता है कि साहित्य समाज में होने वाली तमाम घटनाओं को केवल हू-ब-हू प्रस्तुत नहीं कर देता बल्कि समस्याओं से निकलने की राह भी दिखाता है। शायद इसीलिए प्रेमचंद ने 'साहित्य को समाज के आगे-आगे चलने वाली मशाल' कहा है। इसके साथ ही वह साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना नहीं मानते हैं, बल्कि साहित्य को व्यक्ति के 'विवेक को जाग्रत करने वाला तथा 'आत्मा को तेजोदीप्त' बनाने वाला मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सभी विद्वान साहित्य से समाज के घनिष्ट सम्बन्ध तो स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य विचारकों में सबसे पहले साहित्य से समाज के संबंध को स्वीकारने वाली विचारक मादाम स्तेल मानी जाती हैं मैनेजर पांडेय लिखते हैं ''साहित्य से समाज का घनिष्ट संबंध सबसे पहले नारी मादाम स्तेल स्वीकार करते हुए साहित्य, समाज और राजनीति में भी घनिष्ट संबंध स्थापित किया।''[1] चूंकि साहित्यकार भी सभ्यता, संस्कृति और समाज की ही निर्मित है। उनकी कल्पनाएँ और आकांक्षाएँ भी इसी समाज से अर्जित होती हैं, अत: साहित्य में समाहित कल्पनाओं का भी समाजशास्त्रीय अधययन संभव है।

हम देखते हैं कि साहित्यिक रचना एक सामाजिक कर्म है और कृति एक 'सामाजिक उत्पादन'। रचना – भाषा, भाव और विचारों का विन्यास है। रचना का मर्म उसकी संवेदना और उसकी मानवीय चिंताएं सामाजिक मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। एक सर्जक किसी रचना को जो रूप-आकार और कल्पना देता है वह समाजनिष्ठ होती है। समाज जो कि एक अमूर्त अवधारणा है, उसका सघन और अधिक वर्चस्वकारी रूप हम समूह और समुदाय में देखते हैं। साहित्य रचना और बोध की प्रक्रिया कभी भी अपने सामाजिक संदर्भ से अप्रभावित नहीं रही है। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और मनुष्य की मनुष्यता की अभिव्यक्ति कला और साहित्य के माध्यम से होती है। साहित्य यदि संवेदनवान होता है तो इसीलिए की उसमें मानव जीवन की उपस्थित भी है। मानव वस्तु नहीं है इसीलिए उसकी संवेदना वस्तु की तरह ठोस नहीं होती। साहित्य सृजन हमारा भौतिक सौन्दर्य नहीं है बल्कि वह हमारी आत्मा का सौन्दर्य है, वह हमारी भावना और मानस का सौन्दर्य है। मनुष्य के प्रत्येक विचार उसके भाव, उसके कार्य, समुदाय अथवा समाज के भावों, विचारों तथा कार्यों से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध रहते हैं। क्योंकि समाज से बाहर व्यक्ति का सामाजिक अस्तित्व ही नहीं रहता। इसीलिए तो जिसे असामाजिक या व्यक्तिवादी साहित्य कहा जाता है उसका भी समाज से एक तरह का रिश्ता होता है। और साहित्य में समाज के प्रभाव को देखते समय इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

क्या यह सच नहीं कि केवल रचना में ही समाज नहीं होता बल्कि रचना के हर स्तर पर यहाँ तक कि शिल्प, भाषा, संरचना सबमें समाज की अभिव्यक्ति होती है। अब सवाल उठता है कि क्या साहित्य में समाज सीधे-सीधे उतरता है ? अगर हमें कुछ साल पहले का इतिहास जानना हो तो क्या हम साहित्य की मदद ले सकते हैं ? यदि हम स्तंत्रता संग्राम के समय का साहित्य उठाते हैं तो पाते हैं कि उस समय का साहित्य लोगों को जागरुक कर रहा था। इस संदर्भ में अमृतलाल नागर की 'गदर के फूल' और मैथलीशरण गुप्त की 'भारत-भरती' जैसी रचनाएँ देखी जा सकती हैं। स्वतंत्रता संग्राम के समय की रचनाओं में विद्रोह के स्वर मुखर हो रहे थे, इसलिए उस समय की कविताओं, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों को प्रतिबंधित किया जा रहा था। अत: स्पष्ट है कि साहित्य समाज और राजनीति से निर्पेक्ष नहीं होता है और अगर देखा जाए तो साहित्य का इतिहास भी समाज के इतिहास से कटा नहीं रह सकता क्योंकि साहित्य का इतिहास भी समाज से जुड़ा हुआ होता है। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि साहित्य पर समाज का गहरा प्रभाव होता है।

समाज से ही साहित्य उपजता है इसलिए उसमें समाज गहरे रूप से व्याप्त होता है। कहा जा सकते हैं कि साहित्य 'अंतत: तिथिरहित सामाजिक इतिहास है।' इसीलिए अब हम 21वीं सदी के उपन्यासों पर पड़े तमाम आन्दोलनों, घटनाओं, सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों को विस्तार से देखेंगे।

(3.1) वामपंथी आन्दोलन के विविध रूपों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

मार्क्सवादी विचार-दर्शन का जन्म पश्चिम की धरती पर हुआ, वहीं यह फला-फूला और वहीं इसे बार-बार व्यावहारिक कसौटी पर कसने की कोशिश हुई। अंतत: रूस में इसे सर्वप्रथम व्यावहारिक सिद्धि प्राप्त हुई, लेकिन जैसा कि मार्क्सवादी विचार-दर्शन एक अन्तर्राष्ट्रीय विचार-दर्शन है। जिसका लक्ष्य संसार-भर के सर्वहारा-वर्ग की मुक्ति के हित से जुड़ी उसकी मूलभूत प्रकृति का ही परिणाम है। जैसे-जैसे पूर्व और पश्चिम में वैचारिक सम्पर्क के नये-नये आयाम स्पष्ट होते गये वैसे-वैसे मार्क्सवादी विचार मात्र पश्चिम में ही सीमित न रहकर पूर्व के देशों में भी फैलता गया। मार्क्सवादी विचार-दर्शन से प्रेरित होकर रूस की सन् 1917 की समाजवादी क्रांति ने इस प्रक्रिया को एकबारगी बहुत तेज कर दिया। और सर्वप्रथम, एशिया महाद्वीप और विश्व के दो सर्वाधिक जन-संकुल राष्ट्रों-चीन और भारत में उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति दिखायी पड़ी। इन दो राष्ट्रों के अतिरिक्त एशिया महाद्वीप के दूसरे राष्ट्र भी मार्क्सवाद-समाजवाद के इस प्रभाव से न बच पाये, और कालान्तर में चीन तथा सुदूर पूर्व के कुछ हिस्सों में मार्क्सवादियों-समाजवादियों की सत्ता कायम हुई। हमारा इरादा यहाँ समाजवादी मार्क्सवादी चेतना के, एशिया में प्रचार-प्रसार को, उसको विस्तार से व्याख्या करना नहीं है। मैं बस यही बाताना चाहती हूँ कि किस प्रकार पश्चिम के साथ-साथ पूर्व को भी अपनी परिधि में लेते हुए मार्क्सवादी विचार-दर्शन ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय आकृति को प्रमाणित किया है। इसके साथ ही मेरा मकसद भारत में मार्क्सवादी-समाजवादी

विचारों के प्रवेश पर बात करते हुए कुछ महत्वपूर्ण वामपंथी आन्दोलनों का उपन्यास साहित्य पर पड़े प्रभाव को दिखाना है।

भारत में मार्क्सवादी-समाजवादी विचारों का प्रवेश सही सन्दर्भों में उस समय से प्रारम्भ होता है, जब सन् 1917 में रूस में, लेनिन के नेतृत्व में महान समाजवादी क्रांति सफल होती है। जिसके परिणामस्वरूप विश्व में पहली बार किसी राष्ट्र में मजदूर-किसानों की वास्तिक सत्ता कायम होती है। यह समाजवादी क्रांति विश्व की वह महान ऐतिहासिक घटना थी जिसने रूस का तो काया पलट किया ही विश्व भर की शोषित-पीड़ित मानवता के समक्ष सर्वतोमुखी मुक्ति के द्वार खोल दिये। चूँकि इस क्रांति की मूलवर्ती शक्ति तथा प्रेरणा के स्त्रोत मार्क्सवादी-समाजवादी विचार-दर्शन था। इसलिए स्वाभाविक था कि विश्व की पीड़ित और पददलित मनुष्यता अपनी मुक्ति के लिए इस विचार-दर्शन की ओर देखती और उससे परिचित होने का प्रयत्न करती। भारत में मार्क्सवादी-समाजवादी विचारों के प्रवेश और भारतीय जन-मानस के उसके प्रति जिज्ञासा का वास्तविक और ठोस सन्दर्भ यही है। भारत जैसे पराधीन देश की जनता और उसके प्रबुद्ध प्रतिनिधियों ने इस क्रांति का हृदय से स्वागत किया। इस स्थिति का सीधा प्रभाव हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर पड़ा और आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों के बीच एक नये गरम दल का अभ्युदय हुआ। साम्राज्यवाद के विरुद्ध छेड़े गये अभियान के साथ-साथ देशी पूँजीवाद और सामान्तवाद के शोषक स्वरूप पर भी लोगों की निगाहें उठीं। किसान तथा मजदूर आन्दोलनों को नयी शक्ति प्राप्त हुई। साम्राज्यवादी शासकों ने जन-आन्दोलनों के उभार को दबाने की बहुत कोशिशें कीं लेकिन उसमें सफल नहीं हो सके। जितना ही सरकार का दमनचक्र बढ़ा, उतनी ही तेजी से जनता स्वातन्त्र्य-अभियान में समाने आयी।

मजदूर आन्दोलन के साथ-साथ किसान आन्दोलन ने भी सन् 1934 के आस-पास गति पकड़ी। 'किसान-सभा' नामक किसानों के अखिल भारतीय संगठन की सन् 1936 में स्थापना के साथ किसान-आन्दोलन का भी मुख्यांश साम्यवादियों के नेतृत्व में चला गया। डॉ. पट्टाभि-सीतारमैया के शब्दों में – ''जहां एक तरफ जीवन भर रक्त की होली खेलने वाले अहिंसा की तरफ आकर्षित हो रहे थे, या कम से कम हिंसा से मुँह मोड़ते जा रहे थे, वहां दूसरी तरफ असंख्य किसान सैकड़ों मील चलकर गाँवों में आते थे और अपने संगठन अलग कायम करते थे। ये नये संगठन कम या अधिक मात्रा में कांग्रेस के विरुद्ध होते थे। इसके लिए उन्हें एक उद्देश्य, एक झण्डा और एक नेता मिल गया था। किसानों की हिमायत कोई नयी बात न थी, लेकिन अब तक ऐसा कांग्रेस ही करती आयी थी। इस बार उन्होंने लाल रंग का सोवियत झण्डा अपनाया, जिसमें हँसिया और हथौड़ा के चिन्ह अंकित थे। किसानों और कम्युनिस्टों ने यह झण्डा अधिकाधिक चल पड़ा। किसानों के नेताओं ने देहातों में दूर-दूर तक दौरे किये।...इस प्रकार दल की शक्ति और संगठन में वृद्धि हुई और वह कांग्रेस के मुकाबले पर डट गया।''[2]

सन् 1946 ई. से लेकर सन् 1951 तक एक बड़ा किसान आन्दोलन हुआ। जिसका नेतृत्व आंध्र महासभा के बैनर के तहत भारतीय कम्युनिस्ट ने किया था। वैसे भी कहा जाता है कि किसान

प्रतिरोध भारत के इतिहास में बहुत पुरानी संस्कृति रही है। मध्यकालीन शासन काल में भी सामंती ढांचे में किसान पिस रहा था तो उस समय भी किसान विद्रोह की झलक के तत्कालीन साहित्य और इतिहास में देखने को मिलता है। मध्यकालीन समय में विद्रोही किसानों के गाँव 'मवास' के रूप में जाने जाते थे। औपनिवेशकालीन अंग्रेजी सत्ता के काबिज होने के चलते देश में दमन और बढ़ गया। किसानों के दमन, शोषण, उत्पीड़न की राजनीतिक-आर्थिक गाथा रही है। इस दमन का जब किसान कोई समाधान नहीं निकाल पा रहे थे तो उन्होंने औपनिवेशिक और सामंती नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध शुरू कर दिया लेकिन साथ में ही इन प्रतिरोधों का दमन भी शुरू हो गया था। अब किसानों ने सामूहिक विद्रोह की राह चुन ली थी। ये आन्दोलन सशस्त्र रूप भी धारण करने लगे थे। यह रूप 1946 के तेभागा और तेलंगाना के बड़े किसान आन्दोलन में भी देखा जा सकता है। जिसके बारे में रामाज्ञा शशिधर लिखते हैं ''तेभागा और तेलंगाना गरीब किसानों द्वारा चलाए गए महत्वपूर्ण आन्दोलन थे। दोनों औपनिवेशिक दौर में शुरू हुए थे। भूमिहीन किसानों का भूमि पर उनका वास्तविक हक दिलाने की कोशिश करते थे। तेलंगाना किसान आंदोलन स्वतंत्रता के बाद भी जारी रहा। जिसका तात्कालिक अंत 'प्रगतिशील, जनपक्षधर, समाजवादी हृदय वाले स्वतंत्र भारत' के पहले मुखिया पं. जवाहरलाल नेहरू की सेना ने बड़े देशी अंदाज में किया था। तेलंगाना के किसान अमानुषिक शोषण और उत्पीड़न से जर्जरित थे। उनके सर पर कितने ही तरह के कानूनी और गैर कानूनी टैक्स थे। उसका हिसाब करना कठिन है। इन शोषकों में प्रधान व्यक्ति थे निजाम, उसके बाद थे जमींदार और देशमुखों का दल, जागीरदार थे बड़े जमींदार। करीब आधा तेलंगाना उनके अधिकार में था। बाकी आधा देशमुखों के हाथों में था। ये देशमुख एक जमाने में निजाम के लिए लगान वसूल करने वाले अधिकारी थे...निजाम के पास कुल जमीन थे एक करोड़ पचास लाख बीघा। 15 लाख भू-दास इस जमीन पर खेती का काम करते थे। उससे निजाम की आय होती थी पांच करोड़ रुपए प्रतिवर्ष। उसके अलावा राज्य बजट निजाम 10 लाख रुपए प्रतिवर्ष पाते थे। सके सिवाय हैदराबाद के अधिकांश कल कारखानें के बड़े बहादुर थे। निजाम के हीरा-मोती और सोने के आभूषणों का दाम कम से कम 600 करोड़ रुपए था।

निजाम के इस अमानुषिक शोषण करने वाले शासन के हिस्सेदारों की कुल संख्या थी ग्यारह सौ। निजाम अपने इन 1100 लोगों से मिलकर हैदराबाद की एक करोड़ दस लाख जनता का शोषण करता था। इन 1100 जमींदारों और देशमुख के पास कुल 1 करोड़ बीघा जमीन थी। पूरे राज्य के कुल जमीन के 5 भाग में 3 भाग। न 1100 परिवारों में से सिर्फ 10 परिवारों की वार्षिक आय थी 10 करोड़ रुपए। हैदराबाद के किसानों पर कुल 80 करोड़ रुपए का कर्ज था और इस कर्ज के अदाई किए हुए सूद का सब पैसा इन्हीं दस परिवारों के हाथ में आता था। यह है भारत के सामंतवादी समाज के बड़े स्तम्भ हैदराबाद के सामंतवर्ग के शोषण का एक संक्षिप्त हिसाब। इसी शोषक वर्ग के कल्पनातीत शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध तेलंगाना के किसानों ने क्रांति की लाल पताका ऊड़ाई था और इन्हें भगाकर ही तेलंगाना के किसानों ने एक करोड़ आठ लाख बीघा जमीन को शोषण मुक्त किया था और इस शोषण मुक्त इलाके में प्रतिष्ठित की थी। भारत की प्रथम जनतांत्रिक शासन व्यवस्था।''[3] तेलंगाना में इस जन

संघर्ष से वहाँ किसानों का शासन स्थापित होने लगा था । 1948 के पहले 6 महीने के अन्दर ही अत्याचारी जमींदार, देशमुख, जोतदार आदि के हाथों से 30 लाख बीघा जमीन छीन ली गयी। छीन लेने के साथ ही साथ वह जमीन गरीब किसानों, खेत मजदूरों आदि के बीच बाँट दी गयी तथा जमीन का मालिकाना हक भी उनको दे दिया गया।

इस आन्दोलन के तहत कुल तीन तरह की जमीन जब्त की गयी थी। पहली तो वह जमीन जो देशमुख, जमींदारों, जोतदारों आदि से छीन ली गयी थी उसे जब्त कर ली गयी। दूसरी वह जमीन जो किसानों से देशमुख जमींदार, महाजन आदि ने छीनी थी से जब्त कर लिया गया और जिनकी जमीनें थी उन्हें वापस कर दिया गया। तीसरी प्रोम्बाक या परती जमीन को जब्त कर उसे भी किसानों में बांट दिया गया। कुल मिलाकर इस आन्दोलन से किसानों को थोड़ा राहत मिली, किसानों पर जुल्म, उत्पीड़न कुछ कम हुआ। उन्हें कई पुरानी परंपरागत प्रवृत्तियों से छूट मिली। किसानों के इस आन्दोलन के बारे में सही ही कहा है ''यह सामंतवादी शासन को खत्म करने के लिए किसानों का एक क्रांतिकारी सशस्त्र संग्राम था । मुक्त क्षेत्रों में किसान समितियों ने कृषि कार्यक्रम को लागू किया। यद्यपि यह काम पूरा नहीं हो पाया। फिर भी 30 लाख एकड़ जमीन का वितरण किया गया, बेगार बंद कर दी गयी । अवैध शोषण और सामंतवादी दमन खत्म कर दिए गये। बेदखली बंद कर दी गयी और न्यूनतम मजदूरी लागू कर दी गयी। इस संघर्ष ने कृषि क्रांति के सवाल को बिल्कुल सामने ला दिया जिसके फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी को भूमि सुधार कार्यक्रम लेने के लिए मजबूर होना पड़ा।''[4] भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का यह पहला सशस्त्र संघर्ष था। इसमें हजारों किसान तथा पार्टी गुरिल्ला मारे गए और बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार साल तक जेल में रहे। आजादी के बाद देश में सामाजिक आर्थिक उत्पीड़न, शोषण के खिलाफ कई महत्वपूर्ण किसान आन्दोलन हुए हैं । जिनमें नक्सलबाड़ी आन्दोलन, श्रीकाकुलम (केरल), भोजपुर (बिहार) और अन्य बहुत सारे आन्दोलन हुए। इनकी परंपरा और ऊर्जा के श्रोत औपनिवेशिक दौर में हुए कृषक व अन्य क्रान्तिकारी आन्दोलन ही थे। हाँ यह जरूर माना जा सकता है कि तेलंगाना से किसान आन्दोलन अपने संरचानात्मक स्वरूप में आने लगे। जो आज भी अपनी निरंतरता बानए हुए दिखाई देते हैं।

इसके बाद बंगाल के एक छोटे गाँव नक्सलबाड़ी से 1967 ई. में नक्सलबाड़ी आन्दोलन की शुरूआत हुई। इसके नेता चारू मजूमदार और कानू सान्याल ने सत्ता के खिलाफ यह आंदोलन छेड़ा था। जो मेरी समझ से वामपंथी आन्दोलनों में सबसे महत्वपूर्ण एवं बड़ा आन्दोलन रहा है । यह आन्दोलन गरीबों, किसानों के जमीन की समस्याओं के साथ-साथ एक विचारधारात्मक आन्दोलन भी था। जिसने बड़े पैमाने पर लोगों को सोचने पर मजबूर कर दिया । जो वसन्त का वज्रघोष मैदानी इलाकों में सुनाई दिया और बिजली की तरह फैल गया । यह रास्ता संसदीय नहीं था और न ही केवल मध्यवर्ग का सरोकार था। यह अन्तर्राष्ट्रीय बैठक में शिरकत करने का भी मामला नहीं था यह भारत के गरीब किसानों के विद्रोह का सवाल था। वह जनता से सीधे तौर पर मुखातिब हुए। उन्होंने कोल विद्रोह, वहाबी विद्रोह, संथाल विद्रोह, 1857 का विद्रोह, मोपला एवं तेलंगाना के रास्ते गुजरते हुए भारतीय जनता की क्रांति की

राह का अनुसरण किया । इस आन्दोलन में स्त्री-पुरुष जरूरत पड़ने पर जनता के लिए मरने-मिटने को तैयार थे । आन्ध्र प्रदेश में श्रीकाकुलम नक्सलबाड़ी का रास्ता चुना गया एवं पूरा राज्य किसान विद्रोह से धधक उठा । यान मिर्डल की एक पुस्तक है 'भारत के आसमान पर लाल तारा', जिसका हिन्दी में अनुवाद गोपाल मिश्रा ने किया है । उसमें उन्होंने नक्सलबाड़ी के नायकों के बारे में लिखा है ''वीरों की तलाश के लिए दूर देखने की जरूरत नहीं थी । भारतीय क्रांति का लाल रूमाल बुनने वाले चारू मजुमदार या आन्ध्र के प्रतिभाशाली मणि वेमपटापु सत्यनारायण एवं आदिभट्ट कैलाशम एवं अन्य हजारों अमर शहीदों में गरीब जनता को वीर मिला और अब वे उनको समर्पित कर गीत गाते हैं ।''[5]

नक्सलबाड़ी आन्दोलन समता चाहता था और इसीलिए हथियार उठाया । उसमें एक नारा दिया गया कि 'जमीन, जोतने वालों की है ।' जिसके चलते खम्मम, वारंगल, श्रीकाकुलम, कारीमनगर एवं गोदावरी के दोनों जिलों में जमीन का बंटवारा किया । उन्होंने आदिवासी जनता को जगाया और संघर्ष की राह पर ले आए । नक्सलबाड़ी आन्दोलन जमीन के सवाल के अलावा एक बड़ा विचाधारात्मक आन्दोलन भी रहा । सीपीआई (माओवादी) के महासचिव गणपति ने लिखा है ''इन संघर्षों ने संशोधनवादी पार्टियों की कमर तोड़ दी, जिसके फलस्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में महत्वपूर्ण विकास हुआ । कॉमरेड चारू मजूमदार एवं अन्य सच्चे माओवादियों या क्रांतिकारियों द्वारा सभी स्तर पर चलाये गए संघर्षों के फलस्वरूप वसन्त के बज्रनाद की तरह महान नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष सामने आया । उसके बाद एक नया इतिहास शुरू हुआ । फिर तो हमारे दोनों महान नेता नक्सलबाड़ी के लाल बैनर को ऊपर उठाये रखे और नव जनवादी क्रांति की अगुआई किये ।''[6] इस तरह क्रांतिकारी आन्दोलन की आग काफी तेजी से पूरे देश में अलग-अलग स्तर तक फैल गयी । इस क्रांतिकारी दौर में बड़े ही कम समय में 22 अप्रैल 1969 को सीपीआई (एम.एल.) और 20 अक्टूबर 1969 को कन्हाई चटर्जी की अगुवाई में माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर का गठन हुआ लेकिन बहुत सारे ऐतिहासिक कारणों की वजह से उस समय एक एकीकृत माओवादी पार्टी निर्माण करने में वह असफल रहे। इसके साथ ही मुख्य वैचारिक एवं राजनीतिक लाइन, क्रांति के रास्ते एवं रणनीति तथा उस समय सामने आ रहे बहुत से महत्वपूर्ण विषयों पर उनके बुनियादी ठहराव मोटे तौर पर समान था।

भारतीय शासक वर्ग ने नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान बगावत से लेकर सभी क्रांतिकारी आन्दोलनों पर बेलगाम आतंक का राज चलाया । 1972 के अंत में चारू मजूमदार की गिरफ्तारी एवं उनकी शहादत के समय और उसके पहले भी दुश्मन के हाथों बड़ी संख्या में नेतृत्व व कैडरों को खोया । जिसके चलते इस आन्दोलन को थोड़ा पीछे हटना पड़ा । चारू मजूमदार की शहादत के पहले सत्यनारायण सिंह की दक्षिणपंथी अवसरवादी लाइन के खिलाफ तीव्र आन्तरिक राजनीतिक एवं वैचारिक संघर्ष 1971 में ही शुरू हो गए थे । इसकी गंभीर कार्यनीतिक गलतियां, राज्य का आतंक, प्रचंड नुकसान, उपयुक्त नेतृत्व का अभाव, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर चल रहे दो लाइनों के संघर्ष के नकारात्मक प्रभावों के कारण पार्टी कई गुटों में बंट गयी । जुलाई 1972 ई. से 1980 ई. तक यह पार्टी सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) बहुत सारे छोटे हिस्सों में बंटी हुई थी, जिसके कारण पूरी अव्यवस्था

फैली हुई थी। दूसरी तरफ माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर के नेतृत्व में कांकसा में सशस्त्र किसान संघर्ष हुआ और थोड़े ही समय में राजकीय आतंक के कारण इसे पीछे हटना पड़ा लेकिन फिर भी यह सतत रूप से बिहार और कुछ हद तक असम व त्रिपुरा में भी फैल गया।

इस माओवादी पार्टी की बुनियादी विचारधारा एवं राजनीतिक लाइन को ग्रहण करते हुए, व्यवहार से सीखते हुए, वर्ग संघर्ष में गंभीरता से लगे रहते हुए एवं देश तथा दुनिया के स्तर पर विचारधारात्मक एवं राजनीतिक सवालों पर सही निर्णय लिया। इन ठहरावों के चलते ही सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) धारा से 1978 में सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) पार्टी यूनिट एवं 22 अप्रैल 1980 को सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) पीपुल्स वार अस्तित्व में आयी। इन्हीं निर्णयों के कारण माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर, पीपुल्स वार एवं पार्टी यूनिटी दलों ने देश के अलग-अलग हिस्सों में खासकर आन्ध्र प्रदेश एवं बिहार में सशक्त खेतिहर क्रांतिकारी आन्दोलन का निर्माण किया। हालाँकि बिहार के खेतिहर आन्दोलन पर तमाम सवाल उठाये जाते रहे हैं कि आखिर ऐसा क्या हुआ कि उसी समय बड़ी तादाद में वामपंथी आन्दोलन से वह लोग जुड़े जो जमीन के मामले में वहां का मजबूत तबका था, जिन लोगों के पास पारंपरिक रूप से तमाम जमीनें थीं, जबकि उन लोगों को तो इस आन्दोलन के खिलाफ होना चाहिए था, इसके खिलाफ मोर्चा खोलना चाहिए था ? आदि ऐसे तमाम सवाल हैं जिन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की जरूरत महसूस की जाती रही है। इसके बावजूद वामपंथ आज भी गरीबों, मजदूरों, मजलूमों, किसानों, आदिवासियों, आदि के लिये लड़ रहा है, उनके लिए संड़कों पर आवाज उठा रहा है। शायद इसीलिए वसन्त के बज्रनाद के इतने साल बाद भी सत्ता को नक्सलबाड़ी आन्दोलन का डर सताता रहता है। अपनी बहुत खामियों के बावजूद इसका अंत नहीं हो रहा, बल्कि यह अपनी वैकल्पिक सामाजिक संरचना एवं राजनीति को थामे रहने का प्रयास कर रहा है। आज माओवादी जिस इंसाफ, समता और आजादी के सिद्धांतों को थामे हुए हैं, वे भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के भूले-बिसरे अध्याय हैं। उनसे आप सहमत-असहमत हो सकते हैं लेकिन उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस प्रकार भारत में वामपंथी आन्दोलनों का एक लम्बा इतिहास रहा है। जिसने समाज और साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। उपन्यास साहित्य में हमें वामपंथी आन्दोलनों की एक लंबी परंपरा ही दिखाई देती है। हाँ यह जरूर है कि कहीं पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ा है तो कहीं परोक्ष रूप से। पहले के उपन्यासकारों में यशपाल, राही मासूम रजा, भीष्म साहनी को देखा जा सकता है। इसी तरह 21वीं सदी के उपन्यासों के लिए भी ऐसे तमाम वामपंथी आंदोलनों ने एक मजबूत पृष्ठभूमि तैयार करते हुए दिखाई देते हैं। समकालीन उपन्यासकारों के उपन्यासों में संजीव के 'फाँस', प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल', विनोद कुमार के 'रेड जोन', मधु कांकरिया के 'खुले गगन के लाल सितारे' उपन्यासों में सीधे तौर पर देखा जा सकता है।

(3.2) भूमण्डलीकरण का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

भूमण्डलीकरण का हिन्दी उपन्यासों पर क्या प्रभाव पड़ा है इसे जानने से पहले हमें यह जानना होगा कि आखिर ये भूमण्डलीकरण है क्या ? उसका हमारे समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है ? क्योंकि मेरी समझ से सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्ति की जीवन-शैली और समाज में भी परिवर्तन आता है। जिसके कारण कला एवं साहित्य की दुनिया में भी बदलाव आता है। अब बात करें भूमण्डलीकरण के दौर की तो इस पर विचार करते हुए आलोक टंडन जी लिखते हैं ''भूमण्डलीकरण एक नयी विश्व स्थिति है और एक नयी आर्थिक-भौगोलिक अवधारणा भी, जो इस नयी स्थिति से ही निकली हुई है। तकनीकी और जनसंचार क्रंति ने सम्पूर्ण धरती को एक ग्राम बना दिया है जहाँ देश-काल के भेद मिटते जा रहे हैं। इस नयी स्थिति ने हमारा ज्ञान, हमारे अनुभव और हमारी जीवन शैली को अभूतपूर्व ढंग से प्रभावित किया है जो तेजी से बदलते समाज में साफ परिलक्षित किया जा सकता है।''[7] वहीं प्रो. आनन्द कुमार भूमण्डलीकरण के परिणाम के बारे में लिखते है ''इस भूमण्डलीकरण के परिणाम क्या हैं ? इसके कारण आज हर समाज में मुनाफा पहले और मनुष्य बाद में की विचारधारा का जोर है। मनुष्य बिना मुनाफे की अर्थव्यवस्था के कैसे अपनी समस्याओं का समाधान करेगा ? अगर पूँजी इकट्ठा नहीं होगी, पूँजी-निर्माण की गति नहीं बढ़ेगी तो हम गरीबों को क्या दे सकेंगे ? इस तरह के मासूम तर्कों के आधार पर चौतरफा मुनाफाखोरी और सत्ता व पूँजीपतियों के बीच का अपवित्र गठबंधन चल रहा है। इसको इधर के दिनों में क्रोनी केपटिलिज्म भी कहा जा रहा है। आर्थिक स्तर पर एक तरह का असमान और अन्यायपूर्ण प्रबंधन और परिवर्तन हो रहा है।''[8] इस तरह से आनन्द कुमार भूमण्डलीकरण के परिणामों के बड़े पैमाने पर व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता और अमेरिका के आर्थिक सलाहकार मण्डल के अध्यक्ष रह चुके अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिगलिट्ज ने भी इस पर सटीक ही टिप्पणी की है ''भूमण्डलीकरण तो काम की चीज है लेकिन मौजूदा भूमण्डलीकारण अन्यायपूर्ण है। इसलिए ये टिकाऊ नहीं है। ये भविष्यहीन है। आर्थिक दृष्टि से भूमण्डलीकरण ने एक साथ सम्पन्नता और विपन्नता के दो विस्फोट किये हैं।''[9]

बाजारवादी भूमण्डलीकरण का सिर्फ आर्थिक परिणाम चिंताजनक नहीं है, राजनीतिक दृष्टि से दुनिया के सभी लोग आज दो खेमों में बंट गये हैं – एक, जिनको भूमण्डलीकरण से लाभ है और दूसरे, जो भूमण्डलीकरण से अपने को ठगा हुआ और पराजित महसूस कर रहे हैं। जिनको लाभ है, वे बाजार की जय-जयकार कर रहे हैं। इन्होंने दुनिया के वित्तीय प्रतिष्ठानों से लेकर सत्ता संस्थानों तक अपना सम्मोहन फैला रखा है इसीलिए अमेरिका से लेकर अफगानिस्तान तक व चीन से लेकर भारत तक एक वैश्विक सहमति बनती दिखाई पड़ रही है कि आज बाजारवाद का कोई विकल्प नहीं है। सबको भूमण्डलीकरण के जरिए पूँजीवाद का कोई एक नरम संस्करण जरूर लागू करना चाहिए जिससे कि हम दुनिया की टेक्नॉलोजी का, वित्तीय प्रबन्धन का, संसाधनों का और बाजार का लाभ उठा सकें। यह वास्तविकता है कि दूर की कौड़ी ? यह मेरी समझ से परे है। कुछ लोगों को लगता है कि औद्योगिक शक्तियों के लिए भूमण्डलीकरण अनुकूल है और जो खेतिहर समाज या खेती से उद्योग की तरफ बढ़ने

वाले भारत, चीन, दक्षिण अफ्रीका और ब्राजील जैसे राष्ट्र हैं, वे भी अगर सजगता से कदम उठायें, उनको भी इसका लाभ मिलेगा। लेकिन आज तो अमेरिका के हृदयस्थल वॉल स्ट्रीट में हजारों नागरिकों ने टेंट और बैनर के साथ 'ऑक्यूपाई वॉल स्ट्रीट' का अभियान चला रखा है। फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड में प्रवासियों के प्रति नफरत और भय का माहौल और मजदूर विरोधी रुझान फैलता दिखाई पड़ रहा है। तब सचमुच यह कहना मुश्किल है कि दुनिया में कौन है जिसको भूमण्डलीकरण का पूँजीवादी-भोगवादी स्वरूप एक टिकाऊ फायदा दे रहा है ! भारत, चीन, ब्राजील, मिश्र, यूनान, रूस, दक्षिण अफ्रीका, वेनेजुएला में तो शुरू से ही एक लम्बा सिलसिला रहा है सवालों का, प्रतिरोध का, जिसको दुनिया की बड़ी पंचायत के रूप में 'वर्ल्ड सोशल फोरम' संस्था के नाम से पहचाना भी जा रहा है। इस तरह के मंच, सभी आन्दोलनों के लिए संयुक्त मोर्चे का काम करते हैं। वे आज भी दुनिया के हर महाद्वीप में सक्रिय हैं। इसी के साथ बाजारवाद और उसकी संतान भूमण्डलीकरण ने लोकतंत्र में क्षय पैदा किया है। दुनिया के पुराने और नए लोकतंत्र, दोनों में समान रूप से धनबल और भ्रष्टाचार ने लोकतंत्र की आत्मा को पराजित सा कर दिया है। आज दुनिया में लोकतंत्र है, उसका विस्तार भी हो रहा है लेकिन चुनाव की पवित्रता और चुनाव के जरिए जनसाधारण के हितों की रक्षा, इन दोनों दावों के बारे में कई सवाल खड़े हो गए हैं।

भूमण्डलीकरण को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखते हुए अमेरिकी विद्वान सेमुअल हटिंग्टन ने इसे ''संस्कृतियों के महायुद्ध का दौर कहा है – क्लैश ऑफ सिवीलाइजेशंस।''[10] जबकि प्रो. आनंद कुमार ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि ''लेकिन शायद ये उतना सही नहीं है। यह संस्कृतियों के अवमूल्यन का समय है।''[11] आनंद कुमार का यह कथन सही ही जान पड़ता है क्योंकि किसी भी देश की संस्कृति को लेकर भूमण्डलीकरण ने एक सतही किस्म का बाजारू संस्करण पैदा कर दिया है। और संस्कृति की जड़ें उथली-सी हो गई हैं। भाषा, संगीत, कला से लेकर साहित्य तक, चौतरफा आज एक प्रदूषण का माहौल बन गया है। संस्कृतियों के मामले में भूमण्डलीकरण ने एक बाजारीकरण का माहौल पैदा कर दिया है। वह सबसे बड़ा चित्रकार जिसकी कलाकृति की बोली सबसे ऊँची लगे। वह सबसे अच्छा फिल्मकार जिसकी फिल्म दुनिया में सबसे ज्यादा मुनाफा कमाए। वह सबसे अच्छा गीतकार जिसके गीत लोगों की जुबान पर आज की टेक्नॉलोजी की जरिए जल्दी से जल्दी चढ़ जाएं और उसके बाजारी रिकॉर्डों से भारी आय हो। पूँजी के अबाध प्रवेश करने से चोरी और नकल का बाजार गरम है, मौलिकता और रचनात्मकता को कोई नहीं पूछता। संस्कृति अब उद्योग बन चुकी है। कर्म का हेतु अब पैसा है। यह मुनाफे का पैमाना बाजार का पैमाना है। शायद टिकाऊ नहीं होगा वरना टॉलस्तोय और टैगोर से लेकर प्रेमचंद और निराला, मुक्तिबोध तक हमारे बड़े, महान और आकर्षक नहीं बच पाएंगे।

हर देश में अल्पसंख्यकों की समस्याओं का एक संसार होता है। जिसकी राष्ट्रहित के नाम पर, समय के तकाजे के नाम पर, अनुशासन के नाम पर और व्यवस्था के नाम पर अनदेखी की जाती है। मानव अधिकारों का सबसे बडा उल्लंघन राज सत्ता की एजेंसियां करती हैं – पुलिस से लेकर फौज तक, न्यायालय से लेकर सत्ता प्रतिष्ठान तक। कहीं प्रतिरोध की गुंजाइश बनती भी है तो राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय हित इनकी ढाल बने रहते थे। लेकिन वैश्वीकरण ने आज मानव अधिकारों के उल्लंघन को दुनिया का

सरोकार बना दिया है । वास्विकता ये है कि दुनिया भर में करीब-करीब हर देश और व्यवस्था में अल्पसंख्यक संकटग्रस्त रहते हैं, आतंकित रहते हैं, उपेक्षित रहते हैं और वैश्वीकरण ने आज उनको मानवाधिकार के संदर्भ में एक नयी एकता और एक तरह का नया शक्ति स्रोत दिया है । दुनिया भर में मानवाधिकारों को लेकर आत्मनिरीक्षण हो रहा है जिसके चलते बालश्रम और बेगारी प्रथा से लेकर स्त्री व्यापार और भ्रूण हत्या तक आज आलोचना के दायरे में है ।

भूमण्डलीकराण के कारण परस्पर अन्तर तो घटा है, लेकिन देश के अन्दर का अन्तर बढ़ा है । पहले विश्व में उपनिवेश और साम्राज्यवादी देशों के रूप में जो दो तरह के देश होते थे । आज एक नया अवतार आ गया है गुलामी का, जिसमें देशों के अन्दर अन्दरूनी उपनिवेशों का निर्माण हो गया है । विश्व में कहीं साम्राज्यवाद दिखाई नहीं पड़ता लेकिन दुनिया के हर बड़े देश में एक बड़े हिस्से पर एक छोटे हिस्से का कब्जा जैसा साफ है । वहाँ के प्राकृतिक संसाधन, श्रम शक्ति, मेधा और प्रतिभा, ये सब एकतरफा रिश्ते में फँस गयीं हैं । लेकिन राष्ट्रीय स्वतंत्रता के तकाजे के तौर पर कोई इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता है । भूमण्डलीकरण जिस विश्वव्यापी समरूपता को बढ़ावा देता है उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप संस्कृतियों के समक्ष अपनी अस्मिता के रक्षा का प्रश्न भी खड़ा हो जाता है । अपनी पहचान बनाए रखने के लिए उनके विरोध का स्वर किन्ही विशेष परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरतावाद या धार्मिक अलगाववाद को बढ़ाने में उत्प्रेरक की भूमिका निभा रहा है । कुल मिलाकर एक ओर वैश्वीकरण के कारण सारा विश्व ग्राम की भूमिका ले रहा है तो दूसरी ओर आपसी द्वेष, साम्प्रदायिकता, अलगाव आदि के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच आत्मीय दूरी बढ़ गयी है । सुरेश पंडित के अनुसार – ''आश्चर्य है कि भूमण्डलीकरण जहाँ दुनिया को एक गांव में समेट देने की कोशिश कर रहा है वहीं भारत के लोग जातियों, उपजातियों और गोत्रों में बिखरते जा रहे हैं । दरअसल यह परिस्थिति अस्मिता संकट की संकेतक भी है । निरंतर बढ़ती भीड़ में व्यक्ति की पहचान खोती जा रही है । वह अपनी योग्यता, कला कौशल या अन्य किसी विशेषता के बलबूते आज समाज में अपनी पहचान बनाने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है । इसलिए उपजातियों, गोत्रों, स्थानीयताओं से अपनी पहचान बनाने की कोशिश में लगा है ।''[12]

विकास के लिए मुक्त बाजार के तर्क को स्वीकारने का अर्थ सामाजवादी अर्थनीति और उसके साथ सामाजिक न्याय और समता के मूल्यों की तिलंजलि भी है । जहाँ एक ओर इसने लाइसेंस-परमिट राज्य को खत्म करके राजनेताओं और नौकरशाहों के न्यस्त स्वार्थों पर कुठाराघात किया है, वहीं पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, स्त्रियों, मजदूरों, ट्रेड यूनियनों, पर्यावरण के हितों को नुकसान भी पहुँचाया है । स्त्रियों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में प्रभा खेतान लिखती हैं ''नब्बे के दशक के बाद उदारीकरण के दौर में समानता एक प्रकार से दफ्तरी नीति के रूप में ही रह गई है । लैंगिक भिन्नता और उससे जनित दमन रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा है तथा समकालीन राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विशेष पहलू । दूसरी संस्या है स्त्री पर पड़ रहे भूमण्डलीकरण के मिले-जुले प्रभाव की । उदाहरण के लिए लैंगिक संबंधों के नए आदर्श पश्चिम से आयात किये गए, जो भूमण्डलीय बाजार के प्रसार के दौरान स्त्री-

मुक्ति में सहायक तो हुए और इससे उसे पहचान भी मिली, मगर दूसरी ओर, पहचान के साथ 'मानव यौनिकता और मानव-श्रम का वस्तुकरण ही अधिक हुआ। बहुराष्ट्रीय बाजार व्यवस्था के कारण यौन वस्तुकरण तथा परा-राष्ट्रीय यौन बाजार में स्त्री का जींस की भांति बिकना वास्तव में भारतीय जनतंत्र में एक शोषणकारी परिणाम के रूप में उभरा है।''[13] इन सब के बावजूद इसका विरोध इतना बलशाली नहीं हो सका कि नीतियों में मूलभूत परिवर्तन करा सके। स्त्री आज भी घर से लेकर संसद तक हाशिए पर है। अपने आप से ही अजनबी है। उसको लगता है कि उसकी जिंदगी मुक्ति की प्रतीक्षा में शेष होती जा रही है। भूमण्डलीकरण ने जहाँ एक तरफ स्त्री को भी वैश्विक सरोकार दिया है, या यों कहें कि कीनिया की बच्ची से लेकर भारत की बहू, बेटियों तक और चीन की लेखिका से लेकर अमेरिका की वैज्ञानिक तक में एक एकता-भाव, सखी भाव फैला है। इसने विश्व की संस्कृतियों को आत्मनिरीक्षण के लिए मजबूर किया है। अपनी प्रेरणा से नहीं दूसरों की आलोचना से। चाहे वह हिंदू हो या इस्लाम, हर धर्म के स्त्री-पुरुष की समता के अभाव को लेकर एक जबरदस्त धर्मनिरपेक्ष मानवतावादी अभियान और विमर्श चल रहा है। वहीं अगर विकासशील देशों में से भारत की बात करे तो स्त्रियों को नुकसान भी भूमण्डलीकरण के चलते सहना पड़ रहा है।

भूमण्डलीकरण के दौर में यह तनाव टकराव की दिशा में बढ़ रहा है क्योंकि प्रतिपर्धा के वातावरण का निर्माण भूमण्डलीकरण की विशेषता है। भारतीय समाज का भूमण्डलीकरण और उभरता जातीय विद्वेष इस वैचारिक परिप्रक्ष्य में अधिक उपयुक्त ढंग से समझा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर अगर हम दलित समाज को लें पाते हैं कि भूमण्डलीकरण के इस दौर में राजनीतिक मोर्चे पर दलितों ने भले ही कुछ हद तक सफलता प्राप्त कर ली हो लेकिन उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति अभी भी पिछड़ी हुई है। इस दौर मे भी उनका शोषण करने के लिए विभिन्न हथकंडे अपनाए जा रहे हैं। जो पहले की तरह ही घातक हैं बस उनका स्वरूप बदल गया है। हाँ दलित समाज में शैक्षणिक संस्थाओं से प्राप्त आरक्षण और छातृवृत्ति की सुविधा के चलते साक्षरता दर में जरूर वृद्धि हुई है। जिसके चलते वह एकजुट होकर शोषण के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करने लगे हैं।

भूमण्डलीकरण के लिए जिस विश्व बाजार की जरूरत होती है, उपग्रह क्रांति और सूचना क्रांति उसकी सारथी की भूमिका अदा करती है। सूचना क्रांति के सांस्कृतिक प्रभाव इतने चिंताजनक हैं कि कई विद्वानों ने इसे नव उपनिवेशवाद या सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी है। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहां की जीवन शैली और मूल्य भी ला रही है जिसने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देकर हमारी सांस्कृतिक अस्मिता के सम्मुख प्रश्नचिह्न लगा दिया है। आज अर्थ लाभ और यौन लिप्सा ने सारे समाज को आक्रांत कर दिया है। अगर हम आदिवासी समाज को ही देख लें तो हमारी संस्कृति पर मंडराते खतरे और स्पष्ट हो जाते हैं। डॉ. गंगा सहाय मीणा ने आदिवासियों की संस्कृति के सामने खड़ी चुनौती के बारे में सही ही लिखते हैं ''वैश्वीकरण पूरी दुनिया में एक सी संस्कृति लादने पर आमादा है। आदिवासियों में न तो निजी संपत्ति की अवधारणा रही और न ही शेष समाज की तरह विभिन्न प्रकार की गैर-बराबरियां। आदिवासी दर्शन मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता के दावे को भी नहीं मानता

और सृष्टि की हर रचना को बराबर महत्वपूर्ण मानता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुन्दर नहीं है। समता पर आधारित आदिवासी समाज जैसे-जैसे बाहरी लोगों के संपर्क में आता चला गया, उसमें बाहरी समाज के दुर्गुण भी प्रवेश करते गए। पिछले दशकों में आदिवासी समाज में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया तेज हुई है, जिसके फलस्वरूप आदिवासी समाज विभिन्न प्रकार की गैर-बराबरियों ने घर बना लिया है।...कुल मिलाकर आदिवासी समाज पर एक बड़ा सांसकृतिक हमला हुआ है। अपने इलाकों से विस्थापित आदिवासी जब शहरों की झुग्गियों या कच्ची बस्तियों में रहता है तो आदिवासी पड़ोस के अभाव में वह अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा से कट गया है।...अपनी संसकृति से काटे जा रहे आदिवासी समाज के समक्ष अपनी पहचान बचाने का गंभीर संकट पैदा हो गया है।''[14] अंकुशहीन भोगवाद पनप रहा है। व्यक्ति केन्द्रिकता बढ़ी है, सामाजिक सरोकार घटा है। आज अधिकांश उच्च और मध्य वर्ग पर उपभोक्ता संस्कृति का शिकंजा कसता जा रहा है, इनका युवा वर्ग तो पहले से ही इसकी गिरफ्त में है। मुनाफा कमाने के उद्देश्य से मनोरंजन के नाम पर जिस लुभावनी दुनिया के दर्शकों के सैर विदेशी केबिल नेटवर्क टेलीविजन के परदे पर करता है वह भारत जैसे तीसरी दुनिया के लिए स्वप्न मात्र है। कटु वास्तविकता की ठोकर से जब यह स्वप्न टूटता है तो हताशा, अभावबोध, पराजय बोध, हिंसा जैसी सामाजिक प्रवृत्तियों का जन्म होता है। विडम्बना यह है हम इसे ही आधुनिकता मानकर बिना तर्क अपना रहे हैं। एक ओर पश्चिमी जीवन शैली का सम्मोहन है तो दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का आग्रह है। जिसने हमारी स्थिति त्रिशंकु की भांति कर दी है और हम हैं कि अनिर्णय के दलदल में फंस कर दिशाबोध खो बैठे हैं।

भूमण्डलीकरण का प्रभाव हमारे समाज पर बहुत गहरा पड़ा है, जिससे साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। कुल मिलाकर भूमण्डलीकरण का प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर भी पड़ा है ? चूँकि यह बात सच है कि साहित्य में समाज का ही चित्रण होता है, वह उसकी तमाम गतिविधियों से प्रभावित होता है और उसे भी प्रभावित करता है। यही कारण है जो 21वीं सदी के उपन्यासों के अंदर अकूत क्षमता दिखाई देती है इसलिए वह भारत के भूमण्डलीकरण के समय को उसकी तमाम जटिलताओं के साथ समग्रता में उपस्थित कर पाने में सक्षम दिखाई देता है। वास्तव में भूमण्डलीकरण के प्रभाव की टोह प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल', रणेन्द्र के 'गायब होता देश' तथा 'ग्लोबल गाँव के देवता', काशीनाथ सिंह के 'रेहन पर रग्घू' जैसे उपन्यासों से ली जा सकती है। इन उपन्यासों में अभिव्यक्त भूमण्डलीकरण के तमाम तरह के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को बड़ी बेबाकी से उकेरा गया है। वैसे तो 21सीं सदी के उपन्यासों में से शायद ही कोई उपन्यास भूमण्डलीकरण के प्रभाव से अछूता रहा हो।

(3.3) नव-आर्थिक नीतियों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

आजादी के बाद से भारत के नीति नियंताओं ने देश कृषि प्राधान्य, लघु-कुटीर उद्योग और अल्प औद्योगीकरण को देखते हुए समाज और राष्ट्र की बेहतरी और उन्नति के लिए न तो समाजवादी मॉडल अपनाया और न ही पूँजीवादी। उन्होंने जो आर्थिक मॉडल तय किया मिश्रित अर्थव्यवस्था का था

। सरकार ने एक तरफ औद्योगीकरण के लिए निवेश किया तो दूसरी तरफ निजी कंपनियों को भी सब्सिडी दी। इसका सकारात्मक असर भी भारतीय अर्थव्यवस्था में देखने को मिला जब जीडीपी वृद्धि के साथ रोजगार के मौके खड़े हो रहे थे। लेकिन इन सबके बावजूद आजादी के बाद जो सपने जनमानस ने देखे थे वे टूट गए, लोगों के जीवन में कोई खास बदलाव नहीं हुआ था। उस दौर में बड़े पैमाने पर जनमानस में मोहभंग हुआ। फलस्वरूप वामपंथी आंदोलन के साथ जनता का रोष भी जगह-जगह प्रकट होना शुरू हुआ। इसके बाद राजीव गांधी के सत्तारूढ़ होने के साथ ही भारत में विदेशी पूँजी के दरवाजे खुलने शुरू हो गए थे लेकिन उसके बाद व्यवस्थित रूप से उदारीकरण वैश्वीकरण और निजीकरण की नीतियां भारत में लागू हुईं। निवेश में वृद्धि, बड़े पैमाने पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अमद और उनमें वस्तुओं के उत्पादन से रोजगार के द्वार खुले और अर्थव्यवस्था ने भी नई करवट ली। इससे देश में एक नए वर्ग का भी बढ़ाव हुआ, यह वर्ग निम्न मध्य वर्ग का था। जिसे बाजार ने दैनिक आवश्यकताओं के साथ अन्य विलासी वस्तुओं की ओर भी आकर्षित किया।

यह सच है कि इन नव उदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण पिछले दो दशकों में आर्थिक विकास यानी जीडीपी की वृद्धि दर में तेजी आई है और वह औसतन 7 से 8 फीसदी के बीच रही है यह भी सही है कि इसके साथ भारी आर्थिक समृद्धि भी आई है। लेकिन इनसे ज्यादा बड़ा सच यह है कि इस आर्थिक समृद्धि का सबसे बड़ा हिस्सा बड़ी देशी-विदेशी कंपनियों, बड़े निवेशकों, टॉप मैनेजरों, अमीरों, शहरी मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग और कुछ ग्रामीण मध्यवर्ग, नेताओं, अफसरों, दलालों माफियाओं, ठेकेदारों की जेब में गया है। वहीं दूसरी तरफ देश की बड़ी आबादी खासकर छोटे-मंझोले और भूमिहीन किसानों असंगठित श्रमिकों, आदिवासियों, दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं आया है बल्कि उनकी स्थिति और बद से बदतर हुई है। जबकि इससे लाभान्वित लोगों की संख्या देश की कुल आबादी के 3 से 5 फीसदी भी नहीं होगी लेकिन उनके घरों, रहन-सहन और जीवन शैली में जो समृद्धि और तड़क-भड़क आई है, वह अभूतपूर्व है। उनमें और दुनिया के सबसे विकसित देशों के अमीरों की जीवनशैली और उपभोग में कोई खास अंतर नहीं दिखाई देता है।

इस तरह कह सकते हैं कि नव आर्थिक नीतियों के चलते नए मध्यवर्ग का जन्म हुआ है जो उपभोग के मामले में विकसित पश्चिमी देशों की बराबरी कर रहा है। यह उच्च मध्यवर्ग नव आर्थिक नीतियों के सबसे बड़े लाभार्थी के रूप में सामने आया है इसी कारण यह इसका सबसे बड़ा पैरोकार भी है। यही नहीं, बल्कि आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ यह वर्ग राष्ट्रीय एजेंडा और बहसों की दिशा तय करने में बहुत सक्रिय और प्रभावी भूमिका भी निभा रहा है। इसके उलट दूसरे मध्यवर्ग खासकर निम्न और गैर-मेट्रो मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से की उम्मीदें-आकांक्षाएं और सपने भी आसमान छू रहे हैं लेकिन नव आर्थिक नीतियों से उन्हें अभी तक कुछ खास नहीं मिला है। सफलता की इक्का-दुक्का कहानियों को छोड़ दिया जाय तो वह नव उदारवादी आर्थिक नीतियों की मार झेलता हुआ दिखाई पड़ता है।

हाँ यह सच है कि जहां एक तरफ 90 के बाद नव आर्थिक नीतियों के चलते बड़े पैमाने पर रोजगार का सृजन हुआ था उसका फायदा मध्यवर्ग ने लिया था। लेकिन अब अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक मंदी के कारण बड़े पैमाने पर उनकी कंपनियों से छटनी की जाने लगी है। हाल में लिए गए सरकार के दो अहम् फैसले (नोटबंदी और जीएसटी) मध्यवर्ग के लिए काफी कष्टकारी रहा है। नोटबंदी ने जहाँ इन्हें महीनों लाइन में खड़ा रखा वहीं जीएसटी ने छोटे मध्यवर्गीय कारोबारियों को लगभग बेरोजगारी की श्रेणी में कर दिया है। वहीं दूसरी तरफ मध्यवर्ग के यहां बेरोजगारी का अवसाद है, प्राइवेट-कांट्रैक्ट नौकरी की असुरक्षा, कम वेतन और बेहतर सेवा और अधिक शर्तों का दबाव है। बढ़ती मंहगाई और खर्चों का दबाव है। घर मकान से लेकर फ्रिज-टी.वी-मोटरसाइकिल के कर्जों की ई.एम.आई. का बोझ है और सफलता की अंधी दौड़ में पीछे रह जाने की पीड़ा भी है। राज्य और बाजार दोनों ने उसे अपने हाल पर छोड़ दिया है। फलस्वरूप उसका अकेलापन बढ़ता जा रहा है। इसके बावजूद भी इसकी नव उदारवादी आर्थिक नीतियों से उम्मीदें, अपेक्षाएं और आकांक्षाएं अभी पूरी तरह से टूटी नहीं हैं, उससे उसका पूरा मोहभंग नहीं हुआ है। इसके अलावा उच्च मध्यवर्ग को छोड़ दिया जाए तो निम्न मध्यवर्ग का तमाम सपनों से भरोसा टूटता-सा दिख रहा है। आनंद प्रधान लिखते हैं ''भारत ही नहीं, नव उदारवाद के मक्का माने जाने वाले अमेरिका और यूरोपीय देशों में भी नव उदारवादी आर्थिकी पर सवाल उठने लगे हैं, मध्यवर्ग सड़कों पर उतरने लगा है और 'आकुपाई वॉल स्ट्रीट' जैसे आन्दोलन दिखने लगे हैं।''[15] आनंद प्रधान की बातों से यह साफ जाहिर होता है कि अमेरिका से लेकर यूरोप में नव उदारवादी आर्थिक नीतियों पर उठ रहे सवालों ने भारतीय मध्यवर्ग के भी एक बड़े हिस्से को बेचैन कर दिया है। क्योंकि उसे पता है कि इसका फायदा एक छोटे से वर्ग को मिल रहा है। नई आर्थिक नीतियों के प्रति बढ़ते मोहभंग का एक और सबूत यह है कि संगठित मध्यवर्ग के कई तबके जैसे छोटे व्यापारी-दुकानदार खुदरा व्यापार में विदेशी पूंजी को अनुमति देने के खिलाफ खड़े हो गए हैं, उसी तरह संगठित श्रमिक भी श्रम सुधारों के खिलाफ अपना रोष जाहिर करने लगे हैं।

इसके अलावा नव-आर्थिक नीतियों की मार किसानों ने ही सबसे ज्यादा झेली है। इसीलिए समाज पर नव-आर्थिक नीतियों के प्रभाव को और अच्छी तरह से समझने के लिए किसान जीवन हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। किसान जीवन पर पड़ी नव-आर्थिक नीतियों के प्रभाव को जानने से पहले हमें उनके जीवन के इतिहास की स्थिति के बारे में जानना बहुत जरूरी है क्योंकि तभी हम उनकी वर्तमान स्थिति के बारे में ठीक से अध्ययन व मूल्याकंन कर पाएंगे। जब तक हम सहजानंद सरस्वती और प्रेमचंद के समय के किसान आन्दोलन को नहीं समझेंगे तब तक हम समकालीन किसान जीवन में नई आर्थिक नीतियों के द्वारा आयी चुनौतियों को नहीं समझ सकते। वैसे किसान तो हमेशा से ही अभावग्रस्त रहा है, वह समस्याओं से जूझता रहा है, लेकिन इसके बावजूद भी वह अपनी मेहनत पर भरोसा करता आया है। गिरीश मिश्र अपने लेख 'किसान और दूसरे संघर्षशील जन की आर्थिक दशा-दिशा' में स्वतंत्रता बाद के किसान जीवन की आर्थिक स्थिति के बारे में लिखते हैं ''1960-70 के दशक में हरित क्रांति आयी, जिसमें खेती के क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़े। पंचवर्षीय योजानाओं के तहत नई कृषि नीति को बढ़ावा

मिला। कृषि के उत्पादों में वृद्धि हुई। इसका फायदा कमोबेश हर श्रेणी को प्राप्त हुआ। वर्ष 1969 में इंदिरा गांधी द्वारा बड़े बैंकों, बीमा कंपनियों के राष्ट्रीयकरण से गांवों में ऋण आसान शर्तों पर उपलब्ध होने लगा। नाबार्ड ने वाणिज्यिक बैंकों की सहायता से ग्रामीण बैंकों की देशव्यापी श्रृंखला स्थापित की। मृतप्राय दस्तकारियों को जिंदा किया गया। अनाज, उर्वरक, बिजली आदि पर संरकारी सब्सिडी तथा जवाहर रोजगार योजना से काम के अवसर पैदा हुए। इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत दलितों तथा अन्य कमजोर श्रेणियों को सस्ते मकान उपलब्ध कराये गए।''[16] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यह समय किसानों के लिए कुछ अच्छा रहा था, किसान खुशहाली की ओर बढ़े थे। शहरों की ओर किसानों का पलायन रुका था। किसान मजदूर न बनकर अपनी खेती की तरफ लौटा था।

यह सच है कि किसान जीवन के समाने चुनौतियाँ 1990 के बाद नव-आर्थिक नीतियों के आने से बढ़ीं। जब वाशिंगटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण को नरसिंह राव की सरकार ने अंगीकार किया। वाशिंगटन आम राय के तहत दस बातें बताई जाती हैं जिनके अनुसार सब्सिडी में कटौती और गरीबी निवारण के कार्यक्रमों की लगभग समाप्ति, निजीकरण, विनियमनों और नियंत्रणों का खात्मा, वित्तीय उदारीकरण, व्यापार का उदारीकरण और विदेशी पूँजी के प्रवेश के लिए मार्ग प्रशस्त करना प्रमुख हैं। यह अनायास नहीं है कि किसान बड़ी संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। फर्क यही है कि जहाँ आजादी की लड़ाई के दौरान एकजुट होकर सारे किसान संघर्ष के लिए आगे आए थे, वही अब घोर हताशा के शिकार हो अपनी जान दे रहे हैं। अगर हम कुछ तथ्यों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि इन आत्महत्याओं के लिए वाशिंगटन आम राय पर आधारित नव-आर्थिक नीतियां ही जिम्मेदार हैं। इस समझौते ने राज्य को एक गार्ड की भूमिका में खड़ा कर दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां नियम बनाएंगी, उत्पादों का दाम तय करेंगी, सामान बेचेंगी, राज्य का काम केवल उन्हें भूमि और इन्फ्रास्ट्रक्चर उपलब्ध कराना तथा उनकी रक्षा करना ही रह जाता है। अब जरा सोचिए कि जब राजा ही अपनी देश में गुलाम बन जाए तो प्रजा की क्या हालत होगी ? उदाहरण के तौर पर इसे ही देख लीजिए कि 1991 में नव-आर्थिक नीति के आने के बाद डब्ल्यू. टी. ओ. ने 1995 में कृषि में नियम बनाने के लिए दबाव डाला। जिससे उत्पादों के दामों में वृद्धि और खेती की साख में गिरावट ने किसानों के ऊपर कर्ज का बोझ बढ़ाया। इस बोझ ने किसनो को आत्महत्या के लिए मजबूर किया। वर्तमान कृषि व्यवस्था आत्महत्या की प्रतीक नजर आने लगी है। किसानों की आत्महत्याओं ने लोगों को झकझोर कर रख दिया है। जिसके चलते विद्वानों को मजबूर होना पड़ रहा है किसानों की आत्महत्याओं के कारणों को जानने के लिए। वन्दना शिवा ने किसानों की आत्महत्याओं के दो प्रमुख कारण मानती हैं – पहला बीज पर कंपनियों का नियंत्रण और दूसरा डब्ल्यू. टी. ओ. की मुक्त व्यापार नीति।

आज स्थिति यह है कि लगभग 16-17 पूँजीपति घराने पूरे विश्व को चला रहे हैं। जिनमें सबसे अधिक अमेरिका के हैं। उनकी रणनीति ही कह लीजिए कि विश्व बैंक और डब्ल्यू. टी. ओ. जैसी वैश्विक संस्थाएं भी अमेरिका में ही हैं, जो उन्हीं के इशारों पर संचालित होती हैं। फिर किसकी हिम्मत है उनसे टकराने की। डब्ल्यू. टी. ओ. की तीन ऐसी नीतियां हैं जो सीधे तौर पर कृषि से जुड़ी हुई हैं। पहली नीति

है 'व्यापार संबंध बौद्धिक संपदा अधिकार समझौता' (ट्रिप्स), तथा दूसरी है 'स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता' (एस.पी.एस.ए.) और तीसरी है 'कृषि पर समझौता' (ए.ओ.ए.) । ट्रिप्स के तहत बीजों को बौद्धिक संपदा घोषित कर इनके आदान-प्रदान पर रोक लगाने की व्यवस्था तथा पेटेंट की व्यवस्था करना है। जिसका लाभ उठाकर मोसेन्टो और सिजेन्टा जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियां दुनिया भर में बीजों पर एकाधिकार जमा रही हैं। इनका मकसद है परम्परागत खेती को नष्ट करना और हर बार किसान नए बीज खरीदने के लिए बाध्य करना तथा बीजों के बाजार पर एकाधिकार स्थापित करना। एस. पी. एस. ए. के तहत विश्वव्यापी स्तर पर खाद्यान्न की गुणवत्ता के अंतर्राष्ट्रीय मानकों को लागू करने के नाम पर देशी उत्पाद के तौर-तरीकों पर सीधा हमला है। परम्परागत देशी खाद्यान्नों को असुरक्षित बताकर कंपनियों के चमचमाते खाद्यान्नों के लिए बाजार अपलब्ध कराया जा रहा है। तमाम विशेषज्ञों की चेतावनी के बावजूद जैव तकनीकी से विकसित सब्जियों को बाजार में लाने की तैयारी चल रही है।

ए. ओ. ए. के तहत कृषि पर समझौते के तीन प्रमुख अंग हैं, जिसमें पहला है – व्यापार उदारीकरण, दूसरा है – आयात उदारीकरण और तीसरा है – घरेलू सब्सिडी में कटौती । इन तीनों समझौतों की वजह से किसानों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है । चारों तरफ बेरोजगारी व भुखमरी का तांडव मचने लगा है। यही वह दौर है जहाँ से शुरू होता है किसानों की आत्महत्याओं का लगातार बढ़ने वाला सिलसिला। देश में कई राज्यों में किसान घाटे की खेती के कारण आत्महत्या करने को बाध्य हो रहे हैं। महाराष्ट्र, पंजाब, गुजरात, जैसे राज्यों से किसानों के आत्महत्या की खबरें लगातार आ रही हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार – ''किसान आत्महत्याओं में 42% की बढ़ोत्तरी हुई है। आत्महत्या के सबसे ज्यादा मामले महाराष्ट्र में सामने आए हैं। 30 दिसम्बर 2016 के रिपोर्ट 'क्सीडेंटल डेथ्स एंड सुसाइड इन इंडिया' में 2015 के मुताबिक 12602 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने आत्महत्याएं की हैं। 2014 में 12360 ने आत्महत्या की थी। इस प्रकार 2014-15 में आत्महत्या में 2.00%की बढ़ोत्ती हुई है।''[17]

यह सच है कि किसानों के जीवन स्तर पर कृषि सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि का सीधा असर पड़ता है। यह चिंता के विषय है कि उदारीकरण के बाद सकल घरेलू उत्पाद के साथ-साथ अर्थव्यवस्था के द्वितीयक तथा सहायक क्षेत्रों में तीव्र वृद्धि हुई है लेकिन कृषि के क्षेत्र में वृद्धि दर की गिरावट हुई है। इसके बारे में जी. एस. भल्ला लिखते हैं ''कृषि के वृद्धि दर में गिरावट आई और यह 1980-81 से 1990-91 की अवधि के 3.08 प्रतिशत से गिरकर 1991-92 से 2003-04 के बीच 2.63 प्रतिशत प्रतिवर्ष रह गई। कृषि में कार्यरत श्रमिकों के एक बड़े भाग पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना तय था।''[18] उपज के ये आँकड़े स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि 1990-91 के बाद फसल उत्पादन की वृद्धि दर में उल्लेखनीय गिरावट आई । इससे कृषि में आय और लाभोत्पादकता में कमी आई तथा रोजगार के अवसरों पर बुरा असर हुआ। वहीं दूसरी तरफ हमारी सरकार का मानना है कि रिटेल में एफ. डी. आई. के आने से कृषि व्यवस्था व किसानों के जीवन में सार होगा। किसानों की आमदनी बढ़ेगी, बिचौलिए खत्म होंगे, उपोक्ताओं को कम दाम में सामान मिलेगा। साथ ही कृषि उपज की आपूर्ति में होने वाली

बर्बादी पर अंकुश लगेगा। मगर यह सबसे बड़ा झूठ है क्योंकि वालमार्ट खुद एक बड़ा बिचौलिया है। पचास साल पहले अमेरिका में इसी वालमार्ट के कारण वड़ाँ के किसान बड़ी संख्या में गायब हो गये थे, गरीबी बढ़ गई थी, भुखमरी ने चौदह सालों का रिकार्ड तोड़ दिया था। वालमार्ट का भारत में यह प्रभाव है कि वह रोजगार बढ़ाने के बजाय बेरोजगारी बढ़ा रहा है। साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दुनिया में सबसे ज्यादा भुखमरी से ग्रस्त आबादी अफ्रीका और भारत में ही है।

इसके अलावा इन नव-आर्थिक नीतियों का आदिवासियों पर भी ने बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। सरकार द्वारा अपनाई गई इस उदारवादी आर्थिक नीति ने विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी निवेश का रास्ता खोला जिसका परिणाम सामने यह आया कि देशी-विदेशी कंपनियों ने द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुध दोहन शुरू हुआ। हजारों सालों से देश के आदिवासियों और उनके वंशजों के जल, जंगल, जमीन, नदियां, पहाड़ आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मुनाफा कमाने का केन्द्र बन गए हैं। आदिवासी जिन्हें अपना भगवान, पूर्वज और साथी मानकर पूजते आये हैं, आज वही कंपनियों के लिए कच्चा माल पाने के स्त्रोत बन गए हैं। कंपनियों द्वारा इन संसाधनों को हड़पने में विभिन्न सरकारों ने इसमें मदद की। पहाड़ों से खनिज निकाले जाने लगे और बिजली बनाने के लिए नदियों को रोककर बाँध बनाए जाने लगे। यह सब आदिवासियों की ही जमीन पर हो रहा है इसलिए इस पूरी प्रक्रिया में आदिवासी उजड़ते चले गए। जिन जंगलों को उनके पूर्वजों ने समृद्ध किया, उन्हें उन्हीं से बेदखल कर दिया गया। वे अपने ही पहाड़ों में कोयला चोर मान लिये गए। आदिवासियों के जीवन को दाँव पर लगाकर विकास का खूनी खेल खेला जाता रहा है। इसका फायदा तो सिर्फ नगरों-महानगरों के लोगों को ही मिल रहा है। तमाम विकास परियोजनाओं से आदिवासियों को भूख और विस्थापन के अलावा कुछ नहीं मिला। इसके लिए डॉ. गंगा सहाय मीणा अपनी पुस्तक 'आदिवासी चिंतन की भूमिका' में लिखते हैं ''अकेले झारखण्ड राज्य से पिछले एक दशक में विभिन्न परियोजनाओं के चलते कम से कम दस लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं।''[19] और तो और इन विस्थापित आदिवासियों में अधिकांश पुरुष आस-पास के शहरों में दिहाड़ी पर काम करते हैं और आदिवासी लड़कियाँ और स्त्रियां लोगों के घरों में काम करती हैं। विस्थापित आदिवासियों को एक तरफ आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ता है तो वहीं दूसरी तरफ आदिवासी स्त्रियों को शारीरिक शोषण भी झेलना पड़ता है। साथ ही इन्हें न तो न्यूनतम मजदूरी संबंधी कानून की कोई जानकारी होती है, न ही सरकारी ऋण योजनाओं की जानकारी, जिसके चलते इनका लगातार आर्थिक शोषण होता है और ये गरीबी तथा उससे जुड़ी समस्याओं से बच नहीं पातीं। आदिवासी समाज में परंपरा से विद्यमान खुले और बराबरी पर आधारित स्त्री-पुरुष संबंधों को दिकू समाज के लोग स्वछंद यौनाचार के रूप में देखते हैं, परिणामस्वरूप वे आदिवासी-स्त्रियों को उपभोग की वस्तु समझते हैं। तमाम गैर-बराबरी से भरा दिकू समाज अपनी ही मनसिकता से आदिवासियों को देखता है और उसी के अनुसार उनसे व्यवहार करता है।

दरअसल, वैश्वीकरण और उसके साथ चलने वाली आर्थिक प्रक्रियाएं एक मुनाफा आधारित व्यवस्था का निर्माण कर चुकी हैं, जबकि आर्थिक परंपरा और संस्कृति में मुनाफे की किसी अवधारणा

का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। रचाव और बचाव में विश्वास करने वाले आदिवासियों के सरल जीवन को इस मुनाफे की संस्कृति वाली व्यवस्था ने तहस-नहस कर दिया है। आदिवासी जनसंख्या के आधार पर झारखंड और छत्तीसगढ़ जैसे राज्य को बना दिए गए और झारखंड में आदिवासी समाज के व्यक्ति सत्ता का नेतृत्व करते रहे हैं, लेकिन पूरी व्यवस्था और उनके मानदंड गैर-आदिवासी समाज के हैं, इसलिए इसका कोई सकारात्मक परिणाम अभी तक नहीं आया है। आदिवासी नेतृत्व को बड़ी पार्टियों के भ्रष्ट नेतृत्व ने अपने अनुसार ढाल एक चक्रव्यूह में फंसाकर खत्म कर दिया। आदिवासियों को उजाड़कर विकास परियोजनाओं का लाभ दिकू ले रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप देश के आदिवासी गंभीर आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे हैं। इसके अलावा दलित समाज राजनीतिक मोर्चे पर भले ही कुछ हद तक सफलता प्राप्त कर ली हो लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति अभी भी पिछड़ी हुई है। इस दौर मे भी उनका शोषण करने के लिए विभिन्न हथकंडे अपनाए जा रहे हैं। जो पहले की तरह ही घातक हैं बस उनका स्वरूप बदल गया है।

नव-आर्थिक नीतियों से उपन्यास विधा भी अछूती नहीं रही है। 21वीं सदी के उपन्यास किसान आत्महत्या को उकसाने वाली पृष्ठभूमि के रूप में नव-आर्थिक सरकारी नीतियों को सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इस तरह उपन्यासों में खेती की समस्या, कर्ज, दहेज, बाजारवाद, नव-आर्थिक सरकारी नीतियां, महगाई, शोषण आदि किसान जीवन से जुड़ी समस्याओं का बखूबी चित्रण किया जा रहा है। कुल मिलाकर भारतीय किसानों की आज की स्थिति और आत्महत्या के संदर्भ इन उपन्यासों में चित्रित हैं। किसानों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार तत्व और किसान आत्महत्याओं की जमीनी सच्चाई को इन उपन्यासों में यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। साथ ही भूमण्डलीकरण एवं नव आर्थिक नीतियों से प्रभावित मध्यवर्ग की जीवन शैली का यथार्थ चित्रण भी काशीनाथ सिंह के 'रेहन पर रग्घू' और प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल' में देखा जा सकता है। आदिवासी समाज पर पड़े भूमण्डलीकरण एवं नव आर्थिक नीतियों के प्रभाव को वाल्टर भेंगरा 'तरुण' के उपन्यास 'लौटते हुए' में देखा जा सकता है।

(3.4) इतिहास की सबाल्टर्न दृष्टि का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

इसे मूलत: इतिहास अध्ययन की 'सबाल्टर्न' (निम्नवर्गीय प्रसंग) पद्धति के रूप में जाना जाता है। चूँकि इतिहास की सबाल्टर्न पद्धति यह मानती है कि किसी भी राष्ट्र, समाज, या समुदाय के निर्माण में केवल अभिजात वर्ग की ही भूमिका नहीं होती बल्कि निम्न वर्ग की भी उतनी ही भूमिका होती है। इसलिए इस पद्धति से यह प्रयास किया जाता है कि आम जनता के साथ-साथ गरीब किसान, चरवाहा, कामगार, मजदूर, अल्पसंख्यक, दलित जातियां, आदिवासी, स्त्री समाज आदि की चेतना व संघर्षों के इतिहास में दर्ज हों। साथ ही इनका उद्देश्य यह जानना भी होता है कि हाशिए के लोग इतिहास के बारे में क्या सोचते हैं ? इसीलिए शाहिद अमीन और ज्ञानेंद्र पाण्डेय अपनी संपादित पुस्तक 'निम्नवर्गीय प्रसंग' में यह लिखते हैं ''गौण से गौण, 'तुच्छ', 'हीन', 'निर्बल' गुट या व्यक्ति (चाहे स्त्री हो या पुरुष) मनुष्य तो होता ही है – सोचता-विचारता है, अपने अगले कदम तय करता है, दुनिया में जीने का, बढ़ने का, प्रीत

लगाने या फिर बदला लेने का रास्ता ढूँढ़ता है। अगर हम इस तर्क को बुनियादी मुद्दे के तौर पर नहीं उठाते हैं – और इस बिना पर निम्न जन-चेतना को एक आवश्यक स्वावलंबी रूप नहीं प्रदान करते – तो हम पहले की तरह 'समाज' या 'राष्ट्र' की तारीख लिखने के नाम पर एक अधूरे इतिहास को कलमबंद करते रहेंगे – ऐसा इतिहास जिसके पृष्ठों पर कृषकजन या फिर कामगार प्रवेश तो करेंगे, परन्तु या तो राष्ट्रीय नेतागण के इशारे पर क्रियाशील होंगे, या फिर 'भूखी जनता' के रूप में तात्कालिक उत्पात मचा पुन: अपने इतिहासहीन अतीत के झोपड़ों में लुप्त हो जाएंगे।''[20] लेकिन साथ ही इतिहास की सबाल्टर्न पद्धति इस तरफ भी लक्ष्य करती है कि वह सिर्फ निम्न जन की स्वावलंबी चेतना का ही इतिहास नहीं बल्कि एक ऐसा इतिहास रचने की कोशिश करेगी जिसमें अभिजन वर्ग के दायरे से बाहर जाकर निम्न वर्ग की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को परखे। और उसके साथ-साथ इन दोनों वर्गों की प्रक्रियाओं को दो अलग-अलग पटरियों पर न ढकेल कर, इन दोनों के पारस्परिक द्वंद्वात्मक संबंध को समझना है। इस पद्धति का मानना है कि इन दोनों पहलुओं को अख्तियार किए बिना, इस निम्नवर्गीय परिवेश को अपनाए बिना, हिंदुस्तान का इतिहास तो क्या कहीं का भी इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

इसलिए उन्होंने इस नए तरह के इतिहास लेखन के लिए एक नए शब्द, एक नई परिभाषा का सहारा लिया है। इसलिए शाहिद अमीन और ज्ञानेद्र पाण्डेय लिखते हैं ''इटली के मार्क्सवादी चिंतक आंतोनिओ ग्राम्शी ने 'सबाल्टर्न' शब्द समाज के गौण, दलित, उत्पीड़त, मुत्गालिब लोगों के लिए इस्तेमाल किया है। भारतीय इतिहास अध्ययन के लिए इस परिभाषा को अपने लेखन में कार्यान्वित करने के हमारे कई कारण थे। प्रयास था भारतीय समाजमें प्रभुत्व और मातहती के बहुआयामी रूप को सामने लाने का, वर्ग संघर्ष और आर्थिक द्वंद्व को कोरी आर्थिकता के कटघरे से आजाद कर उसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिरूप और विशिष्टताओं का करीब से विवेचन करने का।''[21] इस प्रकार वह मानते हैं कि औपनिवेशिक भारत से लेकर अन्यत्र कहीं भी प्रभुत्व या वर्चस्व केवल आर्थिक दबाव के बलवूते पर ही कायम नहीं होता। निम्नजन को उसकी गौणता का एहसास विभिन्न प्रसंगों में रोजमर्रा की जिंदगी में भी कराया जाता है। और यह पद्धति उनके ऊपर हुई तमाम तरह की सामाजिक, लैंगिक ज्यादतियों को भी महत्व देता है तथा उसको केन्द्र में लाने की बात करता है। उन लोगों के संघर्षों और जीवन को तरजीह देने की कोशिश करता है जिन्हें हाशिए पर ढकेल दिया गया तथा जिन्हें सदियों से इंसान तक नहीं समझा गया। भारत जैसे पारम्परिक एवं बहुलवादी संरचना वाले समाज को समझने में यह दृष्टि अधिक कारगर इसलिए है कि यह अभिजन और निम्नजन को दो अलग-अलग पटरियों पर न ढकेलकर उन दोनों के पारस्परिक संबंध, आश्रय और द्वंद्व के माध्यम से सामाजिक विकास की प्रक्रिया को दर्ज करती है। यह पद्धति अभिजन के दायरे से बाहर जाकर आम जनता, गरीब किसान, कामगार मजदूर, दलित जातियों, स्त्री समाज आदि की जैविक आवश्यकताओं तक ही सीमित न रहकर, वृहत्तर समाज से उनकी वैचारिक आवाजाही और टकराहट को भी दर्ज करती है।

इसके अलावा राबर्ट इ. पार्क लोगों के हाशिए पर चले जाने के कारणों के रूप में दो प्रजातियों के अंत:प्रजनन के फलसस्वरूप उत्तपन्न 'वर्ण-संकर' चरित्र, संस्कृति, उसके मिजाज, शारीरिक बनावट

को माना है। उनकी स्थापनाओं को देवेन्द्र चौबे ने अपनी पुस्तक 'हाशिए का वृत्तांत' में उद्धृत किया है। जिसमें वह लिखते हैं ''विभिन्न प्रजातियों के बीच के आपसी संबंध से जो नई प्रजाति अथवा पीढ़ी विकसित होती है, वह संक्रमण के दौर से गुजरती है तथा धीरे-धीरे वह अपने समाज में हाशिए पर चली जाती है।''[22] जिसके चलते वह इस बात की स्थापना करते हैं कि 'सीमांत का आदमी मिश्रित खून का आदमी होता है।' क्योंकि वह एक ही साथ ऐसे दो विश्व में रहता है, जिसमें वह कम या अधिक अपने आपको अजनबी महसूस करता है। इसके साथ ही धीरे-धीरे उसके अंदर कुछ ऐसी प्रवृत्तियां पनपने लगती हैं जिसके कारण वह अपने आपको बेचैन, रुग्ण और क्लांत अनुभव करने लगता है तथा उसके अंदर अस्थायीपन का भाव झलकने लगता है। वह मानते हैं कि प्रजातीय अंतर्संबंधों के कारण जन्मे व्यक्ति में ये सारे गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। क्योंकि प्रजातियों में परिवर्तन के कुछ समय बाद उनकी संस्कृति में भी परिवर्तन आता है। साथ ही लोगों की गतिशीलता और उनके समन्वय के कारम प्राय: रीतियों और व्यवहारों में भी द्रुतगति से बदलाव आता है। इतना ही नहीं राबर्ट इ. पार्क लिखते हैं ''समय के साथ दो प्रजातियों के अन्त:प्रजनन के फलस्वरूप उनके मिजाज और शारीरिक आकृति में भी परिवर्तन आता है।''[23] बहुत सारी प्रजातियां अपनी शारीरिक आकृति के कारण ही हाशिये पर चली जाती हैं, जैसे कि दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत समाज के साथ हुआ।

हाशिये के लोगों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक परिवेश में पलने-बढ़ने के कारण धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व में दोहरापन आने लगता है ड्यू ब्वॉयज के शब्दों में कहें तो कहेंगे कि 'दोहरी चेतना का अवुभव करता है।' उसके अंदर इस दोहरी चेतना का उदय अचानक नहीं होता है। सांस्कृतिक परिवेश में पलने और बढ़ने के कारम, खासकर 'वर्णसंकर' चरित्रों की यह नैसर्गिक चाहत होती है कि वह अपने से ताकतवर समूह में स्थान पाए। इसी प्रयास के कारण उसका परिचय दो संस्कृतियों से होता है तथा ताकतवर समूह में अपने आपको व्यवस्थित नहीं कर पाने की स्थिति में वह संकट और बेचैनी के जीवनचक्र से गुजरने लगता है। इस काल में वह अपने आपको हाशिए पर खड़ा महसूस करता है। यह स्थिति केवल 'वर्णसंकर' चरित्र वाले लोगों के साथ ही नहीं होती है बल्कि ''वे सभी लोग अपने आपको हाशिये पर महसूस करते हैं, जो आर्थिक विषमता के कारण अपना मूल स्थान छोड़कर किसी नई जगह पर व्यवस्थित होने की कोशिश करते हैं। कई बार नए स्थान का प्रभावशाली समूह या समूह का कोई व्यक्ति उसे स्वीकार कर लेता है तथा कभी-कभी अस्वीकार। अस्वीकार की स्थिति में भी कम ताकतवर समूह का व्यक्ति, उस ताकतवर समूह की तुलना में अपने आपको अकेला और हाशिए पर खड़ा महसूस करता है।''[24] एवर्ट वी. स्टॉनक्वीस्ट के शब्दों में कह सकते हैं कि 'यह वही आदमी होता है , जिसने अपने घर की संस्कृति को छोड़ दिया है और नई स्थिति में खुद को व्यवस्थित नहीं कर सका है।' इसका सबसे कारण यही है कि जब दोहरी संस्कृति के दौर से कोई व्यक्ति गुजरता है तो उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है। ऐसा इसलिए कि वह व्यक्ति अपने समुदाय के सांस्कृतिक प्रभाव को छोड़कर अपने से ताकतवर और सम्मानित समुदाय में प्रवेश करने का प्रयास करता

है, इस प्रयास में जब उसे समुचित सहयोग और सफलता नहीं मिलती है, तब वह हाशिए का आदमी बन जाता है

वस्तुत: 'हाशिए के लोग' की मूल अवधारणा सांस्कृतिक भिन्नता को लेकर है जो कहीं प्रजातिवाद के कारण है तो कहीं स्थान-परिवर्तन के बाद नी जगह पर व्यवस्थित न हो पाने के कारण। स्थान परिवर्तन का मुख्य कारण आर्थिक है, जो लोगों को अपने घर की संस्कृति को छोड़ देने के लिए बाध्य कर देता है। इन दोनों स्थितियों में व्यक्ति एक ही साथ दो विश्व में रहने के लिए बाध्य हो जात है। एक ही साथ दो विश्व में रहने के कारण उसका सामना दोहरी संस्कृति से होता है तथा धीरे-धीरे उसके अंदर दोहरी चेतना का विकास होने लगता है। इस दोहरी चेतना के कारण ही वह स्थिर नहीं रह पाता है तथा एक ही साथ बेचैनी, तनाव, अजनबीपन, अस्थायीपन, शारीरिक क्लेश और मानसिक यंत्रणाओं आदि जैसी स्थितियों से गुजरने लगता है। परिणामत: एक साथ दो विश्व और दो संस्कृतियों में रहते हुए भी वह कहीं का नहीं रह पाता है। उसकी लगातार यह कोशिश रहती है कि संबंधित समुदाय अथवा समाज में उसकी भी एक पहचान बने। कभी-कभी उसे इस अस्तित्व की लंबी लड़ाई लड़नी पड़ती है, उसके बाद भी तथाकथित सभ्य समाज उसे 'स्वतंत्र पहचान' देने से इंकार कर देता है। बाद में यही लोग संबंधित समाज अथवा समुदाय में 'हाशिए के लोग' बन जाते हैं।

यदि भारतीय समाज की संरचना, विकास और उसमें आ रहे तीव्र सामाजिक परिवर्तन पर हम गौर करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इसके मुख्यधारा के भीतर और बाहर कुछ ऐसे लोग, समूह और समाज हैं, जो सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक कारणों से हाशिए पर चले गए हैं। ऐसा नहीं है कि हम उनसे अपरिचित हैं, या हम उनके हालातों को नहीं जानते हैं। आये दिन जीवन के हर मोड़ पर उनसे हमारा साक्षात्कार होता रहता है। फर्क बस इतना है कि उनका उपयोग कर हम उन्हें उनके हालत पर विवश होकर जीने के लिए छोड़ देते हैं। भारतीय समाज के इन लोगों में से कुछ तो अब संगठित हो गए हैं तथा समय-समय पर अपनी एक अलग पहचान और हक के लिए आवाज भी उठाते रहे हैं। पर आज भी बहुत सारे लोग, समुदाय और समूह ऐसे हैं, जो असंगठित होने कारण अपने शोषण, दमन और उपेक्षा के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा पाते तथा अपने ही समाज, समूह अथवा समुदाय में उपेक्षित, प्रताड़ित और अजनबीपन का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। भारतीय समाज में 'हाशिये के लोग' इन्हीं लोगों का समूह है, जो मुख्यधारा के भीतर और बाहर हाशिए पर जीने के लिए विवश हैं। इसके लिए देवेन्द्र चौबे लिखते हैं ''भारतीय समाज की संरचना और उसके विकास की प्रक्रिया में इतनी अधिक असमानता रही है कि बहुत सारे लोग, समुदाय और समाज विकास की इस प्रक्रिया से वंचित रह गए। परिणामत: ये लोग, समूह अथवा समुदाय समाज की मुख्यधारा में धीरे-धीरे हाशिये पर चले गए। उनके हाशिये पर जाने की यह प्रक्रिया इतने सूक्ष्म स्तर की रही कि हाशिये पर जाने वाला व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय इस बात को जान नहीं पाया कि वह सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिये पर जी रहा है।''[25]

इसके साथ ही जैसे-जैसे समाज के हाशिए के कुछ लोगों, अथवा समुदाय के अन्दर चेतना का विकास होना शुरू हुआ, उन्हें उनके गुलाम होने का एहसास शुरू हुआ तो 20वीं शताब्दी के नवें और दसवें दशक में उपन्यास विधा में भी अस्मितामूलक प्रवृत्ति ने स्थान बनाना शुरू किया और आज के दौर में साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न अस्मिताओं की ही प्रमुखता दिखाई दे रही है। इतिहास में यह भी देखने को मिला है कि वर्चस्ववादी साहित्य ने अपने अन्दर हाशिए के लोगों - दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों को जगह तक नहीं दी। आज का उपन्यास साहित्य अपने अन्दर समाज की अनेक अस्मिताओं को दर्ज कर रहा है। हाशिए पर ढकेली गई आवाजों को, उनके शोषण, उत्पीड़न को, उनके द्वारा किए जा रहे संघर्षों को, तरजीह दे रहा है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि 'इतिहास की सबाल्टर्न पद्धति' का उपन्यास साहित्य पर न सिर्फ प्रभाव पड़ा बल्कि ऐसे साहित्य की रचनाओं को व्याख्यायित कर जाँचने-परखने के लिए उसकी आलोचना पर भी खास प्रभाव डाला है। अत: उपन्यासों का अध्ययन कर मूल्यांकित करने के लिए वीरेन्द्र यादव ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता' में लिखा है ''जरूरत है नए 'कैनन फारमेशन' की। आज जब 'दलित' और 'स्त्री' विमर्श साहित्यिक और बौद्धिक विमर्श का एक एजेंडा तय कर रहे हों, तब तो यह और भी जरूरी है। इन संदर्भों में 'सबाल्टर्न' अध्ययन-पद्धति प्रासांगिक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है।''[26] वीरेन्द्र यादव की इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि दलित, आदिवासी, स्त्री, मजदूर, किसान आदि के सवालों और चेतना पर आधारित उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए 'सबाल्टर्न' अध्ययन पद्धति सहायक मानी गयी है। उन्होंने तो अपनी इस किताब में अस्मितामूलक उपन्यासों के साथ-साथ 20वीं सदी के कालजयी उपन्यासों का भी 'इतिहास की सबाल्टर्न पद्धति' से मूल्यांकन किया है, जैसे 'मैला आँचल', 'आधा गाँव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'डूब' आदि।

(3.5) सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

सांप्रदायिकता शब्द का इस्तेमाल पश्चिमी देशों में सकारात्मक अर्थ में किया जाता है जिसका आशय किसी समुदाय विशेष से संबंधित कार्रवाई से है। किंतु दक्षिण एशियाई देशों में यह किन्हीं दो समुदायों के बीच, आमतौर पर धार्मिक समुदायों के बीच होड़ और टकराव का द्योतक है। सांप्रदायिकता के मूल कारण तो बहुत से हैं किंतु इसे समझने का एक आम नजरिया समाज में रूढ़ हो गया है, वह इसके मूल में केवल धार्मिक कारणों को ही तलाशता है। ''सांप्रदायिकता धार्मिक परिघटना नहीं है, लेकिन यह एक धर्म को मानने वाले समूह के स्वार्थों से जुड़ी है। इससे धार्मिक मतों के सवाल पर द्वंद्व नहीं होता बल्कि सांसारिक हितों का द्वंद्व जुड़ा होता है। अक्सर अभिजात समूह धर्म को आस्था के लिए नहीं, वैधता के लिए लेता है।''[27] इस वैधता को प्रमाणित करने के लिए धार्मिक राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति करने की प्रवृत्ति तो हमारे इतिहास में काफी पहले से मिलती है। मध्यकालीन भारतीय शासकों की धर्म आधारित राजनीति के बारे में रोमिला थापर लिखती हैं कि ''धर्म को तब तक कोई महत्व नहीं दिया

जाता था जब तक की वह किसी निश्चित राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता था, लेकिन जहाँ भी ये राजनीतिक उद्देश्य पूरे कर सकता था, इसका जमकर प्रयोग किया जाता है।''[28]

आधुनिक काल में इसी प्रकार की धार्मिक राजनीति से सांप्रदायिकता के उदय की पृष्ठभूमि निर्मित हुई। ''निश्चय ही यह एक आधुनिक परिघटना है और इसका सबसे घातक पहलू है, भारत की विविधता, यानी अल्पसंख्यक बहुल समाज की अवधारणा का परित्याग और बहुसंख्यकवादी एकरूपीकरण और सामान्यीकरण की अवधारणा का थोपा जाना। सांप्रदायिकता का उदय इसी का परिणाम है।''[29] इसके अतिरिक्त सांप्रदायिकता की उत्पत्ति का कारण राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में संरचनागत बदलाव भी है। औपनिवेशिक राजनीति और अर्थव्यवस्था ने सामंती राजनीति और अर्थव्यवस्था की जगह ली। सामंती अर्थव्यवस्था और राजनीति दोनों प्रतिस्पर्धात्मक नहीं थीं। सामंत काल में सत्ता तलवार के बल पर प्राप्त की जाती थी जबकि आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रतिस्पर्धात्मक मतपेटी से प्राप्त की जाती है।

इसके साथ ही सांप्रदायिकता के स्वरूप और विकास का श्रेणीवार विभाजन करते हुए राम पुनियानी लिखते हैं ''सांप्रदायिकता एक ऐसा विश्वास या विचारधारा है जिसके अनुसार एक धर्म से ताल्लुक रखने वाले सभी लोगों के सामान्य आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक हित एक होते हैं और ये हित दूसरे धर्म से जुड़े लोगों के हितों से अलग होते हैं।''[30] वे आगे लिखते हैं ''सांप्रदायिकता के विकास की तीन स्पष्ट श्रेणियाँ हैं - नरम - एक धर्म के लोगों के हित एक होते हैं। मध्यम - विभिन्न धर्मों के लोगों के हित विभिन्न होते हैं। उग्रवादी - विभिन्न धर्मों के लोगों के हित एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। यह अन्य धर्मों के प्रति डर और घृणा पर आधारित होता है।''[31] 'नरम' और 'मध्यम' सांप्रदायिक श्रेणियाँ समाज को अलग-अलग खाँचों में बाँटती हैं लेकिन इनमें दूसरे धर्म के अनुयायियों के प्रति तटस्थता का भाव रहता है। यह सांप्रदायिक बोध सामाजिक समरसता को प्रत्यक्ष तौर पर खंडित नहीं करता किंतु इतना अवश्य है कि 'उग्रवादी' सांप्रदायिक श्रेणी के विकास के लिए एक जमीन अवश्य मुहैया करा देता है। उग्रवादी सांप्रदायिकता, फासीवादी विचारों के साथ आगे बढ़ती है। जहाँ से असहिष्णुता चरम पर होती है। सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले अनवरत इस प्रयास में लगे रहते हैं कि समाज में प्रायः उग्र सांप्रदायिकता की स्थिति बनी रहे। हमारे देश में आए दिन होने वाली जातीय-नस्लीय हिंसा या सांप्रदायिक दंगे ऐसी राजनीति के ही परिणाम हैं। धार्मिक-सामाजिक वर्चस्व के लिए राजनीतिज्ञ और धार्मिक ठेकेदार धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा, नस्ल आदि के आधार पर अन्य समुदाय को शत्रु के रूप में पेश करते हैं। उनके प्रति घृणा और भय का माहौल निर्मित करते हैं। इतिहास से ऐसे-ऐसे तथ्य सामने लाते हैं जो अन्य समुदायों को लक्षित समुदाय के लिए सबसे बड़ा खतरा सिद्ध कर दे।

इसी क्रम में वे राष्ट्रभक्ति और राष्ट्र पर मँडरा रहे खतरे की भी बात करते हैं। हमारे देश में हिंदू और मुसलमानों को लक्ष्य करके इसी तरह से सांप्रदायिक स्थितियाँ पैदा की जाती हैं। बहुसंख्यकों का धार्मिक-राजनीतिक वर्चस्व चाहने वाले उन्हें राष्ट्र का पर्याय घोषित करते हैं जिसका अर्थ यह निकलता

है कि बहुसंख्यक या हिंदू ही राष्ट्र का निर्माण करते हैं। अब हिंदुओं के सारे हित राष्ट्रीय हित हुए जबकि अल्पसंख्यक मुख्यतः मुसलमानों से जुड़े सारे हित और क्रियाकलाप सांप्रदायिक हुए। हिंदुओं की धार्मिक वर्चस्व की राजनीति का यह फासीवादी रूप है। दरअसल ''फासिज़्म विभिन्न रुझानों का सम्मिश्रण होने के साथ ही सभी देशों में एक सामान्य तत्व के साथ आता है और वह है, उसका तीव्र राष्ट्रवाद।''[32] इटली के कम्युनिस्ट आंदोलन का नेतृत्व करने वाले पामीरो तोग्लियात्ती 'फासीवाद' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''यह विचारधारा मेहनतकशों पर अपनी तानाशाही स्थापित करने के लिए विभिन्न धाराओं को साथ लाती है। इस काम के लिए यह एक व्यापक आंदोलन को संगठित करती है। इसके विकास की मूल दिशा तीव्र राष्ट्रवाद है।''[33]

तोग्लियात्ती ने यह विशेषता भले ही मेहनतकशों और तानाशाही के संदर्भ में बताई हो किंतु 'फासीवाद' राष्ट्रीय स्तर पर अन्य संदर्भों में भी इसी प्रक्रिया से उधार लेता है। हम जानते हैं कि सांप्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना है, इसका उदय भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान हुआ। जिसके पीछे अनेक कारण हैं - अंग्रेजों ने फूट डालो और राज करो की नीति के द्वारा हिंदू और मुसलमानों के बीच में ऐसा तनाव पैदा किया जो उक्त समय के पूर्व कभी उस स्तर पर नहीं था। इसके लिए उन्होंने अनेक चालें चलीं। नीतिगत फैसलों में अंग्रेजों ने हिंदू मुस्लिम विवाद को बार-बार उभारा और दोनों समुदाय के प्रतिनिधियों से अलग संबंध रखे। सबसे बड़ी चाल उन्होंने इतिहास की प्रस्तुति के स्तर पर किया। जैसा कि हम जानते हैं कि प्रारंभिक भारतीय इतिहास विदेशियों द्वारा ही लिखे गए जिनमें उन्होंने तथ्यों को जैसा चाहा तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। अंग्रेजो ने ''इतिहास लेखन के लिए इलियट और डाऊसन की सेवाएँ लीं जिन्होंने फारसी से चुनिंदा स्रोतों का अनुवाद करके ऐसी सामग्री मुहैया करवाई जो यह सिद्ध करती थी कि हिंदू और मुसलमानों के बीच शाश्वत लड़ाई है।...अंग्रेजों द्वारा इतिहास का 'हिंदू', 'मुस्लिम' और 'अंग्रेजी' के रूप में काल विभाजन धूर्ततापूर्ण था ऐसे काल विभाजन में पहले के युगों की पहचान धर्मों से की गई जबकि अपने काल को उन्होंने राष्ट्रीयता से पहचाना है।''[34] इस तरह सांप्रदायिक इतिहास लेखन एक विशिष्ट दृष्टिकोण लेकर चलता है। इसीलिए संप्रदायवादी इतिहासकारों ने इस तथ्य की उपेक्षापूर्ण व्यवहार को देखा जा सकता है कि किसी भी ऐतिहासिक शासक का व्यवहार उसके धार्मिक विश्वासों से नहीं बल्कि राजनीतिक स्वार्थों से तय होता है। यहां तक कि महमूद गजनवी तथा औरंगजेब जैसे शासकों को सिर्फ धार्मिक विश्वासों तक प्रेरित मानना इसलिए गलत है क्योंकि उन्होंने अपने-अपने राजनीतिक हितों के लिए अगर मंदिर तोड़े तो मस्जिदें भी तोड़ीं इसी तरह हिंदुओं और बौद्धों ने एक दूसरे के पूजा स्थलों को ध्वस्त किया है। ''हिंदू सांप्रदायिक इतिहासकारों, लेखकों प्रचारकर्ताओं ने भारतीय अर्थव्यवस्था तथा शिल्प-विज्ञान, धर्म, साहित्य, कला, संस्कृति तथा समाज के विकास में मध्ययुग के मूलभूत योगदान को स्वीकार नहीं किया। मुस्लिम संप्रदायवादियों ने मध्यकालीन इतिहास को अपने ही ढंग से प्रस्तुत किया।...वे सभी मुस्लिम शासकों यहाँ तक कि औरंगजेब जैसे कट्टर धर्मांधों की गौरव-गरिमा गान की ओर प्रवृत्त हुए।''[35] इसी के साथ प्रख्यात इतिहासकार रामशरण शर्मा ने काशी प्रसाद जायसवाल, हेमचन्द्र राय चौधरी, ए. नीलकंठ शास्त्री तथा रमेशचंद्र मजूमदार जैसे इतिहासकारों के

इतिहास लेखन में उनके प्रछन्न हिंदुत्व प्रेम को रेखांकित किया है। इन प्रायोजित स्थापनाओं ने भारतीय जनमानस को जहाँ खंडित किया वहीं बाद का सारा भारतीय इतिहास प्रतिक्रियावादी ढंग से लिखा गया। इतिहास द्वारा गलत तथ्यों और भ्रमित करने वाली अवधारणाओं को प्रस्तुत करने से समाज में हिंदू-मुस्लिम का भेद गहरा होता चला गया। इस प्रकार इतिहास लेखन का यह सांप्रदायिक दृष्टिकोण विपथगामी राष्ट्रवाद का एक पहलू और सांप्रदायिकता का प्रतिफल है। भारत में सांप्रदायिकता के उद्भव और विकास में इतिहास के सांप्रदायीकरण ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज राजनीतिक ताकतें अपने व्यक्तिगत हितों के लिए इतिहास का सांप्रदायीकरण करवा रही हैं क्योंकि वह जानती हैं कि सांप्रदायिकता को उभारने में इस सांप्रदायिक इतिहास का कितना महत्व है। बाबरी मस्जिद के पूरे प्रकरण को इस सांप्रदायिक इतिहास के आलोक में समझा जा सकता है।

इसके साथ ही धर्म को एक औजार के रूप में सांप्रदायिक राजनीति में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया, यह सांप्रदायिकता का सबसे महत्वपूर्ण बिंदु है क्योंकि आज यह सबसे लोकप्रिय हथियार बन चुका है। इतिहास पर नजर दौड़ाएं तो पता चलता है "सांप्रदायिकता 1939 के बाद 1945 - 47 के दौरान जनता के बीच अपनी जड़े तभी जमा पाई, जब उसने 'यह या वह' धर्म खतरे में है का उत्तेजक नारा लगाना शुरू किया।"[36] धर्म का इस्तेमाल राजनीति अपनी विकृत अवस्था में ही करती है। हिंदुस्तान की राजनीति की विकृत परिणति थी जब दो राष्ट्रों के सिद्धांत के तहत जिन्ना मुस्लिम लीग को वोट देने का मतलब इस्लाम को वोट देना है का नारा उछाल रहे थे। इसी विकृत राजनीति का परिणाम था कि सन् 1924 में हिंदू महासभा तथा सन 1925 में आर. एस. एस. जैसी हिंदू संप्रदायवादी संस्थाओं का जन्म हुआ। सन् 1940 - 41 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ प्रमुख गोलवलकर ने मुस्लिम लीग के 'इस्लाम खतरे में है' के नारे के तर्ज पर 'हिंदुत्व खतरे में है' का नारा दिया। स्वतंत्रता आंदोलन का यह दौर राजनीति में विभाजनकारी विचारधारा के उफान का दौर माना जाता है। सन् 1941 में 'जमाते – इस्लामी' जैसे कट्टर मुस्लिम संगठन का निर्माण तथा हिंदुत्ववादी शक्तियों के उन्मादी तेवर के बीच इस विभाजनकारी विचारधारा को समझा जा सकता है इसी विचारधारा ने विभाजन का रास्ता भी तैयार किया था। इस विभाजनकारी राजनीति को जिन्ना के द्वारा मार्च 1941 में अलीगढ़ में दिए गए भाषण में देखा जा सकता है। जिन्ना ने कहा "पाकिस्तान ना केवल हासिल किया जा सकता है बल्कि इस देश में को पूरी तरह खत्म होने से रोकना चाहते हैं, तो एकमात्र मकसद यही हो सकता है।"[37]

यह सच है कि 'जब-जब राजनीति अपने हित के लिए धर्म का इस्तेमाल करती है, सांप्रदायिक दंगा भड़क उठता है। लॉर्ड माउंटबेटन के इस फैसले से सरहद के दोनों तरफ दस लाख से भी ज्यादा लोगों को कत्लेआम का शिकार होना पड़ा। भारत का विभाजन धार्मिक जनसंख्या को आधार बनाकर किया जाना था, जिन इलाकों में मुसलमान बहुसंख्यक थे उसे पाकिस्तान तथा शेष हिस्से को हिंदुस्तान के रूप में स्वीकार किया जाना था। हर दिन 20 मील की सीमा का निर्धारण हो रहा था, गांव, घर बांट रहे थे, एक-एक इंच जमीन के लिए लोगों की अपनी दलीलें थीं। यह सिर्फ बंटवारा नहीं था बल्कि

भावनाओं का भी बंटवारा हुआ था, भारत और पाकिस्तान के बंटवारे के लिए नदियों और पहाड़ों को सरहद मान लिया गया रेडक्लिफ दिन-रात अपना काम कर रहे थे। "बंगाल और पंजाब का विभाजन रेडक्लिफ के लिए सबसे कठिन कार्य था क्योंकि दोनों की सांस्कृतिक एकता उनके लिए चुनौती बनी हुई थी। बेहद हैरान करने वाली बात थी कि देश का स्वरूप क्या होगा यह जिन्ना और नेहरू को पता तक नहीं था। रेडक्लिफ बंटवारे का अजीब तरीका अपनाए हुए थे, 'कभी वह लाहौर को हिंदुस्तान को दे रहे थे कभी पंजाब को पाकिस्तान को।"[38] इन सभी घटनाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि देश के बंटवारे के पश्चात लोग कितने उहापोह में रहे होंगे कि वे भारत में है या पाकिस्तान में। यह सब लोग एक मुसीबत में थे, इन लोगों ने पाया कि हम अपने ही घर में विदेशी बन गए हैं। जैसे ही यह बात साफ हुई कि देश का बंटवारा होने वाला है, दोनों तरफ के अल्पसंख्यकों पर हमले शुरू हो गए।

इस प्रकार सांप्रदायिक राजनीति भारत को दो राष्ट्रों में विभाजित करने में सफल रही। इस विभाजन को संभालना आसान नहीं था। पूरा देश सांप्रदायिक अखाड़े में तब्दील हो गया। जिन इलाकों में ज्यादातर हिंदू और सिख आबादी थी, उन इलाकों में मुसलमानों ने जाना छोड़ दिया ठीक इसी प्रकार बहुसंख्यक मुस्लिम इलाकों में हिंदू और सिखों ने जाना छोड़ दिया। दोनों तरफ के अल्पसंख्यक के पास एकमात्र रास्ता था कि वह अपने घरों को छोड़ दें। विस्थापन की प्रक्रिया में सीमा के दोनों ओर हजारों तादाद में औरतों को अगवा कर लिया गया। उन्हें निकाह करना पड़ा और अगवा करने वाले का धर्म भी अपनाना पड़ा। कई परिवारों ने इज्जत के नाम पर अपने घर की बहू -बेटियों को मार डाला। "जब पंजाब और अन्य जगहों पर खून की नदियां बह रही थीं और घरों और बस्तियों को फूंका जा रहा था तो प्रशासन की तरफ से कठोर और निर्मम कार्यवाई की जरूरत थी लेकिन प्रशासन को लकवा मार गया था।"[39] इस दहशत का ना ही कोई मजहब था और ना ही कोई जात। बस कत्ल के बदले कत्ल, बलात्कार के बदले बलात्कार, अंधी बेरहमी से सिर्फ बदला। विभाजन इतना खतरनाक साबित हुआ कि लगभग 80 लाख लोगों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ा तथा विभाजन की हिंसा में 5 से 10 लाख लोगों ने अपनी जान भी गवां दी।

सांप्रदायिकता का यह सिलसिला यहीं नहीं रुका, विभाजन के बाद भी चलता रहा। 1 नवंबर, 1984 को भारत के इतिहास की सबसे भयानक घटना घटी थी। जब सरकार ने 'ऑपरेशन ब्ल्यू स्टार' के तहत जरनैल सिंह भिंडरांवाले को मारा, जिसके चलते इंदिरा गांधी की हत्या कर दी गई। उसके बाद देश भर में सिख विरोधी दंगा फैल गया था और हजारों सिखों को निर्ममता से मौत के घाट उतार दिया था। नव भारत टाइम्स लिखता है ''31 अक्टूबर को इंदिरा गांधी के दो सिख बॉडीगार्ड ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी थी। उनकी हत्या के बदले का बहाना बनाकर निर्दोष सिखों को निशाना बना गया। उनको मौत के घाट उतारा गया, उनकी दुकानों और मकानों को लूटा गया और महिलाओं का बलात्कर किया गया। रिपोर्ट्स के मुताबिक, दिल्ली, कानपुर, राउरकेला और देश के अन्य शहरों में दिन दहाड़े 15,000 सिखों की हत्या कर दी गई। अकेले दिल्ली में ही दिन दहाड़े 6 से 7 हजार निर्दोष लोगों की हत्या कर दी गई थी।''[40] उनके घरों में आग लगा दी गई और पुरुषों एवं जवान लड़कों की पीट-पीटकर, तलवार से

भीड़ सड़कों पर उतरकर 'खून के बदले खून' का नारा लगा रहा थी। लाजपत नगर, जंगपुरा, डिफेंस कॉलोनी, फ्रेंड्स कॉलोनी, महारानी बाग, पटेल नगर, सफदरजंग एंक्लेव और पंजाबी बाग जैसे मध्य और अपर मध्य क्लास वाले इलाकों में जमकर लूटपाट और हत्याएं की गईं। उनके दुकानों, घरों और गुरुद्वारों में लूटपाट करने के बाद उनमें आग लगा दी गई। बस, ट्रक, कार और स्कूटर समेत बड़ी संख्या में गाड़ियों को भी आग लगा दी गई। कुछ लोग घायल हुए जबकि अन्यों की हत्या कर दी गई। ये तो दिल्ली के इलाके का हाल था। दिल्ली के अलावा हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, एमपी और यूपी में भी बड़े पैमाने पर सिखों की हत्या और लूटपाट की घटना को अंजाम दिया गया। लखनऊ, कानपुर, रांची और राउरकेला हिंसा में बुरी तरह झुलसने वाले शहरों में शामिल थे। इस सांप्रदायिक दंगे की जांच के लिए दस आयोग और कमिटियां बनी। दंगे में कांग्रेस नेताओं की भूमिकाओं पर भी सवाल उठे थे। जांच में कांग्रेस के दो नेताओं सज्जन कुमार और जगदीश टाइटलर पर दंगा भड़काने और दंगाइयों के नेतृत्व का आरोप था लेकिन दोनों को बरी कर दिया गया। नव भारत टाइम्स लिखता है ''जांच में सज्जन कुमार और जगदीश टाइटलर कांग्रेस के दो दिग्गज नेता थे जिन पर दंगा भड़काने और दंगाइयों के नेतृत्व का आरोप था लेकिन 2013 में एक निचली अदालत ने सज्जन कुमार को बरी कर दिया और पूर्व पार्षद बलवान खोखर, सेवानिवृत्त नौसैनिक अधिकारी कैप्टन भागमल, गिरधारी लाल और दो अन्य को एक नवंबर, 1984 को दिल्ली छावनी के राज नगर इलाके में एक परिवार के पांच सदस्यों की हत्या के मामले में दोषी ठहराया। खोखर, बागमल और गिरधारी लाल को आजीवन कारावस की सजा सुनाई गई जबकि अन्य दो दोषियों पूर्व विधायक महेंद्र यादव और किशन खोखर को तीन-तीन साल जेल की सजा सुनाई गई। जगदीश टाइटलर को भी क्लीन चिट मिल गई।''[41]

भारतीय समाज में 20वीं सदी के अंतिम दशकों में पुनः सांप्रदायिकता के उभार का एक नया दौर शुरू हुआ। इस दौर की सांप्रदायिकता 'उग्रवादी सांप्रदायिकता' की श्रेणी में आती है। 'उग्रवादी सांप्रदायिकता' फासीवादी विचारों के साथ आगे बढ़ती है जहाँ असहिष्णुता चरम पर होती है। ''सांप्रदायिकता की राजनीति के पीछे उन वर्गों का स्वार्थ है जो समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के लोकतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ हैं। सांप्रदायिक राजनीति घृणा के प्रचार का सहारा लेकर चलती है।''[42] जब 90 के दशक के पूर्वार्ध में सरकारी नौकरी और शैक्षणिक संस्थानों में पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने के लिए मंडल कमीशन की रिपोर्ट लागू हुई तो परंपरागत हिंदू सामाजिक ढांचे पर बड़ी चोट पहुँची। क्योंकि इसने जाति आधारित पदानुक्रम के समक्ष खतरा उत्पन्न कर दिया था। हिंदू समाज के भीतर सामाजिक मंथन के इस जटिल दौर में संघ ने हस्तक्षेप किया और मंदिर-मस्जिद मुद्दे पर देश के ध्रुवीकरण के लिए लालकृष्ण आडवाणी 'रथ यात्रा' पर निकल पड़े।

रणनीति बिल्कुल सामान्य थी। हिंदू समाज के भीतर जातिगत बंटवारे की खाई को हिंदू–मुस्लिम विभाजन को उछालकर पाटा जाए। और इस उद्देश्य के लिए एक दुश्मन या किसी अन्य पक्ष को खड़ा किया जाना आवश्यक था – और वह दुश्मन था 'मुस्लिम', जो बाबरी मस्जिद का स्थल राम मंदिर के निर्माण में रोड़ा अटका रहा था। और जैसा कि हमने देखा कि 90 के दशक के पूर्वार्ध में अत्यंत

कुशलतापूर्वक गढ़े गए इस हिंदू-मुस्लिम विभाजन की परिणति 1992 में किस तरह बाबरी मस्जिद के ध्वंस से हुई। जिसके चलते देश भर में हिंसा में होनी शुरू हुई। ''6 दिसम्बर, 1992 : हजारों की संख्या में कारसेवकों ने अयोध्या पहुँचकर बाबरी ढाँचे को ढाह दिया, और जल्दबाजी में एक अस्थाई राम मंदिर बनाया गया।...ढाँचा ढहाए जाने के परिणामस्वरूप देश भर में हिंदू और मुसलमानों के बीच सांप्रयादिक दंगे भड़क उठे जिसमें 2000 से ज्यादा लोग मारे गये।''[43]

इसके अलावा संघ परिवार ने गुजरात को भी हिंदुत्व की प्रयोगशाला बना लिया था। हिंदुस्तान को हिंदू राष्ट्र कैसे बनाया जाये, वह इसका प्रयोग गुजरात में कर रहा था। इस प्रयोगशाला के प्रमुख वैज्ञानिकों में मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदा और विश्व हिंदू परिषद् के अन्तर्राष्ट्रीय महासचिव प्रवीण तोगड़िया थे। तात्कालिक रणनीति के तहत गोधरा से गांधी नगर पहुँचने की पुख्ता योजना बनाई जा रही थी। गुजरात में संघ परिवार लम्बे समय से अपने गणित को लेकर जूझ रहा थी। संघ परिवार को लगा कि गुजरात में सवर्ण हिंदू के बल पर वह कभी सत्ता तक नहीं पहुँच पायेंगे। अत: सत्ता की कुर्सी पाने के लिए संघ परिवार ने एक बार फिर से हिंदुत्व की छतरी खोली। कहा कि दलित-हरिजन सब हिंदू हैं। संघ परिवार दलित-हिंदुओं के बीच काम करने लगा। जिस संघ को कभी दलित नहीं सुहाते थे जिन दलितों पर संघ पहले हमला करती थी, उसी संघ के दलित अब सिपाही हो गये। इस दंगे ने काफी जानें लीं। विश्व हिंदू परिषद के असली त्रिशूलधारी और कारसेवकों ने सन् 2002 के दंगों में भी तलवारें साधीं और स्त्रियों, पुरुषों सहित तमाम मासूम बच्चों मैत के घाट उतार दिया। ''7 फरवरी 2002 में गुजरात के गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस की S-6 बोगी में आग लगने से कई लोगों की मौत हुई थी। इस बोगी में 59 लोगों के मौजूद होने की बात कही गई थी।''[44] इस भयानक नरसंहार में तलावार के सहारे गर्भवती स्त्रियों को भी नहीं छोड़ा गया। और इस तरह गोधरा अग्निकाण्ड ने हिंदू ब्रिगेड को दोबारा गुजरात की राजधानी गांधीनगर पहुँचने का रास्ता साफ कर दिया। और साथ ही साथ पूरा गुजरात दो हिस्सों में बंट गया। कुछ माह पहले तक भारतीय जनता पार्टी के लिए बंजर रहा गुजरात, चुनाव की हरी फसल काटने के लिए अब पूरी तरह तैयार था। परिणामत: मासूम जनता की लाशों के साथ-साथ इंसानियत की लाश पर सत्ता हासिल की गई।

इसी तरह उत्तर-प्रदेश के मुजफ्फरनगर में हुए सांप्रदायिक दंगे को देखा जा सकता है। 'द वायर' अपनी रिपोर्ट में लिखता है ''सितंबर 2013 में जाट समुदाय की एक महापंचायत के बाद झड़प के रूप में शुरू हुई हिंसा बड़े सांप्रदायिक दंगे में बदल गई। 60 से ज्यादा लोग मारे गए, हज़ारों बेघर होकर शरणार्थी कैम्पों में पहुंचे।''[45] हालात काबू में आने के बाद इस हिंसा के शिकार हुए लोगों की आपबीती सामने आयी। आखिरकार काफी हिम्मत जुटाने के बाद सात महिलाएं भी सामने आईं, जिन्होंने स्वीकार किया कि इन दंगों के दौरान उनके साथ लोगों ने बलात्कार किया था। राज्य सरकार ने मामले की जांच के लिए आनन-फानन में एक विशेष टीम का गठन किया और न्याय दिलाने का भरोसा तो दिलाया पर आज भी उन स्त्रियों को न्याय नहीं मिल पाया है। और यह तो सांप्रदायिकता के शुरूआत

से ही दिखा गया है कि दंगों के दौरान लिंग आधारित हिंसा होती आयी है और हमेशा ही दोषियों को सजा दिलाने में हमारी व्यवस्था नाकाम साबित होती रही है। किसी भी सांप्रदायिक दंगे में बलात्कार या यौन हिंसा को दूसरे पक्ष पर हावी होने के आसान हथियार के रूप में देखा जाता है. रहा है। मानवाधिकार मामलों के लिए वर्षों से काम कर रही वकील वृंदा ग्रोवर बताती हैं कि ''महिलाओं को (ऐसी हिंसा का) लक्ष्य बनाने के पीछे वृहद स्तर पर अल्पसंख्यक समुदाय को अपमानित करने और उन पर अत्याचार करने की भावना होती है।''[46] परिणामस्वरूप सांप्रदायिकता का सबसे भयावह रूप स्त्रियों ने ही झेला है और सिलसिला अभी खत्म नहीं हुआ है।

यह भी सच है कि सांप्रदायिक दंगों के लिए भय भी एक बड़े हथियार की तरह प्रयोग किया जाता रहा है और आज भी किया जा रहा है। मसलन मुसलमानों के अंदर यह भय बिठाया गया कि इस्लाम खतरे में है और आजाद भारत में मुसलमान हिंदुओं के गुलाम बना दिए जाएंगे। आज के भारत में यह भय तथाकथित रूप से मुसलमानों की बढ़ती आबादी और उनकी पाकिस्तान-परस्ती के चलते आरएसएस जैसे हिंदू सांप्रदायिक दल पैदा कर रहे हैं। कहा जा रहा है कि फलां-फलां साल तक इस देश में हिंदू अल्पसंख्यक हो जाएंगे और मुसलमान बहुसंख्यक होकर उन्हें अपना गुलाम बना लेंगे। यह गुलाम बनाए जाने का भय ही दूसरों को गुलाम बना लेने की मानसिकता पैदा करता है। यानी इससे पहले कि आपको गुलाम बनाया जाए आप दूसरे को ही गुलाम बना लें।

इसके अलावा यह भी सच है कि सांप्रदायिकता भय और अफवाह के रथ पर सवार होकर आगे बढ़ती है। यदि कोई भीतर से डरा नहीं है तो आसानी से सांप्रदायिक योजना का हिस्सा नहीं बन सकता। अगर कोई अफवाह समाज के किसी हिस्से में तेजी से असुरक्षा पैदा करने में सफल हो जाए तो समझिए समाज किसी कृत्रिम भय के साए में जी रहा है। एक-दूसरे के प्रति भय दरअसल एक आत्मविश्वासहीन समाज की बीमारी है। इसलिए सांप्रदायिक विचारधारा सबसे पहले लोगों के दिल में भय पैदा करती है। भय लोगों को अनर्गल व्यवहार करने वाली एक 'भीड़' में तब्दील कर देता है। किसी भी मामूली-सी लगने वाली घटना पर यह 'भीड़' उकसाए जाने पर इकट्ठा होती है और अपने चिन्हित दुश्मन के खिलाफ हिंसा पर उतारू हो जाती है। सांप्रदायिक चेतना के प्रभाव में आए लोगों का यह असामान्य व्यवहार ही सांप्रदायिक राजनीति के लिए उपयुक्त 'भीड़' तैयार करता है। 'भीड़' को उकसाने के लिए सांप्रदायिक तर्क पहले से तैयार होते हैं और सांप्रदायिक दलों के कार्यकर्ता खुद इस भीड़ का हिस्सा बनकर उसको नियंत्रित करते हैं। लेकिन जैसे सांप्रदायिक राजनीति एक दुश्मन के बिना जिंदा नहीं रह सकती, वैसे ही भीड़-मानसिकता को भी हर हाल में शिकार चाहिए। अगर आप उसे शिकार बनाने के लिए 16 साल के जुनैद जैसे मुसलमान मुहैया नहीं करा सके तो वह अपने आप शिकार तलाश लेती है। अखलाक से लेकर पहलू खान और जुनैद तक को भीड़ द्वारा पीट-पीटकर मारे जाने की घटनाएं, इसी भीड़-मानसिकता के पनपने के सबूत दे रही हैं। आधुनिक भारत के पहले विभाजन की शुरुआत भी कुछ ऐसी ही भीड़-मानसिकता को पैदा करने के साथ हुई थी। सामाजिक विभाजन के क्रम में सांप्रदायिक

ताकतों का सबसे पहला और महत्वपूर्ण कार्यभार भीड़-मानसिकता पैदा करना है। और भीड़-मानसिकता को जब कोई सांप्रदायिक विचारधारा नियंत्रित करती है तो निश्चित रूप से नारे भले ही अखंड भारत के लगें, भीतर ही भीतर विभाजन की पूर्वपीठिका तैयार की जा रही होती है। ताकि देश में सांप्रयादिक दंगे होने लगें और राजनीतिक पार्टियां जनता की लाशों पर अपनी रोटी सेंक सकें। पहले हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बंटवारे के लिए सांप्रदायिक दंगे कर लोगों को मौत के घाट उतारा जाता था अब लोगों में डर पैदाकर उनपर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए दंगे कराये जा रहे हैं। पहले देश को दो हिस्सों में बांटने के लिए दंगे कराये गये थे लेकिन अब हर गली, नुक्कड़, चौराहा, गाँव, शहर, घर-बाहर आदि को भारत और पाकिस्तान में बदला जा रहा है। अब हर इंसान के अंदर हिंदुस्तान और पाकिस्तान तथा हिंदू, मुसलमान, सिक्ख ढूँढा जा रहा है। कुल मिलाकर इंसान, इंसान को बांटा जा रहा है।

सांप्रदायिकता के कहर के प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। साम्प्रदायिकता का प्रभाव तो 21वीं सदी के उपन्यासों पर पड़ा लेकिन उसके बदले हुए स्वरूप का। सांप्रदायिकता के इस बदले हुए स्वरूप को अनवर सुहैल के 'पहचान' महीप सिंह के 'अभी शेष है' गीजांतलि श्री के 'हमारा शहर उस बरस' और दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आखिरी कलाम' आदि में देखा जा सकता है।

(3.6) पूर्ववत सांस्कृतिक परंपरा का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

यह बात दीगर है कि भारत की लगभग 70 प्रतिशत आबादी आज भी गाँवों में रहती है। यहाँ के लोगों की आजीविका का आधार कृषि है। आज भी हम कह सकते हैं कि गाँव हमारी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि है। के. एल. शर्मा का भारतीय गाँव के बार में कहना है ''भारत के सामाजिक जीवन की तीन निर्णायक संस्थाएँ गाँव, जाति और संयुक्त परिवार है।''[47] यहां के.एल. शर्मा की बातों से कुछ हद तक सहमत हुआ जा सकता है। भारतीय समाज में गाँव आज भी बहुत महत्व रखता है। गाँवों का भी अपना एक इतिहास रहा है और यह भी सच है कि हम जब भी भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो हमारे सामने सबसे पहले गाँव का चित्र उभरता है। संस्कृति, साहित्य आदि क्षेत्रों में गाँव आज भी केन्द्र में है। लेकिन अब सवाल उठता है कि जो पहले गाँव था क्या आज भी वही गाँव है या उसमें कुछ बदलाव आया है ? जाहिर सी बात है कि जब समाज में इतनी सारी उथल-पुथल एक साथ चल रही हो, जब समाज संक्रमण काल से गुजर रहा हो तो उसका प्रभाव गाँवो पर पड़ना लाजमी है। सदियों से गाँव की पारंपरिक छवि जो मनोहर, सुंदर, सुखद और अच्छी चली आयी थी अब वह बदल गयी है। इसके तमाम कारण हो सकते हैं। फिर वह चाहे 90 के बाद बदला हुआ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य हो या भूमण्डलीकरण या फिर अस्मिताओं का उत्थान। कुल मुलाकर गाँव का जो पारंपरिक ढाँचा था वह अब बदला हुआ दिखाई देता है।

गाँव का नाम लेते हुए सबसे पहले चित्र किसान का उभरता है। गाँवों का किसान अब हल जोतकर खेती नहीं बल्कि ट्रैक्टर, कल्टीवेटर आदि से करने लगा है। अब नई तकनीक विकसित हो गई है और तरह-तरह के कीटनाशकों का भी प्रयोग करने लगा है। कुल मिलाकर किसानों की खेती करने का

तरीका भी परंपरागत नहीं रहा। यह अलग बात है कि किसानों को अपने जीवन में बहुत सारी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। किसान का जीवनकोपार्जन बहुत ही कष्टप्रद और श्रमसाध्य हो गया है। किसान पहले धान रोपाई, फसल कटाई के समय में लोकगीत गाते थे और साथ ही फसल कटने पर तमाम तरह के तीज-त्यौहार भी मनाते थे। लेकिन अब यह संस्कृति धीरे-धीरे समाप्त हो रही है क्योंकि अब वह फसल बोने और उगाने में ही सक्षम नहीं हो पा रहा है। उनके पास सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था उपलब्ध नहीं होने के कारण कृषि कार्य भी असंभव होता जा रहा है। बहुतों के पास तो ज्यादा उपजाऊ खेती ही नहीं बची है और न ही उसमें लगाने के लिए उनके पैसे हैं। इस हालत में अगर किसी ने हिम्मत करके यह जुआ खेल भी लिया तो सिर पर इतना ऋण हो जाता है कि उसे आत्महत्या ही एक सरल रास्ता दिखाई देता है। ग्रामीण क्षेत्र के किसानों की एक बड़ी समस्या ऋण-ग्रस्तता रही है। पहले किसान मजदूर बना था लेकिन अब तो उसे जान ही देनी पड़ रही है। किसानों एवं ग्रामीणों की समस्याओं एवं बदलते जीवन मूल्यों की वास्तविकता पर चौथीराम यादव लिखते हैं ''सामंतवादी और पूँजीवादी संस्कृतियों की टकराहट में किसान संस्कृति पिस रही है। प्रेमचंद के किसान आज लाखों की संख्या में आत्महत्याएं कर रहे हैं।''[48] साथ ही गाँव के लोगं में संवेदनहीनता बढ़ी है। गाँव के नैतिक मूल्यों में भी बहुत परिवर्तन आया है, पहले जहाँ रिश्तों में नैतिक मूल्यों की विशेष जगह होती थी वहाँ अब इंसान अपना हित साधने के लिए अपने ही सगे-संबंधी का गला काटने में पीछे नहीं हटता। और आर्थिक संसाधनों के अभाव में गरीब व किसान अपने बच्चों को शहर भेजकर पढ़ाने में भी असमर्थ हैं। उलटे उनको बेरोजगारी के चलते मजदूरी कर पेट पालने के लिए अपना गाँव-घर छोड़कर शहर की तरफ जाना पड़ रहा है। इसलिए नामवर सिंह लिखते हैं''जिसको हम भूमंडलीकरण या बाजारवाद कहते हैं, उसके चलते गाँव में रहने वालों की जिंदगी पर प्रभाव पड़ा है। रश्ते बदले हैं, इंसान बदला है।''[49]

गाँव और किसानों की स्थिति में परिवर्तन होने के साथ-साथ गाँव के दलितों और स्त्रियों की स्थिति में भी परिवर्तन आया है। हिंदू समाज व्यवस्था जातीय विभाजन के आधार पर बनी है और देखा जाय तो यह जटिल सामाजिक संरचना का एक उदाहरण भी है। एक तरफ जहाँ दलितों को हिंदू धर्म में जो चार वर्ण बनाये गये उसमें सबसे नीचे पायदान पर उनको रखा गया था। इस हिंदू समाज व्यवस्था के बारे में श्यामाचरण दुबे लिखते हैं ''परम्परागत वर्ण-व्यवस्था, जो कि भारतीय सामाजिक राजव्यवस्था के विकास के साथ-साथ परिष्कृत हुई, हिंदू समाज को पाँच मुख्य भागों में बाँटती है। इनमें से प्रथम तीन, अर्थात्, ब्राह्मण (पुरोहित और विद्वान), क्षत्रिय (शासक और योद्धा), तथा वैश्य (व्यपारी) 'द्विज' गिने जाते हैं। हिंदू संस्कारों के अनुसार केवल इन्हीं में 'उपनयन' संस्कार होता है जो उनके धार्मिक पुनर्जन्म का प्रतीक है, और जिसके कारण वे जनेऊ पहनने का अधिकार पाते हैं। चौथे समूह में कई व्यावसायिक जातियाँ आती हैं जो अपेक्षाकृत 'स्वच्छ' हैं और जिन्हें अस्पृश्य नहीं गिना जाता। अंत में, पाँचवें समूह में हम समस्त अस्पृश्य जातियों को सम्मिलित कर सकते हैं। यह वर्गीकरण सारे भारत में हिंदुओं को स्वीकार्य है। विभिन्न समूहों की सापेक्षिक स्थिति, जो प्राथमिकता का क्रम और सामाजिक उच्चता या हीनता ज्ञापित करती है, सभी जगह स्वीकार की गयी है। इन प्रमुख समूहों (वर्णों) द्वारा किये जाने वाले

व्यवसाय परम्परा से परिभाषित होते हैं।''[50] उनका कर्म भी उनके जन्म के आधार पर दे दिया गया, वहाँ पर इंसान की कौशल क्षमता का कोई महत्व नहीं था। दलित प्रतिभावान होने के बावजूद कमतर ही आँके गये। जिसके चलते उनके अंदर इतनी हीन भावना भर गयी कि वह इससे सदियों तक उबर नहीं पाये। कांचा एलय्या इस पर लिखते हैं ''उन्होंने हमारे माता-पिता के लिए जो तय किया वह हमें भी सौंप दिया गया। हमारे भीतर बड़े से बड़े कौशल मौजूद हैं। इस तथ्य के बावजूद बचपन से हम लोग आत्मसंशयी रहे हैं। एक बार जब ब्राह्मणवाद ने उन लोगों को हतोत्साहित कर दिया, जो उससे ज्यादा शक्तिशाली और सुदृढ़ थे तो वह आत्म-संशयता पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती चली आई।''[51] लेकिन अब स्थितियाँ बदल गयी हैं। अब उन्हें भी अपनी क्षमता के अनुसार काम करने के लिए नये साधन मिलने शुरू हुए हैं। डॉ. अम्बेडकर की इस पंक्ति 'जाति शोषण का कारखाना है' का वह समझ गए हैं, इसलिए वह शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ बोलने लगे हैं। कांचा एलय्या जैसे विचारक दलितों पर हुए सदियों से अमानवीय व्यवहार को सबके सामने बेपर्दा कर रहें हैं और अपने वजूद तथा मेहनत को स्थान दिला रहे हैं। यह सच है कि गाँवों की ब्राह्मणवादी संस्कृति ने दलितों के काम को कभी सम्मान की नजरों से नहीं देखा और न ही उसके श्रम की भाषा को ही कभी महत्व दिया। इस सच को कांचा एलय्या उजागर करते हुए लिखते हैं ''इन जातीय पेशेगत कार्यों को करते हुए संप्रेषण के दौरान भाषा जो सिद्धता हासिल करती है वह ईश्वर का नाम जपते हुए ब्राह्मण के मंत्रोच्चार की भाषा की तरह या उससे कहीं अधिक परिष्कृत होती है। विडम्बना है कि भगवान या भगवानों के नामों का पाठ करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य माना जाता है जबकि उत्पादन और उत्पादकता के औजारों को जानने की भाषा को ज्ञान तक नहीं माना जाता।''[52] इस प्रकार दलित चिंतकों ने सच्चाई बयां करने लगे हैं कि उनके श्रमपूर्ण कार्य को किस तरह घृणित माना गया। उनके अनुसार केवल विधर्मी लोग गंदे और कीचड़ भरे खेतों में काम करते हैं। लेकिन अब यह धारणा टूटी है। 90 के बाद दलितों ने यह दिखा दिया कि कीचड़ ही भोजन और कामगार लोगों के विचारों की जन्मभूमि है।

कुल मिलाकर जो गले में हण्डी और कमर में झाड़ू बांधकर चला हो, जिसने ब्राह्मणों के घर के पास पहुँचते ही चप्पलें अपने सिर पर रखी हों, जिसने संस्कृति के नाम पर सदियों से पूरे समाज का मैला ढोया हो, जिसे कोल्हू की बैल की तरह दिन-रात बेगारी कराई गयी हो और खाने के लिए जमीदारों तथा ब्राह्मणों के कोड़े मिले हों, जिसने वेदों, पुराणों को सुनने मात्र से अपने कानों में पिघला हुआ शीशा लिया हो, जिसे आज भी दूल्हा बनकर शादी व बारात में घोड़ी पर बैठने के चलते मारा जाता हो, सदियों से जिन्हें बोलने, लिखने-पढ़ने से रोका गया हो, जिसका दिन-रात शोषण और उत्पीड़न किया गया हो उसे गांव की इस ब्राह्मणवादी संस्कृति पर कैसे गर्व हो सकता है। वह गाँव की ऐसी अमानवीय संस्कृति पर गर्व नहीं बल्कि उससे घृणा ही करेगा। वह अब चेतनशीन हो गया है। वह अपने हकों-अधिकारों के प्रति सचेत हुआ है साथ ही गोलबंध होकर अपनी लड़ाई लड़ने के लिए सड़कों पर उतरे लगा है। दलितों का एक पढ़ा-लिखा तबका सामने आया है। और वह निरंतर इस अमानवीय संस्कृति को सबके सामने बेनाकाब कर उससे सवाल कर रहा है।

वहीं दूसरी तरफ अगर बात करें स्त्रियों की तो पहले उनको घर की चाहर दीवारी में कैद कर रखा जाता था। पहले उनकी जिंदगी घर के अंदर ही चौका-बर्तन और बिस्तर पर गुजार जाती थी। जिनको घर से बाहर निकलने की, पढ़ने-लिखने की, काम करने की स्वीकृति नहीं थी। उसने सदियों से सिर्फ दमन, शोषण और उत्पीड़न ही झेला है। इस तरह वह अपनी सारी जिंदगी घूँघट और घर की चाहरदीवारी में ही गुजारने को अभिशप्त थी। इस संदर्भ में कांचा एलय्या लिखते हैं ''पति के अत्याचार को पत्नी जितना सहन कर सकती है, उसकी उतनी ही ज्यादा प्रशंसा होती है।''[53] कुल मिलाकर सदियों से जिसे हमेशा दोयम दर्जे का इंसान ही समझा गया, जिसे दैहिक शोषण झेलना पड़ा हो, जिसे इंसान नहीं बल्कि बच्चे पैदा करने की मशीन समझा गया, जिसे सामान समझकर उससे अपना दिल बहलाया गया, जिसे दहेज के चलते जलाया गया, जिसे सिर्फ अपने पैरों की जूती समझकर उसकी संवेदनाओं, आकांक्षाओं, सपनों को मसला गया, जिस पर पुरुषसत्ता ने अपना वर्चस्व कायम करने के लिए उसका बलात्कार किया गया वह अब घर की दहलीज लाँघने लगी है। वह पढ़ने-लिखने के लिए स्कूल जाने लगी है। अपने हक-अधिकार के बारे में जानने लगी है। उसके अन्दर चेतना जागी है, तो वह अपने ऊपर हुए अन्याय व शोषण के बारे में सबको बता रही है। उसे इस अमानवीय संस्कृति पर गर्व नहीं बल्कि एक घृणा, नकार और विरोध ही होगा। वह शोषणकारी संस्कृति को महान नहीं कैसे कह सकती है इसलिए वह आज उसकी असलियत की पोल खोलते हुए उस पर तमाम सवालात खड़े करती दिखाई दे रही है।

इस प्रकार गाँव तो आज भी केन्द्र में है लेकिन उसकी परंपरागत सुंदर, मनोरम, सुखद छवि बदल गयी है। भारत की आत्मा शोषणकारी गाँवों में कैसे बस सकती है, इस छद्म को पहचाना जाने लगा है। गाँव के बदलते इस स्वरूप का प्रभाव साहित्य क्षेत्र में भी पड़ा है। वहाँ भी इस बदलाव को केन्द्र बनाकर उपन्यास लिखे जा रहे हैं। संजीव का 'फाँस', काशीनाथ सिंह के 'रेहन पर रग्घू' में, मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' में देखा जा सकता है।

(3.7) अस्मितामूलक प्रवृत्तियों के उत्थान का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव

विगत कुछ दशकों में विचारधारा और चिंतन की दुनिया में आए वैचारिक और अवधारणात्मक बदलावों ने 'अस्मिता' के सवाल को केन्द्र में लाकर खड़ा कर दिया है। विचारधारा और चिंतन के दुनिया में आए इन बदलावों ने कई प्रकार की अस्मिताओं को जन्म दिया, मसलन-स्त्री अस्मिता, दलित अस्मिता और आदिवासी अस्मिता इत्यादि। अस्मिता पर हुए तमाम शोधों और अनुसंधानों के बावजूद अस्मिता शब्द की परिभाषा विभिन्न सामाजिक संरचनाओं के द्वारा विभिन्न है। इस संदर्भ में अर्चना वर्मा लिखती हैं ''अस्मि' शब्द अस्+मिन् से बना है अस्मि अर्थात मैं हूँ की भाववाचक संज्ञा 'अस्मिता' है। इस शब्द से स्वत्व का बोध होता है।''[54] जबकि इसके बारे में अभय कुमार दुबे लिखते हैं ''यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति या समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। अस्मिता का यह दायरा अपने-आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा

सकते हैं।''[55] इस प्रकार अस्मिता शब्द जहाँ एक तरफ निजत्व का बोध कराता है वहीं दूसरी तरफ जीवन के अन्य पहलुओं से भी इसका संबंध रहता है जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति और समुदाय संघर्ष करते रहते हैं। इसलिए राजेन्द्र यादव लिखते हैं ''अब इस आइडैंटिटी नाम के तत्व ने अजब संकट खड़ा कर दिया है। अस्मिता जितनी मेरी है उतनी ही मेरे परिवेश और परंपरा की भी। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, लिंग, परंपराएं सभी कुछ घुसे और घुले-मिले हुए हैं।''[56] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने अस्मिता की विभिन्न अवधारणाएं दी हैं। यद्यपि यह बता पाना सचमुच बहुत कठिन है कि 'अस्मिता' की फलां परिभाषा इसे सम्पूर्णता में परिभाषित करती है लेकिन इस बारे में लोगों की सामान्य स्पष्ट समझ है कि इस शब्द का प्रयोग कब किया जाए और क्यों किया जाए ? अकादमिक दुनिया में यह शब्द फैशन की तरह उभरा और आज कुछ विशेष सामाजिक वर्गों की तरफ संकेत करता है और इन सामाजिक संरचनाओं की पहचान की निर्मिति के रूप में ही रूढ़ हो चुका है। इसलिए अब यह शब्द संदर्भों के आधार पर अपने अर्थ खोज लेता है।

समकालीन अस्मिता विमर्शों की विचारधारा और मुद्दे अलग-अलग होने के बावजूद सभी आन्दोलन अस्मिता आन्दोलन का दावा जरूर करते हैं। हालांकि अस्मिता का स्वरूप सभी के लिए एक जैसा और सुपरिभाषित नहीं है। जब कोई समुदाय अपनी अस्मिता तलाशने की कोशिश करता है तो उसके सामने ये सवाल स्वत: आ खड़े होते हैं कि 'हम कौन हैं ?' और दूसरे समुदायों के मुकाबले हमारी समाज में क्या हैसियत है ? या हमारे बीच क्या संबंध है ? इन सवालों से टकराकर ही व्यक्ति या समुदाय अपनी अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया की शुरूआत करता है। कुल मिलाकर वंचित समुदाय अपनी अस्मिता के लिए जिन सवालों से टकराता है और परस्पर वाद-विवाद करता है उसे ही विमर्श के रूप में देखा जाता है।

(2.7.1) स्त्री अस्मिता

प्राचीन युग में स्त्री की वैधानिक स्थिति सिद्धांत रूप में उच्चतम लेकिन व्यवहार रूप में निकृष्टतम बनी रही और अधिकार तो उसको पुरुषों के समान प्राप्त थे ही नहीं। प्रचीन काल से ही धर्म ने स्त्रियों का बहुत शोषण किया है। मनु ने स्त्रियों के खिलाफ जो नियम बनाये वह सबको पता है कि कितने अमानवीय और कठोर नियम थे। स्त्री को देवी मानकर उसकी पूजा तो की गई लेकिन बतौर इंसान उसे कभी नहीं स्वीकरा गया। ''यह खेद जनक है कि धर्म, दर्शन, पांडित्य पर एकाधिकार रखने वाली पुरुष सत्ता दुनिया को एक भी ऐसा धर्म, नहीं दे सकी जिसमें किसी न किसी रूप में स्त्रियों का शोषण ना होता हो|''[57] उसे हमेशा पुरुष के अधीन रहने का आदेश दिया गया। परिवार के भरण-पोषण का कार्य कर्तव्य बनाकर उसे सौंप दिया गया ताकि वह घर की चारदीवारी में रहकर संतुष्ट रहे।

औपनिवेशिक भारत में स्त्रियों की स्थिति चिंताजनक थी क्योंकि कुरीतियों की निरंतरता बनी हुई थी। भारत को अंग्रेजों ने दास्तां के शिकंजे में जकड़ लिया था। अंग्रेजों के साथ पश्चिमी चिंतन और दर्शन भी भारत पहुंचा। भारतीय भी पश्चिमी रहन-सहन से प्रभावित होने लगे। अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने

सबसे अधिक प्रभाव डाला। शिक्षा ग्रहण करने के बाद भारतीयों ने अपने देश की तुलना पश्चिम से की। उन्हें भारत की गुलामी का एहसास हुआ। देश को आजाद करवाने के लिए आंदोलन भी शुरू हो गए। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने शिक्षा का जो प्रसार भारत में किया था उससे देश को लाभ हुआ। स्त्रियों ने भी स्वतंत्रता संघर्ष में भाग लेना शुरू किया। 1819 ई. में लड़कियों की शिक्षा देने के लिए अलग स्कूल खोले गये क्योंकि भारतीय, लड़कों के स्कूल में लड़कियों को नहीं भेजते थे। ''1824 में लेडी सोसायटी फॉर नेटिव फीमेल एजुकेशन स्थापित की गई।''[58] 1854 में वुड्स डिस्पैच ने पूरे भारत में शिक्षा और विशेष रूप से महिलाओं को उच्च शिक्षा देने के विषय में महत्वपूर्ण निर्देश दिए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात स्त्री की स्थितियों में विस्मयकारी परिवर्तन आया। सन् 1950 में भारतीय लोकतंत्र के संविधान बनने के समय लिंग, जाति और भाषा आज के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया। फिर भी विडम्बना यह रही कि संवैधानिक समानता केवल संवैधानिक ही रही जबकि व्यावहारिक रूप में स्त्री की स्थिति वैसी ही बनी रही। वह दुर्व्यवहार का शिकार होती रहीं। पुरुषसत्ता की सोच वह नहीं बदल पाई। महादेवी वर्मा ने स्त्री की स्थिति पर अपने विचार 'श्रंखला की कड़ियाँ' नामक पुस्तक में व्यक्त की है। वह लिखती हैं ''युगों के अनवरत प्रवाह में बड़े-बड़े साम्राज्य बह गए, संस्कृतियां लुप्त हो गईं, जातियां मिट गईं। संसार में अनेक असंभव परिवर्तन संभव हो गए, परंतु भारतीय स्त्रियों के ललाट में विधि की वज्र लेखनी से अंकित अदृश्य लिपि नहीं धुल सकी। आज भी गतिशील संसार निरंतर परिवर्तन की अनिवार्यता प्रमाणित कर रहा है, स्त्रियों के जीवन को काट छांट कर उसी सांचे के बराबर बनाने का प्रयत्न हो रहा है जो प्राचीनतम युग में ढाला गया था।''[59]

पश्चिम के उदारवादी चिंतन ने भारत पर भी प्रभाव डाला। भारतीय स्त्रियों ने शिक्षा प्राप्त करनी शुरू की और दूसरी तरफ समाज सुधार आंदोलन ने भी उनकी शिक्षा और समानता का समर्थन किया। समाज में राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फूले, सावित्रीबाई फुले, पंडिता रमाबाई तथा डॉ. अम्बेडकर ने स्त्री विषयक कुरीतियों को दूर करने और उनको समाज की महत्वपूर्ण इकाई बनाने में योगदान दिया। जिससे शिक्षित होकर स्त्रियों ने नेत्रियों का पद संभाला और स्त्री आंदोलनों की शुरुआत की। स्त्री शिक्षा और पश्चिमी प्रभाव में स्त्री के प्रति नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न किया। सदियों से चले आ रहे अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा धार्मिक कुरीतियों पर पश्चिमी विचारों ने प्रभाव डाला और लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन किया। इसके साथ ही विभिन्न स्त्री संगठनों का निर्माण हुआ। सन् 1917 ई. में 'भारतीय महिला मंडल' में इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये। महिलाओं को सामाजिक, राजनीतिक अधिकार और शिक्षा प्राप्त करवाने में इस मंडल ने प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1925 में 'भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना ने स्त्री की सामाजिक स्थिति सुधारने और उसके जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए। सन् 1925 में ही 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की स्थापना भी हुई। स्त्री शिक्षा और समाज सुधार का उद्देश्य रहा। सन् 1944 ई. में 'कस्तूरबा ट्रस्ट' की स्थापना से ग्रामीण स्त्री के विकास और उनके चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयास किए। इस तरह ''आधुनिक युग में सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ

नारी शिक्षा के प्रचार-प्रसार का नारी वर्ग को अवसर मिला कि वे डॉ. वकील नर्स और अन्य व्यवसायों में भागीदारी कर सकें।''[60]

स्त्रियों ने जो योगदान राष्ट्रीय आंदोलनों में दिया वह समाज के नेताओं और आमजन को स्तब्ध करने में सफल रही और स्वयं को जागृत कर प्रगति के मार्ग पर उन्मुख हुई। महादेवी वर्मा के शब्द इस संदर्भ में उल्लेखनीय है वह लिखती हैं ''राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसे जागृत की ओर अग्रसर होने में अपने सारे प्रयत्न लगा दिए। उस उथल-पुथल के युग में स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ-साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था।''[61] इसके बावजूद आजादी के 70 वर्ष पश्चात भी स्त्री की स्थिति में आए सुधार उसे पूर्ण स्वतंत्रता ना दिला सके क्योंकि पुरुषों ने हमेशा स्त्रियों को देवी कहकर पुरुषों ने उसके अधिकारों से वंचित रखा। पुरुष ने उसके जीवन को स्वतंत्र मानने से सदैव इनकार किया है। इसलिए स्त्री जीवन केवल समर्पण बनकर रह गयी। महादेवी वर्मा लिखती हैं ''भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति का इतिहास भी उसके विकृत से विकृततर होने की कहानी मात्र है। बीती हुई शताब्दियाँ उसके सामाजिक प्रसाद के लिए न्यू की पत्थर नहीं बनी, वरन उसे ढहाने के लिए वज्रपात बनती रही है| उसकी स्थिति उत्तरोत्तर दृढ तथा सुंदर होने के बदले कुत्सित होती गई।''[62]

स्त्री आज शिक्षित हुई है और उसी के कारण अपने अस्तित्व को पाने की उसमें लालसा भी जागी है। अपने भविष्य को उज्जवल और सुखपूर्ण बनाने के लिए आज वह घर में बंद ना रहकर बाहर निकल रही है और घर के बाहर आने वाली समस्याओं का सामना भी वो खुद ही कर रही है। वह अपने स्व की लड़ाई भी खुद लड़ना चाहती है। भारतीय समाज में साठ के दशक से यह अवधारणा चारों दिशाओं में फैल गई। जिसके चलते वह अपना जीवन अपने ढंग से व्यतीत करना चाहती है। स्त्री जीवन में जो परिवर्तन आया है उससे यह स्पष्ट है कि अब वह गुलामी की जंजीरों में बंधना नहीं चाहती बल्कि जंजीरों को तोड़कर स्वतंत्र होना चाहती है। आज स्त्री जीवन के समस्त मूल्य बदल गए हैं स्त्री बहुत जागृत हुई है। अपने शोषण के विरुद्ध उसकी वाणी में भी विद्रोह गूँजने लगे हैं। वह अपने अस्तित्व के प्रति सजग है, अब उसका सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल गया है। शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के फलस्वरुप इस युग में स्त्री के व्यक्तित्व के साथ उसे एक नवीन दृष्टि मिली है और उसका मन प्राचीन रूढ़ियों के बंधन से मुक्त होकर अपने विकास के सपने देखने लगा है। ''नारी में जन्मी यह नव-विकसित मानसिकता ही उसकी मुक्ति-चेतना है। आज की नारी मां, बहन, बेटी, पत्नी से पहले एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में अपनी पहचान के प्रति सचेत हो रही है।''[63] वह समझने लगी है कि स्त्री मुक्ति पुरुष या समाज से संभव नहीं बल्कि उसे पूर्ण व्यवस्था से ही मुक्ति मिलेगी क्योंकि इसी व्यवस्था ने उसे दोयम दर्जे की बनने पर विवश किया है। वह स्त्री से पहले एक मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठि होना चाहती है। वह परिवार और समाज दोनों स्तरों पर पुरुष के समान दर्जा एवं अधिकार चाहती है। साथ ही वह यह भी समझ गई है कि इस जागृति की आवश्यकता सबसे अधिक ग्रामीण स्त्री को है क्योंकि वह अशिक्षित होने के कारण आज भी पीड़ित व शोषित है। शरद सिंह

स्त्री मुक्ति की पक्षधर हैं और कहती है "स्त्री -विमर्श, स्त्री मुक्ति, नारीवादी आंदोलन आदि किसी भी दिशा से विचार किया जाए इन सभी के मूल में एक ही चिंतन दृष्टिगत होता है, स्त्री के अस्तित्व को उसके मौलिक रूप में स्थापित करना।''[64]

आज की स्त्री अस्तित्वहीन और पहचान रहित नहीं रही। मुख्य रूप से शहरी स्त्री के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में उभर कर सामने आ रही है और निरंतर अपनी अलग पहचान बनाने की दिशा में बढ़ रही है। स्त्रियों ने अपनी आवाज को बुलंद किया है। आज हम नई स्त्री को देख रहे हैं जो अपनी अस्मिता की रक्षा कर रही है। वह भेदभाव सहने को तैयार नहीं है। स्त्री की आत्मनिर्भरता ने पुरुष के साथ उसके संबंधों को बदला है। वह पतिव्रता धर्म जैसे कोरे ढोंग को स्वीकार नहीं करती पति के साथ पत्नी रूप में समानता चाहती है। नासिरा शर्मा स्त्री अस्मिता के विषय में यह बात महत्वपूर्ण लगती है ''मेरा यह मानना है कि औरत इंसान की तरह इंसानियत और अस्मिता के साथ जी सके तो वही उसकी स्वतंत्रता होगी।''[65] कुल मिलाकर आज की स्त्री अपना स्वतंत्र अस्तित्व, अपना वजूद तलाशने लगी है। वह महसूस करने लगी है कि उसका अपना कहने को क्या है ? वह अपने आप में क्या है ? इस तरह आज की स्त्री को अपने आप की पहचान हुई है।

समय बदला और परिस्थितियां भी बदल गई लेकिन स्त्री के प्रति समाज की मानसिकता नहीं बदली। उसकी इसी स्थिति का वर्णन कर रेखा कस्तवार लिखती हैं ''घर से बाहर निकली है, तो शोषण के लिए तैयार होकर निकले, वरना घर की सुरक्षा के साथ मिलने वाले निकट संबंधियों के अत्याचारों पर चुप्पी साधे।''[66] पुरुष समाज ने बलात्कार को स्त्री के प्रति प्रमुख हथकंडे के रूप में प्रयोग किया है। यह स्त्री के प्रति सबसे जघन्य अपराध है और दिन प्रतिदिन यह विकराल रूप लेता जा रहा है। यह सच है कि बलात्कार की बढ़ती घटनाएं चिंताजनक है। स्त्री के कार्य क्षेत्र के दायरे बढ़े लेकिन साथ ही शोषण के दायरे भी बढ़ते गए जिसके चलते आज के में स्वतंत्र रूप से उन्नति की ओर अग्रसर स्त्री असुरक्षा की भावना से ग्रस्त है। स्त्री के बलात्कार के साथ साथ वेश्यावृत्ति भी हमारे समाज पर बहुत बड़ा कलंक है। वेश्यावृत्ति जैसे घृणित कार्य भी स्त्री को ही भोगने पड़ते हैं। पुरुष समाज द्वारा इस कार्य में धकेली गई स्त्री वेश्यावृति के कलंक को जीवन भर झेलती है परंतु इस कलंक को धोने का कोई उपाय उसे नहीं सूझता है। वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं है जबकि वेश्याओं के पास जाने वाले पुरुष से कोई भी सवाल नहीं किया जाता। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं ''औरत चाहे फसल की तरह हो या खेती की तरह, वह घर में रहे या कोठे पर, पुरुष के लिए 'सुविधा साधन' का रूप है।''[67]

आधुनिक युग में शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के बावजूद स्त्रियों के स्वतंत्र विकास में अनेक बाधाएं है फिर वह चाहे बलात्कार का मामला हो, छेड़खानी का हो या फिर घरेलू हिंसा का। कुल मिलाकर इसका प्रमुख कारण वह रूढ़िवादी संस्थाएं और उनका नई विचारधारा के पूर्णत: खिलाफ होना है। उनका मानना यही है कि औरत घर की दहलीज के अंदर संतान पैदाकर उसका पालन-पोषण करती और गृहस्थी को संभालती ही शोभा देती है। उसे हमेशा दायरों में बांधा जाता रहा है। स्त्री हो तो ऐसे

करो, स्त्री हो इसलिए ऐसे मत करो, ऐसे चलो, ऐसे उठो, ऐसे मत बैठो, ऐसे बोलो, ऐसे हँसो इत्यादि अनेक बंधन है जो उसकी अस्मिता को ही खत्म कर देते हैं। स्त्री की अस्मिता को बचाए रखने के लिए यह अनिवार्य है कि उसके साथ किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव ना हो। अनीता भारती लिखती हैं ''स्त्री मुक्ति का सवाल स्त्रियों को उनके अपने खुद के लिए स्वतंत्र निर्णय लेने से लेकर एक मनुष्य के रूप में आजादी से जुड़ा प्रश्न है । स्त्री-मुक्ति, सड़े-गले स्त्री-विरोधी पितृसत्तात्मक ब्राह्मणवादी व सामंतवादी मूल्यों के प्रति विद्रोह भी है।''[68] मेरी समझ से स्वतंत्रता का अर्थ बराबरी, आजादी, आदर सम्मान है। आज जरूरत पुरुष की सामंती सोच और शोषण से मुक्त होने की है।

इस तरह स्त्री अपनी अस्मिता के लिए निरंतर संघर्ष करती दिखाई देती है। वह आज घर से लेकर बाहर, ऑफिस तक हर संभव प्रयास कर रही है। इसके अलावा वह प्रत्येक क्षेत्र में छोटे-बड़े संगठन बनाकर पितृसत्ता से लड़ती हुई अपनी अस्मिता को बचाने में जी-जान से जुटी हुई है। आन्दोलनों के साथ-साथ उनका साहित्यक क्षेत्र सहित तमाम पत्र-पत्रिकाओं में भी हस्तक्षेप बढ़ा है। यही कारण है कि आज स्त्री लेखिकाओं की एक उम्दा कतार खड़ी हुई दिखाई देती है जो स्त्रियों के ऊपर हुए तमाम शोषण, उत्पीड़न की सच्चाई, को सबके सामने बयां करते हुए अपनी अलग पहचान बनाई है। उदाहरण के तौर पर उपन्यासें में अनामिका के 'दस द्वारे का पिंजरा', 'अवान्तर कथा', 'तिनका तिनके पास' मैत्रेयी पुष्पा के 'विजन' अलका सरावगी के 'शेष कादम्बरी' आदि को देखा जा सकता है।

(2.7.2) दलित अस्मिता

'दलित' शब्द को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है । साहित्य में दलित शब्द की अनेक व्याख्याएं हुई हैं। डॉ. नरसिंह दास वणकर लिखते हैं ''यह वर्ग सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़ा हुआ है स्वाभिमान सम्मान और चेतना से जर्जरित रखा गया है।''[69] इसके अलावा ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं ''जिनका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विशिष्ट, मार्दत, हतोत्साहित, वंचित।''[70] वहीं कँवल भारती का मानना है ''दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता के नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए मजबूर किया गया है, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यता की संहिता लागू की, वही और वही दलित है।''[71] इस तरह दलित का तात्पर्य उन वर्ग के लोगों से हैजो शोषित, वंचित, उत्पीड़ित, दलित और सभी प्रकार के मानवीय अधिकारों से महरूम किये गये हैं।

दलितों के इतिहास को जानने की कोशिश करें तो पाएंगे कि भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही दलितों को घृणित दृष्टि से देखा गया है। इस समाज का मुख्य आधार वर्ण-व्यवस्था है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। जाति व्यवस्था का आरंभ यहीं से ही शुरू हो जाता है। शूद्र को सबसे निम्न दर्जे का माना गया और अन्य तीन वर्णों की सेवा का कार्यभार सौंप कर उसे दास बना दिया गया। अन्य वर्गों द्वारा इनका शोषण आरंभ होने पर स्थिति और भी गंभीर हो गई। जाति, रंग,

अस्पृश्यता, अछूत और कार्य व्यवस्था आदि की दृष्टि से दलितों को हीन भाव से देखा गया। जातियों और वर्गों में बंटे होने के कारण शूद्र सबसे घृणित माने जाते थे। समाज में जाति विभेदों, असमानताओं, उच्चता, निम्नता, पवित्रता- अपवित्रता, धार्मिकता, अधार्मिकता की अभेद्य दीवारें खड़ी हो गयीं। इन्हीं असमानताओं के चलते दलित एवं अनुसूचित जातियां अस्तित्व में आईं।

मध्यकाल में इन शूद्रों को अस्पृश्य कहा जाने लगा और फिर इन्हें पराधीनता, परवशता, सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नता के चलते अमानवीय शोषण का शिकार बना दिया गया। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि स्थितियों में इनकी हालत अति दयनीय बन गई। इस विषय में डॉक्टर कुसुम यदुलाल का मानना है कि ''वेदो ब्राह्मणग्रंथों, उपनिषदों, वेदांत ग्रंथों, स्मृतियों आदि धार्मिक ग्रंथों में शूद्रों की सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें बलात् अपमानित करने, शुद्र बनाने, हतोत्साहित करने और दुर्बल बनाने का प्रयास किया गया।''[72] मनुस्मृति में कहा गया है कि स्वयं ब्रह्मा ने सामाजिक व्यवस्था के लिए चार वर्ण बनाए। उन्होंने क्रमशः मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य, पाव से शूद्र उत्पत्ति की। इनके कार्यों की व्यवस्था भी इनकी जाति के आधार पर की गई। वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना आदि कर्मों को ब्राह्मण के लिए बनाया गया। प्रजा की रक्षा करना, दान देना, रक्षा के लिए युद्ध करना क्षत्रियों के लिए बनाया गया। पशुओं की रक्षा करना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना इत्यादि कामों को वैश्यों के लिए बनाया गया। इन तीनों वर्णों की सेवा का कार्यभार शूद्रों को सौंपा गया। इस प्रकार ब्रह्मा ने सामाजिक व्यवस्था निर्धारित कर शूद्रों को निचले पायदान पर धकेल दिया। रामायण व महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथों में भी दलितों की दयनीय सामाजिक स्थिति का वर्णन मिलता है। हिंदू समाज में दलित को पूजा पाठ करने, विद्या ग्रहण करने आदि की मनाही की गई है। यदि कोई शूद्र ऐसा प्रयत्न करता था तो उसे दंड भुगतना पड़ता था। शातिर द्रोणाचार्य द्वारा शिक्षा देने पर 'एकलव्य' का अंगूठा दक्षिणा के रुप में कटवा लेना शूद्रों के साथ धोखे से आगे न बढ़ने देना आदि सबसे बड़े उदाहरण हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि मध्य काल में भारत पर मुसलमानों के अत्याचारों, अनाचारों की आंधी जोरों पर थी।

इसके अलावा उन्नीसवीं सदी के अंत में तथा बीसवीं सदी के आरंभ में चिंतकों ने सर्वप्रथम जाति, अस्पृश्यता, असमानता इत्यादि वैचारिक स्तरों पर प्रश्न चिन्ह लगाए। डॉ.अंबेडकर, ज्योतिबा फुले ने परंपरा से चली आ रही इस व्यवस्था का विरोध किया और दलितों के सम्मान और समानता के लिए आवाज उठाई। डॉ. अंबेडकर ने दलित जाति के मन में चेतना जगाई। इस लड़ाई का आरंभ अंबेडकर ने दो आंदोलन चला कर किया - पहला महाड़ का जल आंदोलन और दूसरा उनका धर्म आंदोलन। डॉ. अंबेडकर ने मार्च सन 1927 को एक विशाल एवं प्रथम दलित सम्मेलन किया। इस सामाजिक आंदोलन ने दलित मुक्ति के लिए नए इतिहास की आधारशिला रखी। डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में दलितों ने तालाब की ओर मार्च किया और उसका पानी पिया। लेकिन यह समाचार फैलते ही कि दलितों ने तालाब को अपवित्र कर दिया है सैकड़ों हिंदुओं ने सत्याग्रही अछूतों पर हमला बोल दिया। काफी हिंसक घटनाएं घटी। यह सामाजिक मानव अधिकार का प्रश्न था। यह सत्याग्रह करके उन्होंने दलितों को उनकी

सामाजिक हैसियत का बोध कराया था। इसी प्रकार 2 मार्च 1930 को डॉ. अंबेडकर ने नासिक में काला राम मंदिर में दलितों के प्रवेश के अधिकार को लेकर कूच किया। डॉ.अंबेडकर का यह आंदोलन हिंदू-निरंकुशता के खिलाफ था। इसके साथ ही अंबेडकर ने दलित समाज में चेतना जगाई की मुक्ति के लिए आवश्यकता है - शिक्षा, संघर्ष एवं संगठन की। अंततः इन संघर्षों के संविधान में दलितों के साथ धर्म, जाति, लिंग, नस्ल व रंग के आधार पर हो रहे भेदभाव पर रोक लगाने का प्रावधान किया। अनुच्छेद 15 (4), 16 (4) में सामाजिक शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं दलितों ने इन प्रावधानों से आगे बढ़ने का प्रयास भी किया है। साक्षान्त मस्के का यह मानना है ''मनुवादी परंपरा के साथ अपना मुक्ति-संग्राम छेड़ने के बाद दलित अपनी अलग पहचान करने तथा खुले पन से जीने के लिए आगे बढ़ रहा है।''[73] इस प्रकार कहा जा सकता है कि दलित आज अपने अस्तित्व की रक्षा और अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है। अस्मिता का प्रश्न उनकी प्रमुख समस्या है ताकि समाज में बिना भेदभाव के रहकर जीवन को जी सकें। साक्षान्त मस्के आगे लिखते हैं ''दो ढाई हजार वर्षों से अछूत या शूद्र के रूप में रही है, अपनी अस्मिता को लेकर, अपनी सही पहचान को लेकर।''[74]

इसके साथ ही दलित अस्मिता के उत्थान में दलित राजनीति की भी बहुत भूमिका रही है। 80 का दशक दलित राजनीति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस दशक में एक वैकल्पिक दलित राजनीति का उदय हुआ। 1980 में कांसीराम बामसेफ (बैकवर्ड एंड माइनाकिटीज शेड्यूल्ड कास्ट इंप्लाइज फेडरेशन) के माध्यम से भारतीय समाज में एक नया दलित विमर्श लेकर आए। रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद कांसीराम ने नए सिरे से दलित समाज को लामबंद करना शुरू किया। बामसेफ के तहत ही उन्होंने हिन्दी में बहुजन संगठन (साप्ताहिक) और अंग्रेजी में आप्रेस्ड इंडिया (मासिक) पत्रों का प्रकाशन किया। यह एक क्रांतिकारी कदम था जिसने बड़े पैमाने पर देश भर के दो लाख कर्मचारियों को बामसेफ का सदस्य बनाया। इसमें डॉक्टर, इंजीनियर, अधिकारी आदि सभी तबके के लोग थे। कांसीराम ने दलितों को 'बहुजन' कहा और व्यवस्था से लाभान्वित होने वोले लोगों को 'मनुवादी' नाम दिया। ये दोनों नाम भारतीय समाज और राजनीति के लिए बेहद विचारोत्तेजक थे और शीघ्र ही ये दोनों नाम प्रसिद्ध भी हो गए। 1981 में कांसीराम ने डी.एस.-4 (दलित समाज शोषित संघर्ष समिति) की स्थापना की। यह आंदोलन का वह प्लेटफार्म था, जिसने आगे चलकर राजनैतिक संघर्ष का रूप धारण किया। 1984 में कांसीराम ने 'बहुजन समाज पार्टी' की स्थापना की। डॉ. रामचंद्र ने बीएसपी के गठन के प्रभाव पर बात करते हुए अपने लेख में लिखा है ''80 के दशक में उत्तर प्रदेश में बीएसपी की स्थापना ने उत्तर भारत में अंबेडकरवादी विचारधारा के आधार पर बहुजन समाज में राजनीतिक चेतना का संचार कर सत्ता की राह दिखाई जिससे दलितों में खास तौर से सामाजिक-राजनीतिक चेतना का बड़ी तीव्र गति से प्रसार हुआ। इससे दलित लेखकों एवं पाठकों की चेतनशील पृष्ठभूमि तैयार हुई।''[75]

अब दलित यह समझ गये थे कि अपनी अस्मिता प्राप्ति के लिए उनको सर्वप्रथम समाज के उन अधिनायकों के खिलाफ आवाज उठानी होगी जो उन्हें नीच मानकर जीने का अधिकार भी उनसे छीन ले

रहे हैं, उन उन्नायकों के खिलाफ लड़ कर समाज के दृष्टिकोण को बदलना होगा और अपने सारे अधिकार प्राप्त करने होंगे। इस तरह शिक्षा के लिए मिले अधिकार तथा चेतना ने इन्हें सचेत किया और यह अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उठकर खड़े हुए। स्वतंत्रता के पश्चात दलितों ने पढ़-लिखकर साहित्य के क्षेत्र में भी प्रवेश किया जिससे दलितों को पढ़ने और अपने प्रति समझने का अवसर भी मिला। अध्ययन की सुविधा प्राप्त होने से दलितों को साहित्य रचना का अवसर भी प्राप्त हुआ। इसके साथ ही इन्होंने साहित्य में अपने ऊपर हुए अत्याचारों का वर्णन तो किया समाज में व्याप्त इस कुप्रथा के अंत और संघर्ष का बिगुल भी बजाया। साक्षान्त मस्के कहते हैं ''हिन्दी साहित्य के दलित लेखकों की रचनाएं चेतना से परिपूर्ण और दलित अस्मिता के लिए संघर्ष को दर्शाती हैं।''[76] इस प्रकार दलित साहित्य में दलित अस्मिता की तलाश का कदम उठाकर इस वर्ग को जागृत किया। इन साहित्यकारों ने इस संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा बंधक और पीड़ित की स्थिति से बाहर आने का रास्ता भी दिखाया है। इसलिए साक्षान्त मस्के लिखते हैं ''अस्मिता की पहचान का अर्थ अपने आप को उसी स्थिति में बनाए रखकर संघर्ष करना नहीं है इसका वास्तविक उद्देश्य जातीय जकड़नों से मुक्ति के पश्चात खुले में सांस लेना है और सारे समाज के साथ समानता स्थापित करना है।''[77] इस प्रकार दलित अस्मिता का उत्थान हुआ और स उत्थान का उपन्यास विधा पर भी असर पड़ा। उदाहरणस्वरूप हम 'सुअरदान' 'डंक', 'छप्पर' और 'महानायक बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर' आदि को देखा जा सकता है।

(3.7.3) आदिवासी अस्मिता

आदिवासी शब्द के अर्थ को भारतीय संस्कृति कोश में बताया गया है "ऐसे निवासी जो किसी क्षेत्र के मूल निवासी हों और ऐसे निवासी जो प्राचीनतम निवासी हों। दूसरी कोटि के व्यक्तियों के लिए किसी क्षेत्र का मूल निवासी होना आवश्यक नहीं है।''[78] आदिवासी शब्द के अर्थ को समझते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी देश-प्रांत के वह निवासी जो बहुत पहले से रहते आये हों और वहां के मूल निवासी हों आदिवासी कहलाते हैं। आदिवासी समाज संगठित रहते हैं विशिष्ट प्रकार की बोली बोलते हैं। यह मुख्यधारा से पिछड़े हुए लोग है जो अभावग्रस्त जीवन जीने को मजबूर हैं। कुछ आदिवासी जातियाँ आज शहरी संपर्क में आई है और मजदूरी करके अपना जीवन चला रही हैं। अशिक्षा, अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण यह लोग सभ्यता की दौड़ से पिछड़ गए हैं और जंगली जीवन जीने को अभिशप्त हैं। यह आदिवासी जनजातियां एक- दूसरे से अनेक अर्थों में भिन्न होती हैं और अपनी संस्कृति और विश्वासों के आधार पर अपना जीवन जीती हैं। "भारत में 292 आदिवासी समूहों की गणना की गई है। आम तौर पर देश की सामान्य धारा से संपृक्त होते हुए भी इनके अनेक रीति रिवाज अब भी भिन्न है।''[79]

भारत की प्रमुख जनजातियां - संथाल, भील, थारू, खस, हो, खड़िया, खासी, गोंड, उरांव, नागा, मीणा, मुंडा इत्यादि हैं। यह जनजातियां जिन क्षेत्रों में रहती हैं वह हैं - आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखंड, गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम

बंगाल, और मैसूर आदि। वैसे भी भारत अनेक जनजातियों-जातियों, धर्मो संस्कृतियों और संप्रदायों का भंडार है। आर्यों का भारत आगमन, आर्यों और अनार्यों के मध्य चला लंबा संघर्ष और आर्यों द्वारा अनार्य आदिवासियों पर अत्याचार, उनका क्रूर नरसंहार इतिहास की ऐसी घटनाएं हैं जिन्हें भुलाना मुश्किल है। आदिवासियों की सामाजिक दुर्दशा का आरंभ यहीं से होता है। इन्हीं त्रासदी पूर्ण घटनाओं के कारण वे समाज से पिछड़ गए और वनों की तरफ भाग गए। वनों में रहते-रहते इन्हें सैकड़ों वर्ष बीत गए। इन्हें दैत्य, पिशाच, राक्षस और असुर आदि उपहासपूर्ण शब्दों से संबोधित कर इनका भ्रमपूर्ण अस्तित्व कायम कर दिया गया है। आधुनिक भारत की रचना में जहां अन्य जातियों और समूहों का योगदान है वहीं आदिम जनजातियों का भी उतना ही योगदान है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं "आज की मानव संस्कृति की विविधता की नींव इस आदिवासी अवस्था में ही पड़ी।"[80]

सबसे पहले मुगल शासन काल में भूमि संबंधी आदिवासियों की पारंपरिक थापर हार किया गया और सन् 1616 ई. में जहांगीर के शासनकाल में छोटानागपुर चढ़ाई कर वहां के राजा दुर्जन को बंदी बनाया गया उसकी रिहाई के बदले उसे कर देने पर विवश किया गया। सन् 1765 ई. में जब ईस्ट इंडिया कंपनी को बिहार, बंगाल और उड़ीसा की दीवानी मिली तो नागपुर का इलाका भी संभवतः उसकी दीवानी में आ गया और फिर राजा को इस कंपनी को कर देना पड़ा। ब्रिटिश शासन का व्यापार जब भारत में बढ़ा तो उन्होंने भारत में रेलवे विस्तार की आवश्यकता महसूस की। हर एक वृक्षों पर उन्होंने धावा बोल दिया और इस संपदा को नष्ट किया जाने लगा। अंग्रेजों ने पूरे भारत में रेल लाइनों का जाल बिछा दिया। जंगलों का एकाधिकार इन शासकों ने अपने हाथों में ले लिया। जंगलों को 'इंपीरियल फॉरेस्ट डिपार्टमेंट' के निजी नियंत्रण में सौंप दिया गया। जब वनों पर कानून बनने लगे तो आदिवासियों का वनों पर अधिकार छिनने लगा। धीरे धीरे अंग्रेजों ने जागीरदारों और जमीदारों को लगान वसूलने के अधिकार दे दिए। इस तरह आदिवासियों की जमीन हथिया ली गई और वे भूमिहीन हो गए।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों के उत्पन्न होने के कारण आदिवासी आक्रोश से भर गए और अपने अस्तित्व तथा अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने आंदोलन भी किए। "19वीं सदी में हुआ कोल विद्रोह, चुआड़- विद्रोह, संथाल हूल और बिरसा मुंडा का उलगुलान आदि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ एक सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आंदोलन भी थे, जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ झारखंड क्षेत्र में लड़े गए थे।"[81] आजादी के बाद आदिवासियों के मन में यह आशा थी कि अब उनको अपने अधिकार प्राप्त हो जाएंगे लेकिन कुछ भी आशा अनुरूप ना हुआ। "आजादी के बाद की सरकार ने न केवल साम्राज्यवादी सरकार के सिद्धांतों को दोहराया बल्कि उन्हें और भी सशक्त और सबल बनाया, जिसका नतीजा हुआ वन में रहने वाले आदिवासियों का विस्थापन व पलायन और जंगल पर राज्य के वन-विभाग का एकाधिकार स्थापित होना।"[82]

आजादी के बाद भारत सरकार ने इनकी रक्षा करने की अपेक्षा अंग्रेजों द्वारा बनाए गए कानूनों को और भी सख्ती से लागू करना शुरू कर दिया। उनकी पीड़ा और उनके अधिकारों को सरकार ने नहीं

समझा। "1978 में सिंहभूम में जंगल आंदोलन छिड़ गया। इसी बीच 18 पुलिस गोलीकांड हुए जिसमें बहुत से आदिवासियों के घर उजाड़ दिए गए।"[83] उन्हें झूठे मुकदमों में फंसाया गया। उनकी पीड़ा का मुख्य कारण था उन्हें उनके पूर्वजों के गांव से विस्थापित करना और जंगलों के परंपरागत स्वामित्व से वंचित किया जाना। सरकार के इन नीतियों के चलते आदिवासी जमीन के मालिक बनने के बजाय मजदूर बनने पर विवश हो गए। स्वतंत्रता की लड़ाई में आदिवासियों ने बहुत योगदान दिया था लेकिन उनके नाम को कहीं पर भी आगे नहीं लाया गया बल्कि उनके बचे कुचे अधिकारों का भी हनन किया गया। सदियों से इन्हें खदेड़ा जा रहा है, इनके विकास की ओर ध्यान देने की अपेक्षा उनका शोषण और दोहन जारी है। अपनी संस्कृति और सभ्यता को यह लोग बढ़ावा देकर सुरक्षित रखना चाहते थे परन्तु उन्हें अपनी संस्कृति से ही दूर होना पड़ रहा है, उन्हें अपनी जमीन से जुड़ने नहीं दिया जा रहा बल्कि विस्थापित किया जा रहा है।

औद्योगिक विकास के नाम पर नई योजनाओं को भारतीय शासकों ने लागू किया। इन योजनाओं ने विकास से ज्यादा विनाश किया जिसे हमेशा नजरअंदाज किया गया। गरीबी दूर करने के नाम पर शुरू की गई इन योजनाओं ने उन्हें भूमि से ही बेदखल कर दिया, जिसके कारण वे ठोकरें खाने को मजबूर हो गए। झारखंड में लागू इन योजनाओं के चलते आदिवासियों की जमीन हड़प ली गईं। "पिछले पांच दशक में विभिन्न विकास की योजनाओं के नाम पर झारखंड में करोड़ों लोग विस्थापित हुए।"[84] इस तरह विकास के नाम पर लागू की गई योजनाओं के चलते कई मामले प्रकाश में आए जो आदिवासी समुदायों की पीड़ा को बयां करते हैं। "जमशेदपुर में टिस्को औद्योगिक इकाई की स्थापना हुई, जिसमें 3564 एकड़ आदिवासी जमीन को लिया गया। 1958 में रांची में भारी अभियंत्रण निगम की स्थापना हुई, जिसमें 9200 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया गया। इस योजना में 25 गांव और 12990 आदिवासी परिवार पूरी तरह विस्थापित हो गए और उन में से मात्र 10 प्रतिशत लोगों की चतुर्थवर्गीय पदों पर नियुक्ति की गई।"[85]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सबसे बड़ी आशा की किरण पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आदिवासियों के विकास के लिए पंचशील का प्रस्ताव दिया था। इस प्रस्ताव में उन्होंने इस बात को महत्व दिया था कि आदिवासियों को अपनी प्रवृत्ति और प्रतिभा के आधार पर विकसित होने का अवसर देना चाहिए। पहली पंचवर्षीय योजना से आदिवासियों के विकास के लिए कार्य शुरू किया गया लेकिन अफसोस की बात यह है कि इन योजनाओं में किया जाने वाला व्यय दिन प्रतिदिन बढ़ने के बजाय घटता चला गया। "आर्थिक दृष्टिकोण से इस पर क्रमशः कुल योजना व्यय का 1.04 प्रतिशत, 0.96 प्रतिशत, 0.75 प्रतिशत, तथा 0.5 प्रतिशत खर्च हुआ। यह उत्तरोत्तर आठवीं और नवीं पंचवर्षीय योजना तक घटता चला गया।"[86] संविधान निर्माताओं ने आदिवासियों के हितों को ध्यान में रखते हुए पांचवी अनुसूची में यह कहा है कि राज्यपाल अन्य बातों के साथ-साथ संविधान में अन्य किसी उपबंध के होने पर भी अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि हस्तांतरण का प्रतिरोध कर सकेगा पर सच्चाई यह है कि सरकार ने कानून तो बना दिए लेकिन उसे व्यवहारिक रूप से अमल में लाने के प्रयास नहीं किए गए। आदिवासियों की जमीने

इन कानूनों के होते हुए भी हस्तांतरित होती रहीं । कुल मिलाकर कानून बनने के बाद भी भूमि का हस्तांतरण अभी भी जारी है । ''झारखंड हो या छत्तीसगढ़ या अन्य आदिवासी क्षेत्र, इन क्षेत्रों में जमीनों को लेकर नारा लगाया गया 'हड़पी हुई जमीनों को वापस करो' । झारखंड की सरकार ने इन मुद्दों को सुलझाने के लिए एक कमेटी का गठन किया ताकि देश से गठित की गई नई आर्थिक-औद्योगिक एवं कृषि-नीति को लागू करने के लिए जमीन का हस्तांतरण आसान बनाया जा सके।''[87]

इस प्रकार अनेकों कानून लागू होने पर भी आदिवासियों के शोषण का कोई अंत नहीं था । कॉल बैरिंग एरिया एक्ट, 1957 के तहत किसानों की जमीन को बिना नोटिस के अधिग्रहण करना शुरू कर दिया । उन्हें पुनर्वास व रोजगार की सुविधा भी नहीं दी गई । जिसके कारण किसान, मजदूर सब तबाह होने लगे । उद्योगों और विकास के नाम पर जमीनों के बदले रोजगार नहीं बढ़े बल्कि बेरोजगारी बढ़ गई । किसानों और मजदूरों ने मिलकर इसके खिलाफ आंदोलन शुरू किये लेकिन सरकार ने कठोर रवैया अपनाकर थोड़ी बहुत दी गई सुविधाओं को भी वापस लेना शुरू कर दिया । इसके बाद जहां भी सरकारी परियोजना लागू होती या केवल जमीन की नपाई शुरू होती तो किसान वहीं पुनर्वास की मांगों के लिए आंदोलन करने लगते । रांची में हैवी इंजीनियरिंग हटिया की स्थापना के समय आदिवासी ग्रामीणों ने आन्दोलन किया और जब उन्होंने रेल बंद कर दी तो सरकार को मजबूरन उन्हें नौकरियाँ देनी पड़ीं लेकिन तब भी उनके पुनर्वास के मामले पर सरकार मूक बनी रही ।

इसके साथ ही यह सच है कि झारखंड के आदिवासी अपनी जमीन के लिए निरंतर संघर्ष करते आए हैं । बिरसा का आंदोलन महाजन, जमीदार, मिशनरियों तथा सरकार के खिलाफ था जो परिवर्तन लाने में सफल रहा और नए राज्य के रूप में झारखंड का निर्माण हुआ । इस तरह बिरसा के नेतृत्व में जो आंदोलन आरंभ हुआ था उसी से प्रेरणा लेते हुए आज आदिवासियों ने नए नेतृत्व की कमान संभाली है और अपनी स्वतंत्र अस्मिता तथा आत्मसम्मान के अहसास का निर्माण किया है । राज्यों के मंत्रिमंडल में भी आदिवासियों की हिस्सेदारी भी बढ़ी है । आज वह दुबका और डरा हुआ आदिवासी नहीं है बल्कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नेता के रूप में उभरता हुआ आदिवासी है । आदिवासियों का समुदाय आज अपने खिलाफ हो रहे शोषण को रोकना चाहता है तथा वह स्वयंसेवी संस्थाओं और संघर्षवादी संगठनों के माध्यमों से विरोध की आवाज भी उठा रहा है ।

आदिवासियों के जीवन में निस्संदेह बदलाव तो आया है लेकिन उसकी अभ भी गति बहुत धीमी है । उनका पारंपरिक जीवन बदल रहा है ''सामान्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार, राजनीतिक जागृति, कृषि-सुधार तथा बदलती कृषि को त्याग कर कायम कृषि करने की प्रवृत्ति, उपक्रमशीलता तथा हिसाब-वृत्ति, भविष्य का विचार तथा बढ़ती आवश्यकताओं की निर्मित भी आदिवासियों में बढ़ रही है।''[88] इस बदलाव के साथ साथ चेतना भी जागी है । वह नई-नई विचारधाराओं से परिचित हो रहे हैं । अपनी ही नई और पुरानी परिस्थिति में तुलना करने लगे हैं । रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''उसमें अपने होने ना होने, अपने हकों के अस्तित्व की वर्तमान स्थिति, अपने साथ हुए भेदभाव व अन्याय का बोध भी जागा है।''[89] इस

तरह उसमें चेतना आने लगी है साथ ही उसे पता है कि वह इस देश का मूलनिवासी है। अब वह समाज का सशक्त नागरिक बनकर उभरने के लिए तैयार खड़ा है। वह आज अपने अस्तित्व तथा पहचान के लिए निरंतर संघर्ष कर रहा है। वह आज अपने समाज के प्रगति के लिए अपने हाथों में नेतृत्व की बागडोर संभालने के लिए डट कर खड़ा दिखाई दे रहा है। क्योंकि उसे पता है कि तभी उसके अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा हो पाएगी।

आदिवासियों की नई पीढ़ी ने इन बदलावों को आत्मसात करना शुरू कर दिया है। आदिवासियों का एक पढ़ा-लिखा तबका अपनी पीड़ा को साहित्य का रूप भी देने लगा है। साथ ही वह साहित्य में प्रतिष्ठा भी प्राप्त करने लगा है। उन्होंने अपने जीवन तथा समस्याओं को आधार बनाकर विभिन्न भाषाओं जैसे – खड़िया, संताली, कुड़ुख, बोडो, गभा, मिजो, खासी इत्यादि में लिखा है। इन भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में लिखने वाले आदिवासी लेखक भी सामने आए हैं। उन्होंने साहित्य के विभिन्न विधाओं में अपना हस्तक्षेप किया है फिर चाहे वह कविता, कहानी, उपन्यास ही क्यों न हो। उपन्यासों में वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का 'लौटते हुए', हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर', मंगल सिंह मुडा का 'छैला सन्दु' आदि को देखा जा सकता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 20वीं सदी के मध्य से भारतीय समाज, इतिहास, साहित्य और विचारधारा की दुनिया में बहुत बदलाव आए हैं, जिन्होंने हर क्षेत्र में गहरा प्रभाव डाला है। खासकर, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद वामपंथी आन्दोलन, किसान मजदूर आन्दोलन, नक्सलबाड़ी आन्दोलन, असंगठित समूह और समुदायों के उत्पीड़न के प्रसंग में ग्राम्शी की विचारधाराएं, 1990 के मंडल कमीशन, 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस तथा 2002 के सांप्रदायिक दंगे, इसके बाद हुए आर्थिक उदारीकरण और साथ ही वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं ने, मुख्यधारा के अंदर तथा बाहर के हाशिए के समाज के वैचारिक प्रक्रियाओं ने न केवल आम आदमी की सोच को बदला है बल्कि बौद्धिक और सामाजिक विचार-विमर्श की दुनिया को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि निर्मित हो रही व्यवस्था में हाशिए तथा गरीब जनता के लिए क्या और कहां जगह है ? जगह है भी की नहीं ? जो आजादी मिली थी क्या वह पूर्ण आजादी थी ? जिससे कि व्यावहारिक और विचारधारात्मक स्तर पर सोच की दुनिया के साथ-साथ मनुष्य के लिए थोड़ी जगह विस्तार ले पाती। इस प्रकार समाज में हो रहे तमाम आन्दोलनों से तथा हर तरह की उथल-पुथलों से, बदलती विचारधाराओं से यह सामने आया कि ये आजादी कुछ मुट्ठी भर लोगों की आदाजी थी इस आजादी के बाद भी दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों आदि जैसे हाशिए के लोगों के साथ-साथ किसानों व गरीबों को तो सिर्फ शोषण और दमन ही मिला। इसीलिए 90 के दशक में समाज में हो रहे तमाम राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों तथा आर्थिक बदलावों के चलते विचारधारा की दुनिया में सामाजिक अस्मितावादी संरचनाओं ने आकार लेना शुरू किया, यह बात अलग है कि तब पारंपरिक और कुछ हद तक प्रगतिशील विचारधारा की दुनिया में हलचल मच गई तथा स्त्री, दलित और आदिवासी समाज पर जमकर बहसें शुरू हुईं। यह सबको पता है कि गुलामी अथवा वर्ण व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में दलितों और स्त्रियों का सदियों से हो रहा शोषण और

उत्पीड़न होता आया है। इस वजह से यह भी बात सामने आयी कि मुख्यधारा में ऐसे अनेक सामाजिक समूह और समुदाय हैं, जो आज भी हाशिए पर हैं तथा जिनके इतिहास और समकालीन यथार्थ पर अलग से विचार किये जाने की जरूरत है।

जब मुख्यधारा में रहते हुए भी दलितों, स्त्रियों के साथ ट्रांस जेंडर को केन्द्रीय व्यवस्था में कभी ठीक से निर्णायक स्थिति में शामिल नहीं किया गया तो आदिवासी समाज की क्या बिसात ? ऐसे ही तमाम संदर्भों को देखते हुए एक तरफ हमारे सामने इतिहास की सबाल्टर्न अध्ययन पद्धति सामने आयी और हाशिए के लोगों का भी इतिहास लिखा जाने लगा। इस तरह साहित्य में चली आ रही पूर्ववत सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में भी बदलाव दृष्टिगोचर होने लगा। दूसरी तरफ हाशिए की तमाम अस्मिताओं के अंदर चेतना जागी और वह भी पढ़-लिखकर बोलने लगे, अपनी आवाज दर्ज कराने लगे, अपने ऊपर हुए तमाम जुल्मों-सितम को सबके सामने बेनकाब करने लगे। जिसके कारण अस्मितामूलक साहित्य भी आना शुरू हुआ। हाशिए की इस चेतना का प्रभाव साहित्य की दूसरी विधाओं के साथ-साथ उपन्यास साहित्य पर भी हुआ। और उनकी आपबीती कहते हुए तमाम उपन्यास हमारे सामने हाजिर हो गए। इस तरह से 21वीं सदी के उपन्यासों के विकास में इस पृष्ठभूमि ने अपना सहयोग दिया।

संदर्भ - सूची

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ सं. -13
2. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, शिवकुमार मिश्र, पृ सं. - 433-434
3. किसान आन्दोलन : वैचारिक परिप्रक्ष्य, रामाज्ञा शशिधर, (हंस) राजेन्द्र यादव, अगस्त, 2006, पृ.सं. 12
4. नक्सलबाड़ी के दौर में, वीर भारत तलवार (संपा.) पृ.सं. 459
5. भारत के आसमान में लाल तारा, यान मिर्डल, गोपाल मिश्र (अनु.) पृ.सं. – 100
6. वही, पृ.सं. – 141-142
7. भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास, नीरू अग्रवाल (संपा.) पृ सं. - 75
8. वही, पृ.सं. – 18-19
9. वही, पृ सं. - 19
10. वही, पृ.सं. – 20
11. वही, पृ सं. - 20
12. जातिरहित समाज का सपना, सुरेश पंडित, जनसत्ता (समाचार पत्र) 1 अक्टूबर 2008 पृ सं. - 6
13. भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास, नीरू अग्रवाल (संपा.) पृ सं. - 28
14. आदिवासी चिंतन की भूमिका, डॉ. गंगा सहाय मीणा, पृ. सं.– 28
15. http:/teesraraasta.blogspost.com/2012/07/blog-post_28.html, page no. 216/11/2018, time : 5:00pm
16. किसान और दूसरे संघर्षशील जन की आर्थिक दशा-दिशा, गिरीश मिश्र, (हंस) राजेन्द्र यादव, अगस्त-2006, पृ सं. - 108
17. भारतीय किसान जीवन और समकालीन परिदृश्य, प्रदीप कुमार, (अपनी माटी इ-पत्रिका) किसान विशेषांक, जीतेन्द्र यादव (संपा.) पृ. सं.5
18. भारतीय कृषि आजादी के बाद, जी. एस. भल्ला, पृ सं. - 228
19. आदिवासी चिंतन की भूमिका, डॉ. गंगा सहाय मीणा, पृ सं. - 26
20. निम्नवर्गीय प्रसंग, भाग-1, शाहिद अमीन व ज्ञानेंद्र पाण्डेय, (संपा.) पृ सं. - 9
21. वही, पृ सं. - 9-10
22. हाशिए का वृत्तांत, दीपक कुमार व देवेन्द्र चौबे (संपा.) पृ सं. - 17
23. वही, पृ सं. - 18
24. वही, पृ सं. - 19
25. वही, पृ सं. - 27
26. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, पृ. सं.– 20
27. भारत में सांप्रदायिकता : इतिहास और अनुभव, असगर अली इंजीनियर, पृ सं. - 13, (भूमिका से)
28. वही, पृ सं. - 27, (भूमिका से)
29. राजनीति की किताब/रजनी कोठारी का कृतित्व, अभय कुमार दुबे (संपा.) सांप्रदायिकता का अष्टावक्र, पृ सं. - 254
30. सांप्रदायिकता : एक सचित्र परिचय, राम पुनियानी, पृ सं. - 44
31. वही, पृ सं. - 44
32. हिंदू राष्ट्रवाद और उनका यथार्थ, कृष्णा झा, पृ सं. - 27
33. फासीवाद और उसकी कार्य पद्धति, पामीरो तोग्लियाती
34. भारत में सांप्रदायिकता : इतिहास और अनुभव, असगर अली इंजीनियर, पृ सं. - 12 (भूमिका से)
35. भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्र सं. सत्या राय, पृ सं. - 492
36. एक जिंदगी काफी नहीं, कुलदीप नैयर, पृ सं. - 83
37. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, विपिन चन्द्रा, पृ. स. - 349
38. एक जिंदगी काफी नहीं, कुलदीप नैयर, पृ सं. - 78
39. वही, पृ सं. - 78
40. https://navbharattimes.indiatimes.com/education/gk-/know-the-important-details-about-sikh-riots-1984/articleshow/66455301.cms date-18/11/18 time 12:00pm

41. https://navbharattimes.indiatimes.com/education/gk-/know-the-important-details-about-sikh-riots-1984/articleshow/66455301.cms date-18/11/18 time 12:00pm
42. सांप्रदायिकता : एक सचित्र परिचय, राम पुनियानी, प्राक्कथन से
43. बाबरी विध्वंस के बाद अब तक क्या हुआ अयोध्या मामले में, जानिए, पृ सं. - 2
44. https://www.navjivanindia.com/india/no-one-will-be-hanged-in-godhra-incident date - 09/07/18, time 3:00pm
45. (http://thewirehindi.com/1030/why-muzaffarnagars-gangrape-survivors-lost-hope/date19.4.2019, time 11:25pm
46. http://thewirehindi.com/1030/why-muzaffarnagars-gangrape-survivors-lost-hope/ date – 10/07/18, time 5:00pm
47. भारतीय समाज, एनसीईआरटी, के.एल. शर्मा, 12 वीं कक्षा, पृ सं. - 53
48. रेहन पर रग्घू या इक्कसवीं सदी का गाँव-घर ?, चौथीराम यादव, चौपाल, अंक – 1, वर्ष – 1, 2014, पृ सं. - 31
49. बदलते यथार्थ की कहानी, नामवर सिंह, चौपाल, अंक – 1, वर्ष – 1, 2014, पृ सं. - 27
50. भारतीय ग्राम, श्यामाचरण दुबे, योगेश अटल, (अनु.), पृ. सं.40
51. मैं हिंदू क्यों नहीं, कांचा ऐलय्या, (अनु.) ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ सं. - 21
52. वही, पृ सं. - 06
53. वही, पृ सं. - 10
54. अस्मिता-विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, पृ सं. - 31
55. भारत का भूमण्डलीकरण, अभय कुमार दुबे (संपा.) पृ सं. - 455
56. हंस, राजेन्द्र यादव, जून, 2003, पृ सं. - 09
57. हंस, राजेन्द्र यादव, नवंबर, 2005,पृ सं. - 63
58. भारतीय इतिहास में नारी, प्रोफेसर सुगम आनंद, पृ सं. - 98
59. श्रृंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, पृ सं. - 22
60. भारतीय इतिहास में नारी, प्रोफेसर सुगम आनंद, पृ सं. - 126
61. वही, पृ सं. - 126
62. श्रंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, पृ सं. - 76
63. नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, डॉ. गीता सोलंकी, पृ सं. - 14
64. हंस, राजेन्द्र यादव, नवंबर 2010, पृ सं. - 70
65. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, पृ सं. - 201
66. स्त्री चिंतन की चुनौतियां, रेखा कस्तवार, पृ सं. - 7
67. हंस, राजेन्द्र यादव, नंबर 2001, पृ सं. - 47
68. हंस, राजेन्द्र यादव, अक्टूबर 2009, पृ सं. - 68
69. दलित विमर्श, डॉ. नरसिंह दास वणकर, पृ सं. - 9
70. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ सं. - 13
71. दलित विमर्श की भूमिका, कँवल भारती, पृ. सं. - 38
72. शिक्षा का परिदृश्य, डॉ. कुसुम यदुलाल, पृ सं. - 22
73. परंपरागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य, साक्षान्त मस्के, पृ सं. - 80
74. वही, पृ. सं.110
75. हाशिए का वृत्तांत, दीपक कुमार व देवेन्द्र चौबे (संपा.) पृ सं. - 290
76. परंपरागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य, साक्षान्त मस्के, पृ सं. - 30
77. वही, पृ सं. - 34
78. भारतीय संस्कृति कोश, लीलाधर शर्मा, पृ सं. - 98
79. वही, पृ सं. - 98

80. आदिवासी कौन, संपादक रमणिका गुप्ता, पृ सं. - 14
81. आदिवासी विकास से विस्थापन, रमणिका गुप्ता (संपा.) पृ सं. - 10
82. वही, पृ सं. - 42
83. वही, पृ सं. - 11
84. वह, पृ सं. - 43
85. वह, पृ सं. - 43
86. वही, पृ सं. - 44
87. वही, पृ सं. - 15
88. वही, पृ सं. - 38
89. आदिवासी साहित्य यात्रा, रमणिका गुप्ता (संपा.) पृ सं. - 5

अध्याय - 4

21वीं सदी के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(4.1) किसान जीवन की त्रासदी का चरम दौर

(4.2) सांप्रदायिकता के नए स्वरूप का विकास

(4.3) अस्मितामूलक साहित्य का उत्थान

(4.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मिता – ट्रांसजेंडर

(4.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंध

(4.6) सूचना क्रांति का दौर

(4.7) विज्ञान लेखन

21वीं सदी के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

किसी भी समाज का एक समय व काल खण्ड होता है और चूँकि आदिकाल से ही समाज और साहित्य में बहुत गहरा संबंध रहा है या यूँ कहें कि साहित्य में समाज के यथार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। इसलिए जैसे-जैसे समाज में बदलाव आता जाता है वैसे-वैसे साहित्य जगत में भी बदलाव आता है, और समाज में बदलाव बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुरूप होता है। इस तरह साहित्य जगत में जो बदलाव बहुत बड़े और गहरे रूप में होते हैं वही आगे चलकर प्रवृत्तियों के रूप में भी हमारे सामने आते हैं फिर वह साहित्य की उपन्यास विधा ही क्यों न हो। हालांकि यह बात अलग है कि जरूरत पड़ने पर साहित्य भी समाज पर अपना प्रभाव डालता आया है। साहित्य में समाज के प्रभावों व बदलाओं के चलते ही 21वीं सदी के उपन्यास में भी अनेक नई प्रवृत्तियाँ सामने आयी हैं फिर वह चाहे अस्मितामूलक विमर्श के रूप में हो या सूचना प्रौद्योगिकी के रूप में। वर्तमान समय की सबसे ज्यादा प्रभावी और विस्तृत प्रवृत्ति है विमर्शों की प्रवृत्ति। इसलिए साहित्य जगत में लोग 21वीं सदी को विमर्शों की सदी भी कहते हैं। यह सच है कि आज के दौर में तमाम विमर्श उभर कर सामने आये हैं जो चर्चा का केन्द्र बने हुए हैं। यहाँ पर 21वीं सदी की ऐसी तमाम प्रवृत्तियों पर चर्चा की गयी है।

(4.1) किसान जीवन की त्रासदी का चरम दौर

20वीं सदी के दूसरे तीसरे दशक में देश की औपनिवेशिक व्यवस्था में किसानों की जो दशा थी उसमें आजादी के सत्तर साल बाद क्या बदलाव आया है ? यह हमें रोज अखबार और टीवी के माध्यम से पता चलता रहता है। आज माडिया पर पूँजीपति या औद्योगिक घरानों के भारी नियंत्रण के बाद भी पिछले पंद्रह-सोलह सालों में देश के तीन लाख से भी अधिक किसान आत्महत्या की खबरें सामने आ चुकी हैं। विचारणीय बात यह है कि आज भी उन्हें कोई राहत नहीं मिली है, भले ही कई हजार करोड़ मुआवजे बाँट दिए गए हों। किसानों की आत्महत्या या देश का कृषि संकट देश की भ्रष्ट व्यवस्था के कारण आज भी कम होने के बजाए निरंतर बढ़ रही है, इसका प्रभाव साहित्य के क्षेत्र पर भी पड़ा है।

20वीं सदी के महान उपन्यासकार प्रेमचंद अपने समय के किसानों के यथार्थ से अत्यधिक विचलित हुए थे जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी दिखाई देता है। किसान जीवन की त्रासदी को उन्होंने खुद जैसे तिल-तिलकर महसूस किया था वैसा ही अपने उपन्यासों में उतारा है। प्रेमचंद के किसान जीवन की ओर झुकाव का एक राजनैतिक परिप्रेक्ष्य भी था। प्रो. रामबक्ष जाट लिखते हैं ''राजनैतिक प्रगति के समानांतर साहित्यिक प्रगति की दिशा भी जनतांत्रिक होती जा रही थी।''[1] इसके साथ ही सन् 1917 ई. में जब रूसी क्रांति हुई तो समस्त साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के सामने नयी दुनिया का स्वरूप स्पष्ट होने लगा। जिससे प्रेमचंद भी अछूते नहीं रह सके। उनकी जीवन दृष्टि और रचना दृष्टि भी इस ओर उन्मुख हुई, कुल मिलाकर प्रेमचंद और किसान अब करीब आ चुके थे।

प्रेमचंद ने ऐसे ही साहित्यिक और राजनैतिक माहौल में 'प्रेमाश्रम', रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'सेवासदन' और 'गोदान' जैसे उपन्यास लिखे। इनमें से 'गोदान' सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त उपन्यास है। जो किसान जीवन की महागाथा कहा जाता है। इससे पहले उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में बेदखली और लगान पर होते इजाफे को दिखाया था तो 'कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट और किसानों की लगानबंदी की लड़ाई को और फिर 'गोदान' में किसान से बनते मजदूर की कहानी है। गोदान का नायक होरी भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में अपने समय के किसान जीवन की त्रासदी को यथार्थपूर्ण ढंग से हमारे समाने रखने की कोशिश की है।

'गोदान' जैसी कालजयी कृति का मूल्यांकन तमाम आलोचकों ने अलग-अलग ढंग से किया है। डॉ. रामविलास शर्मा जब 'गोदान' की मूल समस्या को 'ऋण की समस्या' के रूप में परिभाषित करते हैं। वहीं वीरेन्द्र यादव को 'गोदान' में होरी की ऋण की समस्या के बारे में बात करते हुए होरी और राय साहब की ऋण की समस्या एक जैसी नहीं मानते। इसलिए वह लिखते हैं ''अंग्रेजी औपनिवेशिक शासनकाल में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण के दौरान अवध के दुखी किसानों का प्रतिनिधित्व करते होरी की यन्त्रणा के स्रोत कहाँ हैं ? अंग्रेजी उपनिवेशवाद में हिंदू धर्म की वर्णाश्रमी सत्ता संरचना में या महज कर्ज की समस्या में, मेरी समझ से इन सबके समुच्चय में।''[2] वीरेन्द्र यादव की बातों से पूर्णत: सहमति जतायी जा सकती है कि इस समुच्चय के मकड़जाल के चलते ही होरी की जमीन छीन ली जाती है और वह कंकड़ खोदते हुए जान देता है। होरी उन किसानों का प्रतिनिधि है जिनकी जमीन उनके हाथों से निकलती जाती हैं तथा वे मजदूरी करने को मजबूर हैं और मजदूरी ऐसी कि चार ही दिन में आदमी की हड्डियों को चूर कर दे। वही होरी, जिसने मेहता को उठाकर दे मारा था, लू खाकर मैदान में मुंह के बल गिर पड़ता है। यहां होरी उस मकड़जाल से लड़कर थका हुआ लू खाकर मरने को मजबूर है तो आज के किसान अपनी जान खुद लेकर यानी आत्महत्या करने पर।

21वीं सदी के किसानों के समक्ष अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी जैसी अनेक समस्याएं मुंह बाये खड़ी हैं। देश की लगभग आधी फीसदी से ज्यादा आबादी सरकार और समाज दोनों के यहां हाशिए पर हैं। अगर कुछ बदला है तो किसानों के शोषण के जरिए, वह माध्यम अब और आधुनिक हो गए हैं। अब किसान लू से नहीं मरते बल्कि सूली से झूल जाते हैं। साहित्य की बात करें तो स्वतंत्रता के बाद किसान जीवन की समस्याओं को लेकर उस लेखन के कलेवर का अभाव-सा दिखता है जो प्रेमचंद के यहां दिखाई देता है। प्रेमचंद के बाद बहुत सारे रचनाकारों ने किसानों की समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे हैं। उनमें समकालीन कथाकार शिवमूर्ति का उपन्यास 'आखिरी छलांग', पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' तथा संजीव का 'फांस' उल्लेखनीय हैं।

शिवमूर्ति का आखिरी छलांग किसान जीवन पर आधारित उपन्यास है। इसमें किसान जीवन की अनेक समस्याओं का मकड़जाल दिखाई देता है। कथानाक का क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्रामंचल है और इसका नायक पहलावान एक किसान है। उसके सामने विरासत में मिली तथा नई आर्थिक नीतियों

के कारण निर्मित अनेक समस्याएं हैं। वह अपनी सयानी बेटी के लिए दो साल से वर खोज रहा है, बेटे की इंजीनियरिंग की फीस का जुगाड़ नहीं हो रहा है। तीन साल से गन्ने का बकाया नहीं मिल रहा है। सोसाइटी से खाद के लिए लिया गया कर्ज चुकता नहीं हुआ है। हर दूसरे महीने में ट्यूबेल के बिल की तलवार सिर पर लटक जाती है। ऐसी कई समस्याओं को किसान पहलवान के माध्यम से उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में उठाया है। पहलवान महसूस करता है कि जैसे नहर के पेट भीतर सिल्ट भर जाती है उसी तरह किसान की तकदीर में भी साल दर साल सिल्ट भरती जाती है। वह अपने किसान जीवन से तंग आकर इस व्यवस्था से प्रश्न करता है कि "सारे हालात तो मर जाने के हैं। जिंदा कैसे रहा जाए।"[3]

जमींदार के जमाने में किसानों का शोषण जेठ की तपती धूप में मुर्गा बनाकर, उस पर कोड़े बरसाकर किया जाता था। यह था जमीदारों का जमाना। किंतु आज बरसों गुजर जाने के बाद भी किसानों का शोषण नहीं रुका बल्कि और बढ़ गया है। किसानों पर होने वाले शोषण को तो अब पहचानना भी मुश्किल है। यहां तो कानून पैसे वसूलने के लिए किसानों, मजदूरों पर इस्तेमाल हो रहा है। इन परिस्थितियों के कारण किसानों के मन में घिरा अंधेरा बाहर के अंधेरे से भी ज्यादा घना दिखाई दे रहा है। इससे परेशान आकर उपन्यास का पात्र पहलवान कहता है "किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा। इन्हीं परिस्थितियों में जिंदगी की नाव खेना है।"[4] भारत का किसान जीवन भर ब्याज भरता रहता है तथा अपना कर्ज पुत्र को विरासत में दे जाता है। किसानों का शोषण अनवरत जारी रहे इसलिए अंग्रेजों ने मालगुजारी जैसे तमाम अधिनियनों को कानूनी तौर पर वैधता प्रदान की थी। आगे चलकर सराकार की नव-आर्थिक नीतियों, भू-राजस्व की नई प्रणाली और प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की और कमर तोड़ दी है। प्रेमचंद के यहां जो कर्ज की समस्या थी प्राय: वह आज भी बनी हुई है बस उसका स्वरूप बदलकर और घातक तथा चरम स्थिति पर पहुँच गया है। पहले जमींदार, साहूकारों के द्वारा उनका शोषण होता था आज यह काम नव आर्थिक नीतियों, सरकारी दफ्तरों और बैंकों के माध्यम से किया जा रहा है, जो अपने चरम दौर को दर्शाता है।

साथ ही पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' भी किसान जीवन पर केन्द्रित है इसमें उनकी जिंदगी पर बहुत करीने से रोशनी डाली गई है। किसान की सारी आर्थिक गतिविधियाँ कैसे उसकी छोटी जोत की फसल के चारों ओर केन्द्रित रहती है और किन उम्मीदों के सहारे वे अपने आप को जीवित रखते हैं यह उपन्यास बहुत ही साफगोई से बताता है। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास को समझने को लिए किसान रामप्रसाद की देह को चीर कर देखना होगा कि उसकी लालसाएं क्या हैं, कि उसके संघर्ष क्या हैं, कि वह अपनी जीवन-यात्रा के आखिरी पड़ाव पर किन अनुभवों और विश्वासों के साथ उनका हो जाता है। रामप्रसाद एक छोटा आदमी है, वह किसान है, उसकी लालसा भी छोटी होती है।

इस उपन्यास में मूल रूप से के. सी. सी. की समस्या, प्राकृतिक समस्या तथा सरकारी मुआवजा जैसी समस्याओं को उपन्यासकार ने उठाया है। किसानों की फसल नष्ट होने पर मुआवजा न मिलने की समस्या को सुबीर जी ने अपने उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है "लेकिन सर सरकार के ही भरोसे हैं न? अगर सरकार उसको मदद नहीं करेगी तो कौन करेगा? खेतों में खड़ी फसल

अगर बरबाद हो गई, तो किसान क्या करे, क्या मर जाए?...तो मर जाए? सरकार के भरोसे बैठा है क्या? दुनिया में सब अपने-अपने भरोसे बैठे हैं। आपको किसने कहा है खेती करो? मत करो अगर नुकसान का इतना ही डर है तो। जब कहा ही जाता है कि खेती तो मौसम के भरोसे खेला जाने वाला जुआ है, तो क्यों खेलते हो इस जुए को? किसी ने कहा है क्या आपसे? मत करो खेती कोई दूसरा काम करो।"[5]

वहीं दूसरी तरफ संजीव का उपन्यास 'फाँस' है जिसने किसान जीवन की संघर्षगाथा तथा उनकी विभिन्न समस्याओं को रेखांकित किया गया है। उपन्यासकार अपने उपन्यास में किसानों की सबसे बड़ी समस्या के रूप में उनके आत्महत्या कर लेने की समस्या चिन्हित किया है। जिसे उन्होंने 'फांस' में बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है "आत्महत्या का कारण...? जन्मने और मरने के अलग-अलग कारण नहीं हुआ करते। वही फसल का नष्ट होना, वही ऋण, वही भावुकता...।"[6] इसका कारण एक ठोस व कारगर कृषि-नीति का अभाव है। इस प्रकार आज खेती-किसानी एक मजबूरी और मौत का नाम है। यह एक ऐसा मार्ग है जिस पर कोई विकल्पहीनता की ही स्थिति में चले तो चले, पर स्वेच्छा से इस पर कोई नहीं चलना चाहता। फिर भी इस देश में विकल्पहीन किसानों की कमी नहीं है। बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके पास खेती-किसानी के अलावा और कोई चारा भी नहीं है। एक शेतकरी (शिबू) की बेटी कलावती कहती भी है कि ''इस देश सौ में चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानों छोड़ भी दी।''[7]

संजीव ने उपन्यास में किसानों की जमीनी हकीकत को हमारे सामने पेश करता है। इसमें मूल रूप से सुखाड़ विदर्भ क्षेत्र के किसानों की समस्याओं को प्रमुख रूप से उठाया गया है। अत: यह उपन्यास मुख्य रूप से कपास किसानों पर केन्द्रित है, लेकिन उपन्यास में कुछ ऐसे भी कथा-प्रसंग आए हैं जिनके माध्यम से गन्ना किसानों की भी समस्याओं पर विचार किया गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि यह उपन्यास केवल शिबू, सुनील और शकुन की ही कहानी नहीं कहता बल्कि आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, बुंदेलखंड एवं छत्तीसगढ़ के किसानों के साथ-साथ पूरे देश के किसानों की भी कहानी कहता हुआ दिखाई देता है। 'फाँस' किसान जीवन से संबंधित प्रेमचंद के गोदान के बाद हिंदी का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसलिए उपन्यास के बारे में प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं ''भारत में अब तक तीन लाख से अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या की हैं। यह मानवता के इतिहास की एक भयावह त्रासदी है और अमानवीय समाज-व्यवस्था का भीषण अपराध भी। उस त्रासदी और अपराध के प्रतिरोध की प्रवृत्ति पैदा करने वाला यह उपन्यास 'फाँस' प्रेमचंद के कथा साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का आज की स्थिति में विकास करेगा।''[8] सच में प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद भारतीय किसान जीवन की त्रासदी को प्रस्तुत करता हुआ 'फाँस' उससे आगे का बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यास बन पड़ा है।

इस तरह यह सभी उपन्यास किसान आत्महत्या को उकसाने वाली पृष्ठभूमि के रूप में नव-आर्थिक सरकारी नीतियों जैसे कारणों को सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इन उपन्यासों में खेती की समस्या, कर्ज, दहेज, बाजारवाद, नव-आर्थिक सरकारी नीतियां, महगाई, शोषण आदि किसान जीवन से जुड़ी समस्याओं का बखूबी चित्रण किया गया है। कुल मिलाकर इन उपन्यासों में किसानों की दुर्दशा

के लिए जिम्मेदार तत्व और किसान आत्महत्याओं की जमीनी सच्चाई को यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जो बतलाता है कि यह किसान जीवन का बहुत ही भयावह और चरम दौर है। इस तरह यह उपन्यास भारतीय किसान जीवन की आज की स्थिति का चित्रण करते हुए एक प्रवृत्ति के रूप में उभरकर सामने आये हैं।

(4.2) सांप्रदायिकता के नए स्वरूप का विकास

भारतीय इतिहास में भारत के विभाजन की सबसे बड़ी त्रासदी रही है। इतिहास की इस त्रासदी को उपन्यास में विस्तार से व्यक्त किया गया है। विभाजन की कथा, दुख-दर्द, दंश, संघर्ष और राजनीति उपन्यास के कथ्य और शिल्प में अधिक सार्थकता से विन्यस्त हुआ है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में कहें तो कहेंगे कि ''विभाजन की त्रासदी की पूरी भयावहता, उसकी जटिलता और समग्रता को हिंदी के अनेक उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है – मुझे लगता है कि यह कवियों और कथाकारों की मानसिकता से अधिक कवि और कथा साहित्य के स्वाभाव की भिन्नता से जुड़ी हुई सच्चाई है।''[9] इसके साथ ही विभाजन की त्रासदी और साम्प्रदायिकता पर लिखे गये उपन्यासों में राही मासूम रजा का 'आधा-गाँव', यशपाल का 'झूठा-सच', भीष्म साहनी का 'तमस', बदीउज्जमा का 'छाको की वापसी', कुर्तुरुल एन हैदर का 'आग का दरिया', अब्दुल्ला हुसैन का 'उदास नस्लें', कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' को देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में विभाजन में से उपजी समस्या, साम्प्रदायिकता, जीवन संघर्ष और त्रासदी के साथ जीवन सौन्दर्य एवं संभावनाओं की तलाश भी है। इस प्रकार अगर हम देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिकता पर लिखे गये उपन्यासों की एक लम्बी प्रवृत्ति भी रही है जो आज के उपन्यासों में भी दिखाई देती है। भले ही उसका रूप कुछ बदल गया हो।

जहाँ एक तरफ 'झूठा-सच' 'तमस', 'उदास नस्लें', 'छाको की वापसी' और 'आग का दरिया' विभाजन पर केन्द्रित उपन्यासों में अलग-अलग कथारूपों के होते हुए भी कुछ बातें समान दिखाई पड़ती है, जैसे कि विभाजन से पूर्व भारत की साझी संस्कृति की स्मृतियों, रीति-रिवाजों को सहेज लेने की कचोट हर उपन्यास में मौजूद है। विभाजन के कारक तत्वों में उपनिवेशवाद, सामंतवाद और भारतीय राजनीति की स्वार्थी नीतियों के गठजोड़ की पड़ताल और पहचान हर उपन्यास में हुई है और मेरी समझ से उस समय का यही बड़ा सच भी है। विभाजन की त्रासदी का परिणाम साम्प्रदायिक दंगों में हुआ। स्वतंत्रता के बाद वह किसी न किसी रूप में भारतीय समाज में व्याप्त रही। सदी के अंतिम दशक में 'बाबरी मस्जिद ध्वंस' और नयी सदी के आरम्भ में हुए 'गुजरात के दंगें' को देखा जा सकता है। वैसे साम्प्रदायिकता का राजनीतिकरण इसका मुख्य कारण है। भारतीय राजनीति का टुच्ची नीतियों का परिणाम ये दंगे, फसाद और रंजिश है जो राजनेताओं एवं धर्म के ठेकेदारों की सोची-समझी रणनीति से घटित होते हैं। हाल ही में मुजफ्फरनगर के दंगे इसी के दहकते हुए साक्ष्यों के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही धर्म एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर लोकतांत्रिक संस्थानों, सेकुलर प्रतीकों और अल्पसंख्यकों पर हमलों के बदले हुए और संगठित दौर को 21वीं सदी के उपन्यासों में देखा जा सकता

है। उदाहरण के रूप में इन सारी स्थितियों को असगर वजाहत के 'कैसी आगी लगाई', दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम' तथा प्रदीप सौरभ के 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में देखी जा सकती हैं।

इसके साथ ही यह सच है कि उदारीकरण से पहले स्थितियाँ इतनी विकट नहीं थीं। तब दंगे होते थे लेकिन अब जनसंहार होते हैं। असगर वजाहत के इस उपन्यास 'कैसी आगी लगाई' में वैश्वीकरण, उदारीकरण के प्रभाव के चलते 'फासीवाद' के नए स्वरूपों को रेखांकित किया गया है। मूलत: यह उपन्यास सातवें दशक पर केन्द्रित है। असगर वजाहत उस समय अलीगढ़ में हुए दंगों के बारे में बताते हैं कि जब दंगों के कारण छात्रों को हॉस्टल में बंद कर दिया जाता है। तब मुस्लिम छात्र आक्रोशित हो जाते हैं। बाद में वे भी बाजार में जाकर हिंदुओं की दुकाने लूट कर मुसलमानों से की गई लूट का बदला लेते हैं। चुनाव प्रचार के दौरान मुस्लिम उम्मीदवार की एक कार्यकर्ता इस्लामी भावनाओं के कारण ही काम करता है। उसका मानना है ''इन दो-चार जिलों में नूर मियां अकेले मुसलमान एम.एल.ए. हैं, न रहेंगे तो जनसंघी मुसलमानों की गाड़ में डंडा कर देंगे।''[10] इससे यह बात साफ पता चलती है कि उस समय तनाव के बावजूद शक्ति-संतुलन की अपेक्षा की जा सकती थी। कुछ मुस्लिम युवा बदला लेने की कोशिश कर सकते थे। आज पूँजीवाद के संकट ने फासीवाद को फिर से उभार दिया है और साथ ही समाज पर इसके प्रभाव ने ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को भी तेज कर दी है। कुल मिलाकर इस उपन्यास में 90 के दौरान हुए वैश्वीकरण के चलते सांप्रदायिक स्वरूप के बदलावों को दिखाया गया है

वहीं दूसरी ओर 'बाबरी ध्वंस' को केन्द्रित कर दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आखिरी कलाम' भी प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास 80 के बाद आये भारतीय राजनीति के बदलाओं और उसके खोखलेपन एवं उन्माद को सूक्ष्मता से रेखांकित करता है। अपनी सम्पूर्ण औपन्यासिक संरचना में 'आखिरी कलाम' हिंदू फासीवादी खतरे की पृष्ठभूमि में एक ऐसी जीवन्त जिरह है जो धर्म, धर्मनिरपेक्षता, जनतन्त्र, मीडिया, मुसलमान वामपंथ से लेकर लोहियावादी राजनीति तक का विस्तार लिए है। लेकिन उपन्यासकार का सर्वाधिक मुखर बिंदु है हिन्दू धर्म की मनुष्य विरोधी संरचना को बेपर्दा करने तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के उस पोले आधार को उजागर करने में जो उसकी विफलता के लिए जिम्मेदार हैं। इस उपन्यास में सांप्रदायिकता की पूरी राजनीति का पर्दाफाश करते हुए हिंदूवादी सांप्रदायिक शक्तियों को चिन्हित किया गया है। आचार्य तत्सत पांडेय कहते हैं ''सब झूठे और मक्कार और मिले हुए। सब हिंदू। सब केवल हिंदू। सब बर्बर। सभी कारसेवक। जो सोए हैं वे भी और जो चीख रहे हैं वो भी। सारे अखबार और तथाकथित मीडिया और तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के ठेकेदार। देश और विदेश-सभी। सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे। कोई फर्क नहीं है। पुलिस और फौज और कानून के महात्मा - सभी हैं नशे में। सभी को वही जोगिया रंग चढ़ा हुआ है।''[11] आचार्य का कथन पूरी व्यवस्था के ऊपर प्रश्नचिह्न है। लोकतंत्र के दावे के भीतर सांप्रदायिक कट्टरता एक मूल्य की तरह समाज में ऐसे स्थापित हो गई है कि सांप्रदायिक सोच ना रखने वाला व्यक्ति स्वयं ही हाशिए पर चला जा रहा है। सांप्रदायिक धारणा को समाज में गहराई से बैठाने के लिए सांप्रदायिक राजनीति करने वाले अनेक किंवदंतियाँ भी गढ़ते हैं। इन किंवदंतियों में लक्षित समुदायों के आपसी वैमनस्य के कुछ गढ़ंत किस्से ढाले जाते हैं जिससे समाज के भीतर सांप्रदायिक विभेद को स्थायित्व मिल सके। प्रोफेसर तत्सत पांडेय

कहते हैं ''किंवदंतियों में एक फासिस्ट तत्व होता है। लोग उन्हें जैसा चाहें, गढ़ लेते हैं। उन्हें तर्क पर चढ़ाना बेकार है । उनके साथ वितर्क का रस ही संभव है। तुम यह नहीं कह सकते कि ऐसा कैसे हो सकता है।''[12]

हमारे देश के भीतर सांप्रदायिक अलगाववाद की समस्या इसलिए भी अधिक उन्मादकारी है क्योंकि धार्मिक संस्कार यहाँ आज भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इसी धार्मिक संस्कार के चलते दरोगा कहता है कि ''और यह साला प्रोफेसर... कैसा पांडे है रे। पांडे है तो पांडे होना चाहिए... गोसाईं जी की खिल्ली उड़ाओगे तो कैसा पांडे रे?''[13] इसी धार्मिक संस्कार के चलते रामलला के द्वार के सामने पुलिस का सिपाही नंगे पाँव पहरा देता है और जब प्रोफेसर पांडे उससे सवाल करते हैं तो वह उन्हें झिड़क देता है ''चुप बे, रामलला के जन्म स्थान को मस्जिद बोलता है? फेरा लगाएगा? दिखाएँ जूता?''[14] भारतीय समाज में गहराई से व्याप्त इस धार्मिक संस्कार के स्वरूप और इसके प्रभाव को समझते हुए प्रोफेसर पांडे कहते हैं कि ''धर्म ही एक षड्यंत्र है।''[15] और इस षड्यंत्र का शिकार होकर ही समाज उन्मादी हो जाता है। वे सर्वात्मन से प्रश्न करते हैं कि ''क्या धर्म के सवाल पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं? तब हो चुका। यह मंदिर-मस्जिद का सवाल नहीं है सर्वात्मन... यह मनुष्य होने या न होने का सवाल है। अब जो तुम देख रहे हो, वह क्या है? वह वही भेड़चाल है। बाद में कुछ नए गड़ेरिए आएँगे और अपना पक्ष तर्कपूर्वक नहीं, बलपूर्वक रखेंगे।''[16]

अयोध्या के बाद से ऐसी ताकतों के द्वारा भारतीय समाज लगातार नियंत्रित किया जाता रहा है। अयोध्या में गुजरात की पृष्ठभूमि तैयार हुई थी और गुजरात में उसके बाद के समय की। एक ऐसे अविश्वासपूर्ण समय की जिसके भीतर धर्म के आधार पर मानव और मानव के सह अस्तित्व को नकार दिये जाने की साजिशें होने लगीं। ऐसी ही साजिशों का नतीजा है कि अयोध्या की बाबरी मस्जिद के पिछवाड़े की मुस्लिम बस्तियों के लोगों के मन में भय, निराशा, अलगाव, बेबसी और पलायन के भाव घर कर गए हैं। एक मुस्लिम पात्र अपनी पीड़ा व्यक्त करता हुआ कहता है कि ''खसरा में हमीं हैं हुजूर! नजूल की जमीनों के पट्टेदार भी हमीं हैं हुजूर! मौरूसी हक है। अभी तो हम जोत-बो रहे हैं लेकिन कब ले लेंगे, पता नहीं, कोई मुआवजा नहीं। आधा-तीहा देते हैं। जो मुसलमान हैं, वे अपना पट्टा 'होलसेल' बेच सकते हैं। अब पट्टेदार हम रामआसरे दास ने कब्जा ले लिया। क्या हो सकता है। मजूरी से पेट काटकर कब तक लड़ते हुजूर! और फिर कतल-खून की धमकी दिन-रात अलग से।''[17] सांप्रदायिक विद्वेष कमजोर और अल्पसंख्यक समुदायों के लिए हमेशा ही भारी क्षति का कारण बनता है।

इसी प्रकार प्रदीप सौरभ ने अपने उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' में भूमण्डलीकरण, सूचनाक्रांति के दौर में अपराधीकरण के साथ-साथ 2002 के सांप्रदायिक दंगे की भयावह तस्वीर खींची है। साबरमती एक्सप्रेस के एस-6 कोच के अग्निकांड के बाद फैले सांप्रदायिक दंगे के बारे में प्रदीप सौरभ लिखते हैं ''खालिद नूर मोहम्मद। निवास नरोडा पटिया, अहमदाबाद। परिवार ग्यारह सदस्य। उस सुबह खालिद अपना रोज का काम शुरू करने वाले ही थे। अचानक रामनाम का जाप करती उग्र भीड़ ने उन पर हमला बोल दिया। जान बचाने को सब भागे-दौड़े। दंगाइयों ने एक-एक को पकड़ कर जलाना शुरू कर दिया। दंगाइयों के हाथ में पेट्रोल-डीजल और मशाल सब कुछ था। यह बताते हुए सत्तर वर्षीय खालिद की

आँखें भर आती हैं। वे बताते हैं कि उन्होंने अपनी आँखों से सबको जलते देखा। उनकी बेटी कौसर को पहला बच्चा पैदा होने वाला था। दंगाइयों ने उसके पेट से बच्चा निकालकर आग में फेंक दिया। बाद में उसे भी जिंदा जला दिया। उनकी बीवी, जवान बेटा, बहू सब जला दिए गये। अब वे अपने जीने पर शर्मिंदा है।''[18] इस क्रूरतम, जघन्य नरसंहार के साथ इंसानियत का भी कत्लेआम हुआ जो आज भी अंदर तक दहला देता है। मुसलमानों, स्त्रियों, बच्चों के साथ इतनी क्रूरता मैने पहली बार देखी थी। इस क्रूरता के चलते ही पूरा गुजरात हिंदू, मुसलमान में बंट गया। प्रदीप सौरभ आगे उपन्यास में लिखते हैं ''पूरा गुजरात दो हिस्सों में बंट चुका था। कुछ महीने पहले तक भारतीय जनता पार्टी के लिए बंजर रहा गुजरात, चुनाव की हरी फसल काटने के लिए अब पूरी तरह तैयार था।''[19] और इस प्रकार इस उपन्यास में भी जाति और धर्म का गठजोड़ कर सत्ता हासिल करने के लिए तमाम मुसलमानों, बच्चों, जवानों, बूढ़ों और स्त्रियों के भयानक नरसंहार का वर्णन किया गया है। अत: कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के उपन्यास विधा में सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप के साथ-साथ उसके भयावह स्वरूप को भी चित्रण हुआ है। जिसे उपन्यासकारों ने बहुत ही बारीकी से अभिव्यक्त किया गया है।

(4.3) अस्मितामूलक साहित्य का उत्थान

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य में दलितों, आदिवासियों, और स्त्रियों की उपस्थिति बढ़ी है। जिसके कारण इन अस्मिताओं से संबंधित समस्याओं का साहित्य से सरोकार भी बढ़ा है। साहित्यिक दुनिया में चलने वाले विमर्शों में विभिन्न अस्मिताओं को अभिव्यक्त करने वाले साहित्य को 'अस्मितामूलक साहित्य' की संज्ञा दी गई है तो वहीं इसे दूसरे शब्दों में 'बहुजन साहित्य' भी कहा गया है। इन अस्मिताओं की उपस्थिति हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं के साथ उपन्यास साहित्य में भी दिखाई पड़ती है। उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत स्त्री, दलित और आदिवासी समाज से आने वाले साहित्यकारों के द्वारा लिखे गए उपन्यासों को 'अस्मितामूलक उपन्यासों' की संज्ञा दी गयी है।

(4.3.1) स्त्री

क्या 'स्त्री-साहित्य की अवधारणा साहित्य की अवधारणा से भिन्न है ? जवाब है, हाँ। क्योंकि स्त्री-साहित्य वस्तुतत: स्त्री के अनुभूति का साहित्य है। यह ऐसी अमुभूतियां हैं जो अभी तक दबी हुई थीं, दमित थीं, उत्पीड़ित थीं। प्रभुत्वशाली मर्दवादियों ने उसे समाज एवं साहित्य से बहिस्कृत कर रखा था, जहां से उसे बाहर झांकना मना था। ज्यों ही स्त्री ने प्रतिबंधित क्षेत्रों से बाहर निकलने की कोशिश की पुरुषसत्ता को इससे खतरे का अहसास हुआ, पितृसत्ता की व्यवस्था कमजोर हुई, पुरुष वर्चस्व में खरोंच लगी। प्रतिबंधित दायरे से बाहर निकलकर स्त्री ने अपने को समग्रता में मानवीय कार्य-व्यापार से जोड़ने की कोशिश की। मर्दवादी नजरिए से सामान्य मानवीय व्यवहार वह था जो स्त्री का ध्वंस करे, हेय माने, छद्म व्याख्या के जरिए उसके सत्य को छिपाए। इसलिए साहित्य में स्त्री का जो रूप पहले उभरा वह आमतौर पर रूढ़िबद्ध था। रूढ़िबद्ध होने के कारण ही स्त्री के हितों की उपेक्षा हुई। पुरुष लेखकों की रचनाओं में स्त्री के बारे में मिथों को रचने की लंबी परंपरा मिलेगी, साथ ही बनावटीपन भी। जिसके कारण साहित्य यथास्थिति बनाये रखने का कार्य करने लगता है।

अत: स्त्री-साहित्य स्त्री की अस्मिता को मां, बहन, बेटी, बीवी और वेश्या की कोटियों से बाहर लाकर स्वतंत्र रूप में निर्मित करने का लक्ष्य रखता है। स्त्री की व्यक्ति के रूप में अस्मिता को स्थापित करना, उसकी संवेदनाओं, भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति देना स्त्री-साहित्य का बुनियादी दायित्व है। साथ ही इसकी पहली जिम्मेदारी यह है कि वह स्त्री की चेतना का विकास करे, उन्हें समुन्नत बनाए, उन्हें बोलने और लिखने को प्रेरित करे। साथ ही उसकी राजनीतिक चेतना को भी समुन्नत करे। मेरी समझ से यही वह बिंदु है जहां से स्त्री का हस्तक्षेप शुरू होता है। स्त्री की बोलने एवं लिखने से पितृसत्तात्मक व्यवस्था कमजोर होती है। इसीलिए स्त्री के मौखिक साहित्य और लिखित साहित्य दोनों का ही समान महत्व है।

लेखन के क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी भले ही बाद में हुई हो किन्तु उनकी सृजनशीलता अत्यंत प्राचीन है। जब वे साक्षर नहीं थीं तब मौखिक रूप से उनकी रचनाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती थीं। उदाहरण के रूप में लोकगीतों को देखा जा सकता है। इसके साथ ही आधुनिक हिंदी साहित्य में पिछले तीन-चार दशकों से स्त्री लेखन में ज्यादा उभार आया है किन्तु यह कड़ी महादेवी वर्मा के लेखन से ही शुरू हो गई थी। आज भी जब स्त्री-लेखन में स्त्री जीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ी बातों, स्त्री-पुरुष संबंधों की तलाश की जाती है तो महादेवी वर्मा की रचना 'कड़ियां की श्रंखला' नामक निबंध संग्रह का उल्लेख सबसे पहले किया जाता है। स्वातंत्रयोत्तर कालखंड में कई स्त्री रचनाकारों ने उपन्यास साहित्य में भी अपना योगदान दिया है। उनमें से प्रभा खेतान, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंबदा और मन्नू भण्डारी आदि जैसी तमाम लेखिकाओं को देखा जा सकता है

यही कारण है कि 21वीं सदी के स्त्री-उपन्यास हिंदी साहित्य के केन्द्र में आये। 'स्त्री-मुक्ति' के विविध आयामों के साथ ये उपन्यास स्त्री जीवन के नये अर्थों की तलाश करते हैं। इन्हें पुरुष के साथ बराबर का अधिकार चाहिए। इसलिए पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती इन उपन्यासों की नायिकाएं जीवन को खंडित नहीं सम्पूर्णता में स्वीकार करती हैं। इनमें स्वप्न देखने की शक्ति है तो उसे पूरा करने का माद्दा भी तथा साथ में संघर्ष और सृजन भी। चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलिश्री, मधु कांकरिया, अलका सरावगी, और अनामिका, कमल कुमार, शरद सिंह आदि स्त्री-मुक्ति की महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इसी तरह 21वीं सदी के उपन्यासों की भी हमें एक लंबी फेहरिस्त दिखाई देती है जैसे – 'दस द्वारे का पींजरा', 'अवान्तर कथा', 'तिनका तिनके पास' 'विजन' और 'शेष कादम्बरी' आदि-आदि।

यह जगजाहिर है कि अनामिका हिंदी की बहुचर्चित उपन्याकार, कवियत्री और आलोचक के रूप में जानी जाती हैं। इनका उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' सन् 2008 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में नये तरह के प्रयोगों के चलते अनामिका जी को कई पुरस्कार भी मिले हैं। एक स्त्री की नजर से पूरे समाज को परखने और जानने-समझने की उनकी अपनी तड़प है। इसीलिए 'दस द्वारे का पींजरा' स्त्री-मुक्ति के अनकहे मद्दों के साथ जोड़कर नई व्याख्या की मांग करता है। और स्त्री-मुक्ति के बारे में अनामिका की राय बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है कि इस दुनिया में स्त्री की मुक्ति खोजना आकाश और

धरती के सांस्कृतिक पुल बनाने से कम मुश्किल नहीं है। लेकिय उनको पता है कि यह काम किए बगैर दस द्वारे के इस पिंजरे में रहने वाले सुंदर पंछी खुले गगन में उड़ने के लिए तैयार भी नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने अपने इस उपन्यास में स्त्री-आन्दोलन को प्रमुखता दी है। यह उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है। इसके पहले खण्ड में पंडिता रमाबई तथा दूसरे खंड में ढेलाबाई के जीवन संघर्ष की कहानी कही गई है, जो एक तरह से स्त्री-विमर्श की परत-दर-परत खोलते हुए एक कोलॉज बनाता दिखाई पड़ता है।

इस उपन्यास में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों का लेखा-जोखा दो नायिकाओं रमाबाई और ढेलाबाई के माध्यम से सनातनी कुलीनता की चौखट को तोड़कर अपनी जगह बनाने की कोशिश करती हुई दिखाया गया है। पंडिता रमाबाई और ढेलाबाई स्त्री-मुक्ति आन्दोलन के साथ क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़कर अपना जीवन सार्थक बनाती हैं। लोहासिंह का ऐतिहासिक चरित्र है जो कथावाचक और सूत्रधार का किरदार निभाते हुए उपन्यास के सभी चरित्रों का परिचय कराते हैं।

भोजपुरी भाषा के विद्वान महेन्द्र गीतकार, संगीतकार थे। वह अक्सर ढेलाबाई के कोठे पर गीत गाया करते थे। उन्होंने ऐलान किया कि वह ढेलाबाई से शादी कर उसे अपनी पत्नी बनाकर अपने परिवार में रखेंगे। ढेलाबाई महेन्द्र मिश्र को चाहती थीं। ढेलाबाई ने संगीत कला-नृत्य की शिक्षा घर में ही ग्रहण की थी। बाबू हलवंत सहाय को ढेलाबाई अच्छी लगती थी और महेन्द्र मिश्र तथा हलवंत दोनों दोस्त होते हैं। इसीलिए महेन्द्र मिश्र धोखे से ढेलाबाई को अगवा कर हलवंत सहाय को सौंप देता है। ढेलाबाई न चाहते हुए भी हलवंत सहाय के साथ रहने पर मजबूर हो जाती है। घर की चाहरदीवारी में उसे नारकीय जीवन जीना पड़ता है। और पति हलवंत सहाय उसे अतीत से निकलने नहीं देता है। रात-दिन अंग्रेज अफसरों के सामने नाच-गाना करना पड़ता है। पति के सामने ही अंग्रेज अफसर ढेलाबाई के साथ अश्लील हरकतें करते हैं तो पति सहाय खुश होता है। पति सहाय का यह व्यवहार ढेलाबाई को मन-ही-मन बहुत दुखी करता है। इधर महेन्द्र मिश्र को लगता था कि अब तक ढेलाबाई की जिंदगी में सबकुछ ठीक हो गया होगा लेकिन स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। पिंजरे मैं कैद ढेलाबाई हलवंत सहाय के साथ रहने के लिए अभिशप्त है इसलिए स्वयं को एक जिंदा लाश भर समझती है, लेकिन जीती जा रही है इस विश्वास से कि एक दिन इस नरक की जिंदगी से वह बाहर जरूर आएगी।

वहीं दूसरी तरफ उपन्यास में रमाबाई हैं जो रमाबाई अपने पिता की तरह साहसी, प्रगतिशील और निर्भीक थी। अकाल पड़ने से पिता अनंत शास्त्री और माता लक्ष्मीबाई की मृत्यु हो जाती है। रमाबाई अपने भाई को लेकर कलकत्ता पहुँचती हैं और वहाँ नवजारण आन्दोलन से जुड़ जाती है। बिहार की नीची जाति का युवक सदाव्रत रमाबाई के बचपन का साथी था। सदाव्रत इंग्लैंड से वकालत करता है। रमाबाई की नन्ही बेटी का नाम मनोरमा है। सदाव्रत की हत्या की जाती है। परिवार में रमाबाई और मनोरमा के अलावा कोई भी नहीं बचता। रमाबाई हार न मानते हुए अपने जीवन के साथ संपूर्ण स्त्री जीवन को ऊँचाई तक ले जाने की लगातार कोशिश करती रहीं। सामंतवादी पुरुषों के सामने चुनौती

बनकर खड़ी होती हैं। इसीलिए रमाबाई कहती हैं कि ''कब तक पुरुष स्त्री को सिर्फ एक मादा मानते रहेंगे।''[20] इस तरह अनामिका रमाबाई के माध्यम से स्त्री-मुक्ति की मांग करती हुई दिखाई देती हैं। वह स्त्री-मुक्ति से ही समाज में परिवर्तन लाना चाहती है। ''मुक्ति भी स्त्रीलिंग ही तो है। कभी अकेली नहीं मिलती। हरदम वह झुण्ड में ही हंसती-बोलती है। थेरियों का झुण्ड हो या जैन साध्वियों का, चिड़ियों और स्त्रियों के यह बृहत्तर सखा भाव रमाबाई को हमेशा ही आकर्षित करता है।''[21] द पब्लिक एजेंडा में नामवर सिंह कहते हैं कि '''दस द्वारे का पींजरा' इस उपन्यास के नाम में गहरा संदेश है। दस द्वारे का पिंजरा कबीर से लिया गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्म इन्द्रियां मिलकर शरीर के दस द्वार बनते हैं, जिसमें आत्मा बसती है। इस तरह स्त्री की मुक्ति केवल बुद्धि की मुक्ति नहीं होती, केवल हृदय की मुक्ति नहीं होती, बल्कि तमाम इन्द्रियों की मुक्ति भी होती है। देह भी बंधन है और उससे मुक्ति ही पूर्ण मुक्ति है।''[22] इस प्रकार 'दस द्वारे का पींजरा' स्त्री-मुक्ति, दलित-मुक्ति, वेश्या-मुक्ति की संघर्ष गाथा है। वैसे देखा जाय तो एक तरफ विदुषी स्त्री रमाबाई हैं दूसरी तरफ अनपढ़ वेश्या पुत्री ढेलाबाई हैं लेकिन दोनों का संघर्ष स्त्री-मुक्ति का ही है। अनामिका ने उपन्यास के अंत में दोनों पात्रों को एक ही काम के लिए प्रयास करते दिखाया है। इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण प्रयास मुझे जो दिखाई देता है वह ये है कि इन दोनो नायिकाओं का स्त्री-मुक्ति आन्दोलन से जुड़ना है।

अनामिका का एक और उपन्यास है 'तिनका तिनके पास' जो मुझे बहुत महत्वपूर्ण लगता है। इसमें भी पंडिता रमाबाई हैं, गृहिणी से राजनीतिज्ञ बनी अवन्तिका देवी हैं और वेश्या की बेटी और खुद भी वेश्या बनने को मजबूर तारा है। यह उपन्यास अपने अन्दर बहुत-सी तारीखों को, बहुत से स्थानों पर होता हुआ बहुत-सी कविताएं उद्धृत करता हुआ चलता है, कुछ बी.ए., एम.ए. के नोट्स की तरह। इन नोट्स में स्त्री देह का प्रश्न प्रमुख रूप से उभरकर आया है। पुरुष केवल स्त्री देह पर केन्द्रित है और स्त्री देह मुक्ति के लिए छटपटा रही है। अनामिका इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष के उस सम्बन्ध की गहरी पड़ताल करती हैं जो स्त्री और पुरुष के बीच खरबूजे और छूरी का रिश्ता कायम करते हैं। उपन्यास की नायिका तारा कितने तरह के जीवन जीती है इस औरत-मर्द के रिश्ते को कुछ ज्यादा ही देखा है उसने। इसलिए वह कहती है कि ''मैं नहीं चाहती थी प्रेम में पड़ना, प्रेम में पड़ना खटाई में पड़ने जैसा था। प्रेम शब्द से मुझको नफरत थी। वेश्यालय में जिसका बचपन बीता हो, कॉलगर्लगीरी करते-करते आधी जवानी – उसके लिए 'प्रेम' पीब-भरे एक चोटाह घाव का नाम ही है जिस पर 'सब धान बाइस पसेरी' वाली बाईस मक्खियां एक साथ फड़फड़ा रही हों।''[23] इसलिए इस खतरनाक दोस्ती से बचने के लिए वह नीमपागल शाहिद मियां का गर्भ धारण कर उस शहर से ही निकल लेती है। अनामिका के 'तिनका तिनके पास' का स्त्री-विमर्श निस्संदेह अधिक व्यापक और उदार है। और हाँ, साहसी भी।

वहीं मैत्रेयी पुष्पा का नवीनतम उपन्यास 'विजन' पुरुष सत्ता-संरचना में स्त्री की जिस अधोगति का वृत्तान्त रचता है, उससे यह भ्रम-निवारण हो जाता है कि अभिजात समाज की सभी स्त्रियां 'स्वयंवरा' हैं। स्वयंवरा होने की चाह में चहकती, डूबती डॉ. नेहा और डॉ. आभा किस तरह पुरुष-सत्ता द्वारा व्यक्तित्वविहीन कर दी जाती हैं, इस तथ्य का खुलासा मैत्रेयी पुष्पा ने चिकित्सीय पेशे की पृष्ठभूमि में

गहरी संलग्नता के साथ किया है। 'विजन' के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी ग्राम्य-यथार्थ की एकल छवि से मुक्त होकर वृहत्तर स्त्री-यथार्थ की रचनाकार के रूप में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करायी है। यहाँ यह तथ्य दृष्टव्य है कि जहाँ मैत्रेयी पुष्पा के ग्राम केन्द्रित उपन्यासों की मन्दा, सारंग, शीलो तथा अल्मा जैसी स्त्री पात्र अधिक स्वतन्त्र, निर्द्वंद्व तथा 'लिबरेटेड' है वहीं, 'विजन' की नेहा और आभा जैसी आत्मनिर्भर उच्च शिक्षित स्त्रियां पुरुष सत्ता-तंत्र की बंदी हैं। कारण यह कि ''पुरुष अपनी आजादी औरतों के लिए चाहते हैं, वे अपना अहं औरतों के दम पर सन्तुष्ट करना चाहते हैं।''[24]

'विजन' के माध्यम से लेखिका स्त्री-विमर्श से जुड़ी इस सर्व-स्वीकृत मान्यता को भी सवालों के घेरे में खड़ा कर देती है कि उच्च शिक्षा व आर्थिक स्वावलम्बन स्त्री-मुक्ति को सुनिश्चित करता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था किस षडयन्त्रकारी ढंग से स्त्री की शिक्षा-दीक्षा को भी अपनी हित-रक्षा के साधन में तब्दील कर लेता है, यह तथ्य अत्यन्त बेबाकी के साथ 'विजन' के कथ्य में विन्यस्त हुआ है। स्वयं से कमतर व अयोग्य डॉक्टर पति के कैरियर की सीढ़ी बनकर नेहा के हाथ लगता है बस यह सवाल कि ''अपने जीवन में मैं कहाँ हूँ।''[25] इसके अलावा एक और बात अच्छी हुई है कि अपने इस उपन्यास से मैत्रेयी पुष्पा स्त्री-मुक्ति को 'देह-मुक्ति' तक ही सीमित करने की अपनी उस रूढ़ि से मुक्त भी हुई हैं, जो 'चाक' तथा 'अल्मा कबूतरी' के स्त्री-विमर्श को एकायामी बनाता था। उन्होंने 'विजन' के माध्यम से पितृसत्ता के प्रत्याख्यान की जो विश्वस्त आधार भूमि तैयार की थी, वह उनके दृष्टि-विस्तार तथा परिपक्व स्त्री-विमर्श के प्रति आश्वस्त करता है।

इसके साथ ही अलका सरावगी ने अपने उपन्यासों में स्त्री –मुक्ति के प्रश्न को इतिहास, समाज और संस्कृति के वृहद फलक पर अभिव्यक्त किया है। उपनिवेशकालीन भारत, स्वातंत्र्य भारत और समकालीन उपभोक्तावाद-बाजारवाद के दायरे में स्त्री सवालों को सार्थकता से कथानकों में उकेरा गया है। 'कलिकथा : वाया बाईपास', 'शेष कादम्बरी' और 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास की कथा को इसी आलोक में देखा जा सकता है। 'शेष कादम्बरी' में स्त्री जीवन की समस्या को लेखिका कुछ ऐसी प्रश्नाकुलता से व्यक्त करती है जो स्त्री पक्ष के इतिहास, वर्तमान और भविष्य की चिंता से ग्रस्त है। अलका सरावगी लिखती हैं ''ऐ औरत तूने जब भी किसी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ बनाया है तो तुझे इसकी कीमत चुकानी पड़ी है लेकिन तूने इस अपने पैसे की जो कभी तुम्हारा नहीं था और न कभी तुम्हारे हाथ में था आखिर कितनी कीमत चुकाओगी।''[26]

इस प्रकार कहा सकता है कि 21वीं सदी के प्रारम्भ में उपन्यास क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी में बेहद तीव्रता आई है। आज मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी', नासिरा शर्मा का 'शाल्मली', मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप', 'वंशज', गीतांजलि श्री का 'तिरोहित', अल्का सरावगी का 'शेष काम्बरी', अनामिका का 'दस द्वारे का पींजरा', 'अवान्तर कथा', 'तिनका तिनके पास', आदि ऐसे अनेकों उपन्यास स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे गए जिसमें स्त्री समस्याओं, उनके शोषण तथा चेतना का संचार करने, पितृसत्तात्मक बर्ताव के खिलाफ संघर्षों को हमारे सामने गंभीर रूप से प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं। क्या

यह सच नहीं कि सदियों से आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री जाति से अमानवीय व्यवहार करती आयी वर्चस्वपूर्ण व्यवस्था तथा घोर विषमताओं पर खड़ी यह आधुनिक सभ्यता भी समय-समय पर स्त्री को स्त्री होने की सजा सुनाती रही है। यह व्यवस्था उसे हमेशा सती, सुहागिन, सीता-सावित्री, विधवा और वेश्या की कोटियों में खंड-खंड कर ही देखती आयी है। स्त्री लेखिकाओं के सामने यह चुनौती भरा सवाल कि यह वर्चस्ववादी पितृसत्तात्मक सोच आखिर कब उसे इंसान समझेगी। इस चुनौती के प्रति जद्दोजहद करती स्त्री के संघर्ष को सभी उपन्यासों में यथार्थपूर्ण तरीके से उकेरा गया है। इस तरह स्त्री-उपन्यासों कि एक सशक्त प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(4.3.2) दलित

दलित साहित्य के विकास पर चर्चा करने से पहले हमें दलित साहित्य क्या है ? इसके साथ ही यह सवाल भी जुड़ा हुआ है कि दलित साहित्यकार कौन हैं ? दलित साहित्य की वैचारिकी क्या है ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नों को जानना जरूरी हो जाता है। दलित वह है जिसे भारतीय समाज में अस्पृश्य माना गया है। जिसका 'दलन और दमन' हुआ है। जो जन्मना अछूत है, जिसे वर्ण-व्यवस्था ने अन्त्यज की श्रेणी में रखा गया हो। जो शोषित, वंचित, उत्पीड़ित, दलित और सभी प्रकार के मानवीय अधिकारों से महरूम किये गये हों। तो यही दलित शब्द साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थपूर्ण अभिव्यक्ति है।

दलित साहित्य क्या है इसे पर तमाम विद्वानों ने अपनी तरह से परिभाषित किया है मसलन कंवल भारती के शब्दों में ''वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।''[27] इसलिए जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को वाणी दी है। अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। इसके अलावा ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं ''दलित साहित्य की जितनी भी परिभाषाएं हैं, उनका एकमात्र स्वर है। सामाजिक परिवर्तन अम्बेडकरवादी विचार ही उसकी एकमात्र प्रेरणा है। बाबूराव बागूल के शब्दों में कहें, 'मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान मानने वाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।''[28] अत: कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का वैचारिक आधार है डॉ. अंबेडकर का जीवन-संघर्ष। साथ ही ज्योतिबा फुले तथा महात्मा बुद्ध का दर्शन ही उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। सभी दलित रचनाकार इस बिंदु पर एकमत हैं कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं लगातार संघर्ष कर सामंती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व के विरोध में उन्होंने आंदोलन खड़ा किया था। यही कारण है कि जहां एक तरफ दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फुले को अपना विशिष्ट विचारक माना है, वहीं दूसरी तरफ डॉ. अंबेडकर को अपना शक्तिपुंज स्वीकार किया है। वैसे भी अगर देखा जाय तो ज्योतिबा फूले ने प्रख्यात रचना गुलामगिरी तथा अपने नाटकों और 'पंवाड़ा काव्य' में पहली बार दलित वर्ग का दर्द यथार्थ रूप में व्यक्त किया है और डॉ. अम्बेडकर पहले भारतीय

इतिहासकार हैं जिन्होंने इतिहास में दलितों की उपस्थिति को रेखांकित किया है। उनको हक-अधिकार दिलाने के लिए उन्होंने लगातार संघर्ष किया।

मूलत: दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से लेना चाहिए, जो विशुद्ध अम्बेडकरवादी है और यह सही भी है। अम्बेडकर ने शिक्षित बनो ! संघर्ष करो ! संगठित हो ! की बात कही परन्तु कहीं भी हिंसा की बात नहीं की। इसलिए दलित-साहित्य नकार का साहित्य हो सकता है, अलगाव का नहीं। यह मुक्ति, समता और बंधुत्व की बात करता है। हिन्दी साहित्य के जगत में दलित साहित्य की उपस्थिति 80-90 के दशक से पत्र-पत्रिकाओं तथा आत्मकथाओं में शसक्त रूप में देखने को मिलती है। दलित रचनाकारों ने आत्मकथाओं के साथ-साथ कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि अन्य विधाओं में भी अपनी लेखनी चालाई है। जिसमें में उनका भोगा हुआ यथार्थ और इतिहासबोध तथा सामाजिकबोध सामने आया है। इसके अलावा दलित साहित्यकारों ने इस भेदभाव भरे समाज में जाति का सवाल भी उठाया है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक काल में उपन्यास विधा एक बहुपठित विधा मानी जाती है दलितों के जाति के इस सावल के साथ-साथ अन्य तमाम सवाल उपन्यास विधा में भी देखने को मिलते हैं। हिंदी दलित उपन्यास का मुख्य सरोकार अपनी संस्कृति, परंपरा और इतिहास में अपनी पहचान तथा अपनी अस्मिता की खोज करना जो समानता, बंधुता व स्वतंत्रता जैसे जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित मुक्तिकामी विमर्श है। हिंदी दलित उपन्यास पूरे के पूरे सामाजिक उपन्यास हैं लेकिन इन उपन्यासों का इतिहास एवं समाजबोध मुख्यधारा से बिल्कुल भिन्न है। यह मानवीय श्रम को ही सौंदर्य और व्यवस्था की अन्यायपूर्ण विसंगतियों से मुक्ति को ही अपना सामाजिक सरोकार तथा अपनी सामाजिकता मानता है उसके केन्द्र में केवल और केवल मनुष्य व मनुष्यता है। इस संदर्भ में रूपनारायण सोनकर के उपन्यास 'डंक', 'सूअरदान' तथा मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास 'महानायक बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर' को देखा जा ककता है।

'डंक' रूपनारायण सोनकर का पहला उपन्यास है। चर्चित और प्रयोगधर्मी उपन्यास 'डंक' का प्रकाशन 2010 में हुआ है। उपन्यास में वर्णित कई घटनाक्रम परंपराओं से जुड़कर भी उसमें बंधे नहीं हैं बल्कि उपन्यासकार उन्हें नये विकासमान अर्थ संदर्भों में बखूबी रूपायित और व्याख्यायित करता चलता है। और ठीक इसी बिंदु पर यह कथानक लीक से हटकर कुछ नया करने, सोचने और समझने को विवश करता है। रूपनारायाण सोनकर ने 'डंक' उपन्यास में विविध आयामी जीवन क्षेत्रों की पृष्ठभूमि और कई ज्वलंत सवालों का जैसे- सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, पारिवारिक के साथ स्त्री, आदिवासी, अमीर, गरीब, मजदूर, फिल्म, सेक्स, पर्यावरण आदि का भी चित्रण किया है। उपन्यासकार ने उपन्यास में न केवल सवाल उठाए हैं बल्कि उसका उत्तर भी देने की कोशिश की है।

उपन्यासकार ने उपन्यास में सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था का वर्णन सटीक ढंग से किया है। इसके साथ ही भारतीय समाज आज 21वीं सदी में भी ऊँच-नीच, जात-पाँत, छुआ-छूत, अंधविश्वास से मुक्त नहीं हो पाया है। आज भी समाज में यह बेड़ियाँ मजबूती से दिखाई देती हैं। आदिवासियों व दलितों

को अंधविश्वास का शिकार होना पड़ता है। प्रस्तुत उपन्यास में उत्तर प्रदेश की बिंदकी कस्बा की एक घटना का अंकन हमारा ध्यान खींचती है। जब रिंद नदी पर पुल बनाने से पूर्व पंद्रह लोगों की बलि चढ़ाने को पुरोहितों ने राजा फतेहचंद से कहा। बलि चढ़ाये गये लोगों में सारे के सारे दलित व पिछड़ी जाति के ही होते हैं। आजादी के 70 साल बाद भी ऐसी घटनाएं बहुत चिंता जनक हैं। उपन्यास लिखता है कि सामाजिक कुरीतियाँ सुनामी लहरों से भी ज्यादा भयंकर होती हैं। उदाहरण के रूप में हम यह घटना देख सकते हैं कि ''एक वृद्ध दलित महिला भूख से तड़प-तड़पकर मर जाती है। यदि उसे समय से राहत सामग्री मिल गयी होती तो उसकी जान बचायी जा सकती थी। सुनामी लहरें तो उसे नहीं निगल पायी थीं लेकिन जातिवाद की भयंकर सुनामी लहरों ने उसे निगल लिया था।''[29] इस तरह भारतीय समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था एवं रूढ़ियों पर उपन्यासकार बार-बार प्रहार करता है कि यह किस तरह से समाज को डस रही है और उसके डंक से किस तरह लोग छटपटा रहे हैं। बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा को जातिप्रथा का जहर लग जाता है, जहाँ दलित अपनी जान गंवा देते हैं। लेकिन साथ ही रोशनी की एक किरण भी वहाँ दिखाई देती है जब उपन्यास में एक पात्र यह कहती है कि ''ये लोग हमें कभी भी इस झरने से पानी नहीं भरने देती हैं। आज से और अभी से इस झरने से पानी भरेंगी।''[30] इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में कुछ ऐसी समस्याओं का वर्णन है जो सरकार की नीतियों के अनुसार समाप्त कर दी गयी हैं पर वे आज भी समाज को डंक मार रही हैं जैसे – अशिक्षा, दहेज-प्रथा, भ्रूण हत्या, सती प्रथा आदि। कुल मिलाकर उपन्यासकार ने उपन्यास में आज के भेद-भावपूर्ण समाज और समस्याओं का यथार्थ रूप में अंकन किया है।

दलित और तथाकथित सवर्ण समाज की कुछ मान्यताएं परस्पर विरोधी हैं। सभ्य समाज के लिए जो हेय है, दलति समाज के लिए वह श्रेय भी हो सकता है। सभ्य समाज के लिए सबसे घृणित और अछूत जानवर है – सूअर, लेकिन दलित-भंगी समाज में उसका बहुत महत्व है। सूअर की महत्ता को स्थापित करने के लिए रूपनारायण सोनकर ने 'सूअरदान' उपन्यास भी लिखा है, जो 2010 में प्रकाशित हुआ। दलित विमर्श में जब सूअर का जिक्र आता है, तो मेरे जेहन में बाबा नागार्जुन की कविता 'पैने दांतों वाली' कौंध जाती है। महाकवि की निगाह में 'यह तो मादरे हिंद की बेटी' है। इस कविता में सूअर शेरनी है। रूपनारायण सोनकर के पास अमानवीय समाज है और उस अमानवीयताओं को काटने के लिए सोच की पैनी कलम। उपन्यासकार ने अपने अंदर और बाहर के यथार्थ को जिस तरह समेटा है उसमें विकृत व्यवस्था, भ्रष्ट तंत्र, विकलांग लोकतंत्र और अमानवीय समाज के त्रासद विवरण मौजूद हैं, जो चमत्कृत नहीं करते बल्कि उदास और क्रोधित करते हैं। उपन्यासकार के 'सूअरदान' उपन्यास के पात्र रामचंद्र त्रिवेदी, सज्जन खटिक, घसीटे चमार और सलवंत यादव उत्तर प्रदेश के सिंहासन खेड़ा गांव में एक पिगरी फार्म खोलते हैं। ये चारों इंग्लैंड से उच्च तकनीकि शिक्षा प्राप्त हैं और गांव के विकास के लिए अपना जीवन अर्पण करते हैं। चारों मानवतावादी सोच के हैं तथा विश्व बंधुत्व में यकीन रखते हैं। दूसरी तरफ आपराधिक प्रवृत्ति का एक ग्राम प्रधान है जो अपने आतंक के बल पर गांव में राज करता है तथा अपना विरोध करने वाले लोगों का कत्ल करा देता है। वह अपंग है और व्हील चेयर पर चलता है।

पिगरी फार्म के पार्टनर अपने पिगरी फार्म में अमेरिका के वैज्ञानिकों की मदद से नये-नये वैज्ञानिक प्रयोग करते रहते हैं।

इस उपन्यास में सूअर और गाय के संगमन से एक नयी ब्रीड सूगाय उत्पन्न करते दिखाया गया है। यह एक हायब्रीड है। उपन्यासकार द्वारा मानव के प्रथम दो अक्षर-मान और जानव के दो अंतिम अक्षर-वर को मिलाकर मानवर संज्ञा गढ़ा गया है। हिंदी का यह दलित उपन्यास सामाजिक संरचना की तह में जाकर पूरे समाज की न केवल पड़ताल करता है बल्कि उसमें छुपी हुई विसंगतियों को उजागर कर उसके प्रतिकार और परिष्कार का भी प्रयत्न किया है। 'सूअरदान' उपन्यास में यह देख सकते हैं "आदमी जाति से नहीं बल्कि कर्म से बड़ा होता है। जातिवाद, ऊँच-नीच की भावना समाज में यह कोढ़ की तरह है। यदि इसका इलाज न किया गया तो पूरा समाज रोगी बन जायेगा।"[31] भारतीय संदर्भ में यह वर्ण-व्यवस्था का विरोध करके बराबरी के समाज के साथ-साथ मानव मात्र की गरिमा को स्थापित करना चाहता है। सामाजिक संकीर्णता और विसंगतियों से मानव मात्र को मुक्त करना तथा दलित पीड़ित मानवता को समानता व सम्मान दिलाना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इसलिए प्रथमत: और अंतत: भी इसके लक्ष्य और सरोकार सामाजिक बोध ही है।

दलित कहानियों की तुलना में दलित उपन्यासों की संख्या कम होने के बावजूद भी इनकी जड़ें काफी गहरी है। इनमें सामाजिक यथार्थ का सही मायने में सामने लाने की क्षमताएं मौजूद हैं। बहुचर्चित दलति चिंतक व साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय, 'महानायक बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर' के नाम से ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है, जो 2013 में प्रकाशित हुआ है। बाबा साहेब पर यह पहला उपन्यास है, जिसमें बाबा साहेब की जिंदगी को बड़े ही सहज व सरल शब्दों में पिरोया गया है, साथ ही उनसे जुड़ी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और शैक्षणिक सहित अन्य पहलुओं पर तमाम बातों को ईमानदारी के साथ उपन्यासाकार ने रेखांकित करने की कोशिश करते हुए दलितों की मुक्ति की कामना की है। यह उपन्यास अपनी परिधि में दलित संवेदना तथा अस्मिता को समेटे हुए है। वैसे बाबा साहेब किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं, ऐसे में थोडी देर से आया यह उपन्यास हमें चौंकाता जरूर है। उपन्यासकार का यह दावा है कि बाबा साहेब के बारे में कई ऐसे अनछुए पहलू हैं जिसे लोग नहीं जानते हैं। लेखक ने उपन्यास की शुरूआत उस जीवन संघर्ष से की है, जिससे आज भी दलितों को झेलना पड़ता है। और वह है उनका दलित होना। पढ़े-लिखे आम्बेडकर जब बड़ौदा रियासत में नौकरी की शुरूआत के लिए आये और एक पारसी के सराय में ठहरे तो, उन्हें दलित होने का एहसास कराते हुए लोगों ने सराय को तुरंत खाली करने का फरमान सुना दिया। विदेश में पढ़कर आने के बावजूद उनके साथ जो व्यवहार समाज ने किया उससे उनकी आत्मा रो पड़ी लेकिन बाबा साहेब ने हार नहीं मानी और संघर्ष जारी रखा। उपन्यासकार ने बाबा साहेब के जीवन संघर्ष को कहानी की तरह प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में सशक्तता के साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दलित जीवन उभरकर सामने आया है जिसका मुख्य उद्देश्य है दलितों की सामाजिक मुक्ति।

दलित उपन्यासों में मात्र अपनी व्यथा की कहानी कहने वाला साहित्य ही नहीं नजर आता है बल्कि वह मनुवादी व्यवस्था व सवर्णों के व्यवहार मे छिपे वर्ण संस्कार का खुलासा भी करता है। डॉ. हरिनारायण ठाकुर इस संदर्भ में लिखते हैं ''दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तरह दलित उपन्यासों में भी नकार और विरोध का समाजशास्त्र सक्रिय है। इसके केन्द्र में परिवर्तन की चेतना है।''[32] इस तरह दलित उपन्यासों में शैक्षणिक शोषण, आर्थिक शोषण, धार्मिक बहिष्कारों, सांस्कृतिक कूपमंडूकता तथा भारतीय गांवों में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था और सांमती व्यवस्था में पिसते दलितों की हाहाकार है। वहीं छोटे शहरों, महानगरों में बसे तथा सरकारी नैकरियों से जीवन-निर्वाह करते अधिकारियों, क्लर्कों की व्यथाएं तो हैं ही, साथ ही दलितों में उभरते आक्रोश, विरोध और संघर्ष की तीव्र चेतना भी देखने को मिलती है जो समाज में परिवर्तन और समानता लाने की कोशिश है। दलित उपन्यास भारतीय समाज में समता व स्वतंत्रता के पक्षधर है। मनुष्य की अस्मिता एवं सम्मान को सर्वोपरि मानता है। भारतीय समाज व्यवस्था को दलितों की विपन्नता, निरक्षरता, सामाजिक उत्पीड़न, विद्वेष, हीनताबोध, गरीबी, दुख का कारण मानता है, क्योंकि भारतीय समाज व्यवस्था ने दलितों पर केवल अस्पृष्यता ही नहीं लागू की बल्कि उन पर कड़े और कठोर दंड भी लागू किए जिसे धर्म, सत्ता और साहित्य ने अपना समर्थन दिया। हिंदी दलित उपन्यास इस सामाजिक संरचना की तह में जाकर पड़ताल ही नहीं करते बल्कि उसमें निहित विसंगतियों को उजागर कर, उनका विरोध और परिष्कार की भी कोशिश करते हैं। अत: कहा जा सकता है कि दलित उपन्यासों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर जीवन में व्याप्त देवदासी प्रथा, जोगता प्रथा, अंधविश्वास, रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, मद्यपान की लत, अश्लीलता, अस्मिता और भटकाव, शैक्षणिक भेदभाव, दलित आरक्षण, दलित चेतना और दलित संघर्ष जैसे मुद्दे उभरकर सामने आये हैं। इन उपन्यासों में दलितों पर हुए सदियों का संताप है तो उससे लड़ाई लड़ने का संघर्ष भी। ये उपन्यास दलितों में चेतना भरने में भी सफल दिखाई देते हैं। इस प्रकार दलित उपन्यासों की एक सशक्त एवं लम्बी प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(4.3.3) आदिवासी

यह जगजाहिर है कि मुक्तिकामी साहित्य की अपनी एक वैचारिकी भी होती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए अगर बात करें आदिवासी साहित्य की वैचारिकी की तो सवाल उठता है कि क्या जिस तरह से डॉ. भीमराव अंबेडकर का दर्शन दलित साहित्य के मूल में है, उसी तरह से आदिवासी साहित्य के भी कोई विचार पुरुष हैं ? वैसे तो आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है, लेकिन आदिवासी दर्शन को समझने के लिए सुविधा की दृष्टि से अंबेडकर के बरक्स किसी पुरुष को खड़ा करना हो तो वे हैं जयपाल सिंह मुंडा। हंलाकि इन पर अभी बहुत कम काम हुआ है। जयपाल सिंह मुंडा के चिंतन के मूल में भी आदिवासी दर्शन ही देखने को मिलता है। बाद के चिंतकों में रामदयाल मुंडा और हैराल्ड एस. तोपनो का नाम प्रमुख है। यह दिलचस्प है कि रामदयाल मुंडा का चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर ही आधारित है। डॉ. रामदयाल मुंडा ने आदिवासियों की संस्थाओं को हिंदुओं की आस्था से पृथक करने के लिए 'आदि धरम' नाम से एक पुस्तक लिखी है। वहीं हैराल्ड एस. तोपनो एक सजग पत्रकार और

एक्टिविस्ट थे। इनके लेखों का संकलन अश्विनी कुमार पंकज ने 'उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष' शीर्षक से संपादित किया है। पंकज ने इन्हें 'हिंदी का पहला आदिवासी विमर्शकार' कहा है।

अब बात करें आदिवासी दर्शन की तो यह व्यक्ति केन्द्रित विचार और विचार-पद्धति में विश्वास नहीं करता। इसलिए वहाँ 'वाद' जैसा कुछ भी नहीं है। हाँ, पुरखे हैं और उनका चिंतन भी है जिसके प्रति आदिवासी समाज और उसके साहित्यकारों का कृतज्ञता का भाव है। उपर्युक्त तमाम चिंतकों का लेखन और चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है, यानी आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य के मूल में है। आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला-माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रहे बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। आदिवासी समाज उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरतभर ही जीचें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा भी करता आया है।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है – जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुन्दर नहीं है, साथ ही आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ भी है। जब पूरी दुनिया एक संस्कृति, एक भाषा की ओर बढ़ती जा रही है तब आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषायी और सांस्कृतिक विविधता के साथ खड़ा दिखाई पड़ता है। आदिवासी साहित्य भी आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में है। आदिवासी साहित्य हिंदू मिथकों के डिकोडीकरण का कार्य कर रहा है। यह हिंदू मिथकों में वर्णित आदिवासियों की खलनायकत्व की छवि पर सवाल भी उठाता है। इन सबके साथ ही आदिवासी साहित्य वर्तमान में आदिवासियों के समक्ष उपस्थित समस्याओं से भी रुबरु कराता है, जैसे – विस्थापन की समस्या, आर्थिक शोषण की समस्या, बाहरी दखल से उत्पन्न समस्याएं, आदिवासी स्त्रियों के सवाल आदि। गंगा सहाय मीणा इस संदर्भ में लिखते हैं कि ''आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है, जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।''[33] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समकालीन आदिवासी लेखन अपनी पुरखा परंपरा और बाहरी समाज तथा साहित्य से संवाद कर सृजन के क्षेत्र में नए प्रयोग करता हुआ आदिवासी जीवन और दर्शन की अभिव्यक्ति कर अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा रहा है। यह उपस्थिति कविता, कहानी, आलोचना, दर्शन, उपन्यास आदि क्षेत्रों में देखी जा सकती है। इस तरह यह स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य का सहगामी है तो कई मामलों में यह उनसे अलग भी।

उपन्यास एक पाश्चात्य विधा है, लेकिन जब से आदिवासियों ने अपनी भाषओं के साथ हिंदी में लिखना शुरू किया है, उपन्यास के क्षेत्र में भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। 21वीं सदी के वाल्टर भेंगरा के 'लौटते हुए', 'शान की सुबह', 'तलाश' आदि कई उपन्यास हैं। हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' हिंदी पाठकों के बीच कई वजहों से लोकप्रिय हुआ है। मंगल सिंह मुंडा का 'छैला संदु' और अजय कंडुलाना का 'बड़े सपनों की उड़ान' भी आदिवासी उपन्यासों की सूची में हैं।

मंगल सिंह मुंडा का 'छैला सन्दु' झारखण्ड के प्रसिद्ध दशम जलप्रपात से जुड़ी एक मशहूर प्रेम कहानी को आधार बनाकर लिखा गया है, जो 2004 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। नदी जब भरी होती है तो जलप्रपात से सैकड़ों मांदर-नगाड़ों की सामूहिक आवाज पूरी घाटी में सुनी जा सकती है। गाँव के युवक लता के सहारे नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँच जाते हैं और उनमें सबसे खास होता है कथानायक सन्दु, जो अपनी प्रेमिका से मिलने रोजाना उस पार जाया करता था। एक बार उमड़ती नदी के जलप्रपात के ऊपर से सन्दु के लताओं के सहारे कूदने पर लताओं के अचानक टूट जाने से सन्दु की मृत्यु हो जाती है। कहते हैं कि छैला सन्दु और बुन्दी के प्रेम की ध्वनि अब भी उस प्रपात पर सुनाई देती है। 'छैला सन्दु' उपन्यास में नायक छैला सन्दु के मिथकीय चरित्र की कथा बाल-लीला, प्रेमलीला और मृत्युलीला नामक तीन खंडों में अभिव्यक्त है। प्रकृति उपासक छैला सन्दु का व्यक्तित्व बहुआयामी है। साथ ही वह धार्मिक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति भी है। गीत-संगीत और वाद्य-यंत्रों में उसे महारत हासिल थी। ''अरे भाई उसे साधारण इंसान न समझो। वह कान्हा है कान्हा। जब से गांव आया है कुकुरमुत्ते की भांति उसकी गोपियां उग आने लंगी हैं। हांड़ी-पानी कहो या चूल्हा-चबूतरा सभी जगह औरतों की जुबान पर उसी के चर्चे चलते हैं। दूसरी आकृति ने फुसफुसाया।''[34] उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य प्रस्तुत कहानी के माध्यम से मुण्डा समाज की दशा और सांमतीय उत्पीड़न को दिखाना है। उपन्यास की विशेषता यह है कि यह आदिवासी लोक से निकलकर एक नए स्वरूप को ग्रहण करता है। छैला सन्दु और बुन्दी के प्रेम-प्रसंगों के माध्यम से पुरुषों की वर्चस्वता और स्त्री मन की व्यथा को भी एक नए आयाम के साथ प्रस्तुत किया गया है। कथाकार ने अंत में स्थानीय शब्दों की सूची और उनके हिंदी अर्थ भी दिये हैं। इस तरह एक प्रचलित कथा पर आधारित यह उपन्यास बहुत ही रोचक बन पड़ा है। लेखक का अस्पष्ट विजन और हिंदी साहित्य का उस पर प्रभाव उपन्यास को आदिवासी दर्शन से थोड़ा दूर ले जाता दिखाई पड़ता है।

सन् 2005 में प्रकाशित वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का उपन्यास 'लौटते हुए' आदिवासियों के अपने परिवेश से हो रहे विस्थापन की मार्मिक कहानी कहता है। आदिवासी लड़कियाँ किन परिस्थितियों में अपने गाँवों को छोड़ने को मजबूर होती हैं और शहरों में किस तरह की मुसीबतों का सामना करती हैं, इसका चित्रण उपन्यास में किया गया है। सलोमी उस बाहरी दुनिया से वापस अपनी आदिवासी दुनिया में लौटती है। उपन्यास में सलोमी और प्रकाश के बीच अंकुरित हो रहे प्रेम को भी चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त यह उपन्यास आदिवासियों के बीच व्याप्त अशिक्षा, गरीबी और नशाखोरी पर भी प्रकाश डालता है। महानगरों की ओर पलायन करने वाली लड़कियाँ अधिकतर 15 से 20 वर्ष की होती है।

इनमें ज्यादातर अनपढ़, कुछ प्राइमरी फेल और कुछ दसवीं फेल या पास भी होती हैं। दिल्ली में आया के रूप में काम करने वाली लड़कियों के साथ शारीरिक और मानसिक यातना के साथ-साथ यौन शोषण आम बात है। इन दोनों तरह की यातनाएं और यौनशोषण क्रमश: पत्नी और पति द्वारा ही किया जाता है। इस संदर्भ में उपन्यास का एक पात्र खन्ना साहब सलोमी से कहता है ''हमारे बीच जो संबंध बना है उसके बारे में मैडम अथवा किसी से कहना नहीं। अगर कुछ बात निकली तो मैं तुम पर चोरी का आरोप लगाकर तुम्हें पुलिस के हवाले कर दूँगा समझी। बिल्कुल चुप रहना।''[35] खन्ना की इन बातों से स्पष्ट होता है कि भोली-भाली आदिवासी युवतियों को डरा-धमकाकर बूढ़े मालिक अनवरत उनका यौन-शोषण करते हैं। उपन्यासकार लिखता है ''और शुरू हो गया था सालो की जिंदगी की घुटन का सिलसिला । खन्ना साहब ने सालों को बेबश बना दिया था, उस रात के बाद। सुबह सालो को बाहर से ताला बंद करके अपनी दुकान पर चले जाते और रात आने पर फिर अपनी मनमानी करने लगते।''[36] इस तरह उपन्यासकार ने यह बताया है कि किस तरह आदिवासी लड़कियाँ खन्ना सरीखे लोगों की हवस का शिकार बनती रहती हैं। और तो और कई लड़कियाँ तो पेट एवं गोद में उपहार स्वरूप बच्चे लिए अपने गाँव लौटती हैं। उनके भविष्य का क्या होता होगा यह बताने की जरूरत नहीं है। इसके अलावा वाल्टर भेंगरा तरुण ने 'सुबह की शाम' नाम से भी एक उपन्यास की रचना की है।

हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' 2008 में प्रकाशित हुआ। यह 1913 ई. के मानगढ़ नरसंहार की घटना को आधार बनाकर ऐतिहासिक साक्ष्यों की मदद से लिखा गया है । इसमें गोविंद गुरू को आदिवासियों के नेतृत्वकर्ता के रूप में उभरने, उसके द्वारा आदिवासी समाज में जागरुकता फैलाने के लिए किए गए उपक्रमों, अंग्रेजी सरकार और स्थानीय प्रशासकों द्वारा परेशान किए जाने और अंत में मानगढ़ के पहाड़ों पर आदिवासियों को घेरकर मारने तक की कथा विविध संदर्भों और साक्ष्यों के साथ वर्णित की गई है। पूरा उपन्यास साक्ष्यों और ऐतिहासिक ब्यौरों से भरा पड़ा है। गैर-आदिवासी गोविंद गुरु आदिवासियों को एकजुट जरूर करता है, लेकिन संघर्ष के लिए नहीं, सुधार के लिए। इस तरह धीरे-धीरे गोविंद गुरु के उपदेश पूरे मानगढ़ में लोकप्रिय हो जाते हैं। वह गाँव-गाँव में धूणियाँ बनाता है और उपदेश देता है। जिसके चलते सामंत गोविंद गुरु के प्रति कड़ी कार्यवाही करने के लिए निर्देश देते हैं। अंत में अंग्रेज सेना और स्थानीय सेनाएं आदिवासियों को चारों ओर से घेर लेती हैं और गोविंद गुरु आदिवासियों से हवन करने को कहता है। ऐतिहासिक साक्ष्य जो भी रहा हो, आदिवासी दर्शन की दृष्टि से यह उपन्यास कमजोर ही माना जाएगा। उपन्यास का महत्व यह है कि इसने मानगढ़ की विस्मृत हो रही ऐतिहासिक घटना की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

इस तरह हमें आदिवासी उपन्यासों की एक प्रवृत्ति तो दिखाई देती है लेकिन उपन्यास के क्षेत्र में आदिवासी लेखकों को और प्रयास करने की जरूरत है। हालांकि उन्होंने अपनी उपस्थिति दर्ज जरूर करा दी है। जो गैर-आदिवासी लेखकों से बहुत-कुछ अलग जान पड़ती है।

(4.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मिता –ट्रांसजेंडर

अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं में ट्रासंजेडर अस्मिता को देखा जा सकता है, जो समाज में कदम-कदम पर शोषण और उत्पीड़न का दंश झेलने को मजबूर है। यह सच है कि भारतीय समाज में एक दोहरापन है, जो सदियों से लिंग के आधार पर सामाजिक अधिकार तय करता आ रहा है। स्त्रीलिंग और पुल्लिंग को सामाजिक संरचना की धुरी माना जाता है। यह स्वाभाविक है क्योंकि यही तो सृजनकर्ता है, मानव जीवन के प्रवाह का। ये दोनों मिलकर ही जीवन का सृजन करते हैं तथा पीढ़ियों का निर्माण करते हैं, लेकिन इन दोनों लिंगों के इतर भी एक और लिंग है, जिसे समाज हिचकते हुए स्वीकार करता है। जहां तक भारतीय समाज का सवाल है तो उसने इस तीसरे लिंग को धर्म, आशीष और भय से जोड़ दिया, उसे सहज नहीं रहने दिया। एक विचित्र प्राणी की भांति उसे देखने की आदत डाल ली। एक ऐसा प्राणी जो दिखता तो मनुष्यों की तरह है, लेकिन उसे सामान्य मनुष्यों की तरह जीने का हक नहीं दिया गया। उससे उम्मीद की गई कि वह यदि घरों में आता है तो तालियां बजाते हुए आए। भड़कीले मेकअप से पुता रहे और दुआएं देकर जाए। फिर समाज ने एक भय भी पाला कि यदि वह नाराज हो गया तो बद्दुआएं देकर जाएगा, इसलिए उसे खुश रखा जाए। उसे खुश रखने के लिए, उससे दुआएं लेने के लिए उसे चंद रुपये पकड़ा दिए जाएं। यह परिपाटी भारतीय संस्कृति के उस विचार से मेल नहीं खाती, जिसमें प्रत्येक जीव के लिए अपन्तव और सद्व्यवहार की बात कही गई है। यह बेमेल विचार आज भी मौजूद है। सकारात्मक पक्ष यह है कि यदि विचार उस तीसरे मानवीय प्राणी को संघर्ष की प्रेरणा दे रहा है। जिसमें विचार है, संवेदना है, वह सदा-सदा के लिए शोषित अथवा उपेक्षित नहीं रह सकता है। एक न एक दिन वह सिर उठाता है, आगे बढ़ता है और समाज से अपना अधिकार मांगता है। एक और बहुत ही सकारात्मक तथ्य, जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि इस 'माइनॉरिटी जेंडर' ने अपने अधिकारों के पक्ष में आवाज उठाने के लिए 'एग्रिसिवनेस' का सहारा नहीं लिया। उन्होंने स्वयं को साबित करने का रास्ता चुना। यह रास्ता लम्बा जरूर है लेकिन उसे विश्वास है कि यह स्थायी परिणाम देने वाला सिद्ध होगा।

सारी दुनिया में ट्रांसजेंडर अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं। इस दिशा में ब्रिटेन में भी एक ऐतिहासिक घटना घटी। ब्रिटेन के आवासीय स्कूलों के बच्चों ने अपनी पहचान सुनिश्चित करने के लिए मांग की कि उन्हें पुरुष पहचान पर आधारित सम्बोधन 'ही' अथवा स्त्री पहचान पर आधारित 'शी' कहकर न पुकारा जाय बल्कि उन्हें 'जी' कहकर पुकारा जाय। यद्यपि भारतीय समाज में 'ट्रांसजेंडर' की स्थिति यूरोपीय देशों की तुलना में शोचनीय है। यहाँ भी इन्हें तमाम नामों से पुकारा जाता है जैसे – हिजड़ा, जीरो, छक्का आदि लेकिन अब धीरे-धीरे इनकी पहचान 'ट्रांसजेंडर' शब्द से बनने लगी है क्योंकि इस शब्द में न तो कोई उपेक्षित भाव है और नकारात्मकता। 'ट्रांसजेंडर' शब्द के संबोधन से इस समाज के लोग ज्यादा सहज भी महसूस करते हैं। इसलिए मैंने अंग्रेजी के इस शब्द 'ट्रांसजेंडर' को हू-ब-हू ले लिया है। पहचान के साथ-साथ इन्हें भी वे सारे हक-अधिकार मिलने चाहिए, जो एक स्त्री या पुरुष को मिलते हैं। अधिकारों के क्रम में सबसे पहला बिंदु है माता-पिता का प्रेम और

अपने परिवार में सामाजिक स्वीकृति। यह कितना कठिन होता होगा कि जब आप अपने माता-पिता के बारे में जानते हों, फिर भी आप उनके साथ संबंध न रख सकें और उनके पास न रह सकें, वह भी मात्र इसलिए कि आप मनुष्य के रूप में प्रकृति की एक अनूठी संरचना हैं। यह अनूठापन ही अभिशाप बन बैठता है और आप यूँ ही मुँह ताकते खड़े रह जाते हैं।

अमेरिकी फोटोग्राफर जिल पीटर्स ने भारतीय ट्रांसजेंडर्स का एक बहुत ही रोचक फोटोग्राफिक पोट्रेट बनाया है। इस पोट्रेट को बनाने के दौरान उनके अपने अनुभवों के बारे में लिखा भी है जिसे शरद सिंह ने उद्धृत किया है। शरद सिंह लिखती हैं ''दिल्ली में हिजड़ों को पहली बार देखने पर उन्हें इन लोगों से दूर रहने के लिए कहा गया था, लेकिन जब वे मुम्बई की यात्रा पर थीं, तो दोबारा उन्हें किन्नर दिखाई दिए। उन्होंने गली में घूम रहे एक किन्नर से उसकी फोटोज लेने के लिए कहा और वह मान गया। 'द थर्ड जेंडर आफ इंडिया' नाम की फोटो सीरीज शूट करने के दौरान जिल को अहसास हुआ कि किन्नर असल में 'गॉड गिफ्टेड' हैं और भारत में उन्हें हीन भावना से देखा जाता है। यही वजह है कि जिल ने उन्हें महिला मानते हुए यह फोटोशूट किया। जिल पीटर्स ने सवाल उठाते हुए कहा कि भारत में मान्यता है कि 'हिजड़ों की दुआएं लगती हैं। जब वे शादी या बच्चे के जन्म पर घरों में नाचते हैं तो 'गुड लक' आता है और 'फर्टीलिटी' भी बढ़ती है तो फिर इन्हें हाशिए पर क्यों रखा गया है ? जिल ने यह भी रेखांकित किया कि किन्नर आमतौर पर बेरोजगार ही होते हैं, इसलिए अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए उन्हें भीख मांगने और प्रॉस्टीट्यूशन का सहारा लेना पड़ता है।''[37] जबकि कमला जान, शबनम मौसी, आशा देवी, कमला किन्नर और मधु किन्नर आदि वे नाम हैं, जिन्होंने चुनाव में बहुमत से विजय प्राप्त कर के विधायक और महापौर तक के पद संभाले हैं। देश की पहली किन्नर प्राचार्य मानबी बंदोपाध्याय और पहली किन्नर वकील तमिलनाडु की सत्य श्री शर्मिला ने सिद्ध कर दिया कि किन्नर अथवा 'ट्रांसजेंडर' किसी भी विद्वत स्त्री-पुरुष की भांति बुद्धिजीवी वर्ग की किसी भी ऊँचाई को छू सकते हैं। किन्नर लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने अपनी आत्मकथा लिखी, 'मैं हिजड़ा, मैं लक्ष्मी'।

यह अस्मिता की लड़ाई है, जो 'ट्रांसजेंडर के द्वारा लड़ी जा रही है। सर्वमान्य पहचान की स्थापना की लड़ाई है। दिनांक 15 अप्रैल, 2014 को एक विजय मिली, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन और न्यायमूर्ति ए. के. सीकर ने तीसरे जेंडर को मान्यता देते हुए किन्नरों के हक में ऐतिहासिक फैसला दिया। 'थर्ड जेंडर' के रूप में कानूनी स्वीकृति मिलने पर किन्नर अधिकारों की कार्यकर्ता लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने प्रसन्नता तो प्रकट की, लेकिन साथ में इसे एक शुरूआत कहा था। लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने कहा था कि ''हम कोर्ट के इस एक फैसले से खुश हैं, क्योंकि कोर्ट ने हमें भी महिला-पुरुषों की तरह अधिकार दिए हैं, लेकिन इस तीसरे लैंगिक समूह को समानता और बराबरी के लिए अभी भी एक लम्बा रास्ता तय करना है।''[38] इस तरह 2014 में ट्रांसजेंडर समुदाय को लेकर ले ही एक ऐतिहासिक फैसला आया हो, लेकिन इसकी शुरूआत पहले ही हो चुकी थी। विजेन्द्र प्रताप सिंह इस पर टिप्पणी करते हैं कि ''हिजड़ों की अस्मिता की लड़ाई में सबसे सकारात्मक मोड़ तब आया, जब नवम्बर, 2009 से चुनाव आयोग इन्हें अन्य की श्रेणी में शामिल कर मतदाता पहचान पत्र दे रहा है और

उसी के फलस्वरूप 28341 तृतीय लिंगी व्यक्ति मतदाता के रूप में पंजीकृत हैं।''[39] उल्लेखनीय है कि भारत में जनगणना की शुरूआत सन् 1872 ई. से हुई, जबकि नियमित दशकीय गणना सन् 1981 ई. से लेकिन किन्नर समुदाय की जमसंख्या पर इस दृष्टि से कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया, बल्कि उन्हें अपराधी जाति के रूप में चिन्हित किया गया। इस संदर्भ में हाल ही में कुछ सकारात्मक कोशिशें हुई हैं। जहां तक इस समुदाय की जनसंख्या की बात है तो सन् 2011 ई. में इनकी संख्या लगभग पाँच लाख थी ।

हिंदी साहित्य में 'ट्रांसजेंडर' के सवाल ने देर से ही सही लेकिन जोरदार पहल की है । 'ट्रांसजेंडर' के जीवन तथा मनोदशा पर कहानियां, कविताएं, उपन्यास और लेख लिखे जाने लगे। आज 'ट्रांसजेंडर' एक साहित्यिक विमर्श के रूप में हमारे सामने है, लेकिन इस विमर्श को खड़े होने में लगभग डेढ़ दशक से भी ज्यादा समय लग गया। सन् 2002 में नीरजा माधव का उपन्यास आया 'यमदीप', जो ट्रांसजेंडर के जीवन पर केन्द्रित था। इस उपन्यास को अपने पहले दौर में उतना ध्यानाकर्षण नहीं मिला, जितना कि दूसरे दौर में मिला। 21वीं सदी के पहले दशक के आरम्भ में 'ट्रांसजेंडर' विमर्श बनने को लेकर हिंदी साहित्य में एक संशय का वातावरण था लेकिन आज इसे स्वीकारोक्ति मिल गई है। इसके बाद महेन्द्र भीष्म ने किन्नरों के जीवन को बेहद गंभीरता से लिया और सन् 2011 में इस विषय पर उनका उपन्यास 'किन्नर कथा' प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में निर्मला भुराड़िया का 'गुलाम मंडी' सन् 2014 में और वरिष्ठ लेखिका चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 – नाला सोपारा' सन् 2016 में प्रकाशित हुआ। साथ ही अन्य उल्लेखनीय उपन्यासों में से प्रदीप सौरभ का 'तीसरी ताली' का भी नाम लिया जा सकता है।

अब अगर हम चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' को देखें तो पाते हैं कि किन्नरों के पैदा होते ही उनके माँ-बाप उन्हें त्याग देते हैं या घर से निकाल देते हैं या फिर उन्हें अन्य किन्नरों को सौंप देते हैं। सामान्य समाज में यही प्रक्रिया प्रचलित है। पैदा होते ही ट्रांसजेंडर को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती है। कुछ मामलों में आत्मीयता जीवित रह जाती है । ऐसी हालत में ट्रांसजेंडर के रूप में जन्मे बच्चे के प्राण तो बच जाते हैं, लेकिन तब भी उसे परिवार के साथ रहने का सुख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उसे जन्म के बाद ट्रांसजेंडर समुदाय के पास या तो स्वयं छोड़ दिया जाता है या फिर ट्रांसजेंडर समाज जबरन उसे अपने समुदाय में शामिल करने के लिए ले जाते हैं। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' के नायक विनोद की स्थिति ऐसी ही है। उसकी माँ उसके ट्रांसजेंडर होने के बावजूद उसे अपनी अन्य संतानों की भांति ही प्रेम करती है लेकिन पिता के लिए वह चिंता का विषय है। विनोद का भाई भी उससे घृणा करता है। उसकी मां के अलावा सब उसे अपने समाज में नहीं रहने देना चाहते। इसलिए वे बहुत नृशंसता से विनोद को किन्नरों के हवाले कर देते हैं। विनोद की इस वेदना को पत्र के माध्यम से चित्रा मुद्गल ने अभिव्यक्ति दी है ''मेरी पकड़ तेरी मुट्ठी पर ढीली होते ही तेरे मोटाभाई ने तुझे अपने बाजुओं में दबोच फौरन तुझे चंपाबाई के हवाले कर दिया था।''[40] माँ के न चाहते हुए भी विनोद को ट्रांसजेंडर समाज में भेज दिया जाता है क्योंकि उसके परिवार का मानना है कि यदि

विनोद परिवार में रहेगा तो उन सभी का समाज में आना-जाना कठिन हो जाएगा। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाने के लिए विनोद जैसे तमाम बच्चों को नरक जैसा जीवनयापन करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। इस तरह चित्रा मुद्गल ने अपने उपन्यास में ट्रांसजेंडर समाज की समस्याओं को केन्द्र में रखकर उनकी करुण कहानी कही है।

दूसरी तरफ निर्मला भुराड़िया ने भी इस वर्ग को केन्द्र में रखकर 'गुलाम मंडी' उपन्यास लिखा है। इसमें उन्होंने ट्रांसजेंडर प्रति सामाजिक तिरस्कार को निश्चित तौर पर अत्यंत दुखदायी बताया है। ट्रांसजेंडर बच्चे पैदा होते ही अपनी शारीरिक अक्षमता के कारण सामान्य समाज से बाहर फेंक दिए जाते हैं। उनके जीवन का यह सबसे बड़ा यथार्थ है। इस यथार्थ को निर्मला भुराड़िया का उपन्यास 'गुलाम मंडी' में भी चित्रित किया गया है। वह लिखती हैं ''अरी अनारकली, मैं तो तेरे ही वास्ते बोल रही थी। धतूरे के बीज खाके बोल लेती, आज तो मन के सब भलभले निकल जाते। अरी बोल ले वृंदा गुरु नहीं मिलती तो तेरे को सुअर-कुत्ते ही खा जाते। तेरी ने तो सुअर-कुत्तों को तेरा प्रसाद चढ़ा ही दिया था।' अनारकली बिदकी, 'अब क्या बार-बार मेरे मुँह से सुनेगी हरामजादी कि मेरे को मेरी माँ ही फेंक गई होगी घूरे पर, जब मूतने की जगह कोरा छेद देखा होगा तो।''[41] और तो और इस वर्ग से जुड़े मनुष्य की उपेक्षा का आलम यह है कि एक सामान्य मनुष्य में भी यदि कुछ कमी हो तो उसे हिजड़ा कहकर संबोधित किया जाता है। डॉ. शरद सिंह के अनुसार ''आज भी मुख्यधारा के समाज में किसी व्यक्ति के साहस या उसकी वीरता, पौरुष अथवा मर्दानगी पर सवाल लगाना होता है तो उसे 'हिजड़ा' कहकर दुत्कारा जाता है, यानी मुख्य यौनधारा के बहुसंख्यक पुल्लिंगी और स्त्रीलिंगी लोगों के लिए 'हिजड़ा' शब्द एक भद्दी गाली की तरह है। गर्भावस्था की गड़बड़ी के कारण पैदा होने वाले एक खास तरह की लैंगिक स्थिति वाले लाखों हिजड़ों के बारे में मुख्यधारा की लैंगिक स्थिति वाले स्त्रियों और पुरुषों की यह नकारात्मक धारणा लैंगिक वर्चस्व का नमूना है।''[42]

इसके अलावा निर्मला भुराड़िया ने अपने उपन्यास में एक और चुनौती का भी चित्रण किया है। ट्रांसजेंडर के शारीरिक बनावट में उनका जेंडर स्पष्ट न होने कारण वह और भी कई चुनौतियों से जूझते हैं जैसे – इसमें उस तरह के लोग भी होते हैं, जिन्होंने देह स्त्री की पाई होती है, पर रुझान पुरुष का या फिर जिन्होंने देह पुरुष की पाई होती है पर मन स्त्री का। ऐसे लोग अपनी देह में रहकर तड़पते हैं। देह उनके लिए एक पिंजरा, एक कैद हो जाती है, यानी ये ट्रांस-मैन अथवा ट्रांस-वुमेन होते हैं। ऐसा ही एक पात्र 'गुलाम मंडी' में है रानी, जो घोर सामाजिक, शारीरिक और भावनात्मक यंत्रणा से गुजरती है वह पैदा एक लड़के के रूप में हुई है, पर मन से लड़की है। श्मशान की अमावस वाली रात में अपनी कहानी ऐसे शुरू करती है कि 'मेरा नाम रानी नहीं राजा था।' रानी ने शुरआत इस वाक्य से की तो यह बात पहले से मालूम होते हुए भी सब ट्रांसजेंडर हँस पड़ते हैं। शायद बात की विडम्बना पर। दैहिक बनावट और अन्त:करण की भावनाओं में सामंजस्य न होने के कारण वे मानसिक वेदना तो सहते ही हैं साथ में कई बार दैहिक शोषण का शिकार भी हो जाती है।

इसके साथ ही नीरजा माधव ने 'ट्रांसजेंडर' पर आधारित उपन्यास 'यमदीप' लिखा है। इसमें उन्होंने ट्रांसजेंडर के शारीरिक विकृतियों की विडम्बनाओं के अलावा एक अन्य चुनौती को भी रेखांकित किया है, वह है आर्थिक विपन्नता। ट्रांसजेंडर समाज के लोग मंगलपर्वों और उत्सवों पर नाच-गाकर, तालियां पीटकर अपना जीविकोपार्जन करते हैं। क्योंकि भारतीय समाज में उनके लिए सरकारी नौकरी प्राप्त करने का कोई विशेष प्रावधान नहीं है। इसलिए प्राय: वह असहाय अवस्था में और मजबूरीवश सड़कों पर, रेलगाड़ियों में तालियां बजाकर मांगते दिखाई दे जाते हैं। आर्थिक विकास के अवसरों के अभाव में वे इस प्रकार का जीवन जीने के लिए विवश हैं। नीरजा माधव के उपन्यास में इस संदर्भ में कई प्रसंग मिलते हैं। उपन्यास की पात्र मंजू का यह तर्क देते हुए कहती है ''यहां जजमान ही का भरोसा। कभी-कभार चोसा मिला तो ठीक, नहीं तो वीला (कंजूस) मिल गया तो बहुत होगा एक पानकी (दस रुपये का नोट) या आधा काटका (पचास रुपये का नोट) थमा देगा। हमारे पेट की सुध किसे है ? न सरकार को, न जजमान को।''[43] अत: कि ट्रांसजेंडर समुदाय के विकास के लिए सरकार को निश्चित रूप से विशेष योजनाएं बनानी चाहिए। तभी यह समाज सामान्य मानव की तरह सामान्य समाज में जिंदगी जी पायेगा। इसके अलावा उनके विकास के लिए सर्वप्रथम समाज को अपनी मानसिकता में भी परिवर्तन करना होगा। शासन की सक्रिय भूमिका के साथ उनका विकास हो सकता है। इससे भी ज्यादा जरूरी है उनके समुदाय में चेतना का होना। यदि वे स्वयं चेतनशील हो जाएंगे तो बहुत-सी समस्याओं का हल खोज सकेंगे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य की उपन्यास विधा में 'थर्ज जेंडर' की एक जोरदार पहल हुई है। जिसे 21वीं सदी के उपन्यासों में एक अलग प्रवृत्ति के रूप में दिखा जा सकता है।

(4.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंध

समाज में आज बहुत बदलाव आया है तथा नए तरह के संबंध भी विकसित हुए हैं जैसे - समलैंगिक संबंध और सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप)। हालांकि समलैंगिक संबंध समाज में प्राचीन काल से ही रहा है लेकिन इसकी स्वीकार्यता अब हुई है जब सुप्रीम कोर्ट के पांच न्यायाधीश की खंडपीठिका ने अंतिम फैसला सुनाया। वहीं, अपने समाज के स्त्री-पुरुष संबंधों में भी बहुत तब्दीलियाँ आयी हैं। आधुनिकता के इस दौर में महानगरों में अधिकतर स्त्री-पुरुष बिना विवाह किये एक साथ, एक ही छत के नीचे रहना ज्यादा पसंद कर रहे हैं। यहाँ पर हम इन दोनों प्रवृत्तियों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

(4.5.1) समलैंगिक संबंध

समलैंगिकता क्या है ? इसका अर्थ तथा इसकी परिभाषा क्या है ? आदि सवालों के जाने बिना हम समलैंगिक संबंध को नहीं समझ सकते हैं। समलैंगिकता के अर्थ और परिभाषा को बताते हुए समलैंगिकता विकिपीडिया में लिखा गया है ''समलैंगिकता का अर्थ किसी व्यक्ति का समान लिंग के लोगों के प्रति यौन और रोमांसपूर्वक आकर्षित होना है। वे पुरुष, जो अन्य पुरुषों के प्रति आकर्षित होते

हैं उन्हें ''पुरुष समलिंगी'' या 'गे' और जो महिला किसी अन्य महिला के प्रति आकर्षित होती है उसे भी 'गे' कहा जा सकता है लेकिन उसे आमतौर पर ''महिला समलिंगी'' या 'लैस्बियन' कहा जाता है। जो लोग महिला और पुरुष दोनों के प्रति आकर्षित होते हैं उन्हें उभयलिंगी कहा जाता है। कुल मिलाकर समलैंगिक, उभयलैंगिक और लिंगपरिवर्तित लोगों को मिलाकर एल.जी.बी.टी. समुदाय बनता है।''[44] चूँकि यह कहा जाता है कि समलैंगिकता शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो रोमांस रूप से समान लिंग के लोगों के प्रति आकर्षित होते हैं। अब अगर कोई समलैंगिकता को इस अर्थ में लेता है कि यह शब्द केवल उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो समान लिंग के लोगों के प्रति आकर्षित होते हैं तो इस परिभाषा के अनुरूप कहीं अधिक लोग समलैंगिक होंगे बजाय कि इसके कि कोई समलैंगिकता का अर्थ केवल यह समझता हो जिसमें दो समानलिंगी लोगों के आपसी यौन-संबंध हैं। आमतौर पर ये शब्द उन सभी लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो समान लिंग के प्रति आकर्षित होते हैं, उनके लिए भी जिनका अभी तक समलैंगिक यौन-संबंध नहीं है। वैसे तो समलैंगिक संबंध का प्रमाण प्राचीन संस्कृतियों में भी मिलता है खासकर चित्रकारियों में। जिसमें दो पुरुषों के अंतरंग संबंध या यौन-क्रिया में दिखाया गया है। ''खजुराहो के स्मारक जो पूरी दुनिया में अपनी कामुक कला और मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं, जिसमें कुछ समलैंगिक गतिविधियों की भी मूर्तियाँ शामिल हैं। ये प्रदर्शित करता है कि प्राचीन काल में न केवल सभी तरह के यौन झुकाव थे बल्कि लोग इतने सहिष्णु और खुले विचारों के थे कि समलैंगिक-प्रेम की मूर्तियों को स्वतंत्रता के साथ बनाकर प्रदर्शित भी किया।''[45] इसके साथ ही यदि देखा जाय तो समलैंगिकों के लिए बहुत सारे शब्द प्रयुक्त होते हैं जैसे समलैंगिक पुरुषों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं गे और क्वीर तथा समलैंगिक महिलाओं के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं स्त्री समलैंगिक और डाइक। लेस्बियन शब्द अधिक प्रयोग में लाया जाता है और डाइक कम। डाइक शब्द उन लैस्बियनों के लिए प्रयुक्त होता है जो अधिक पुरुषों जैसी होती हैं।

समलैंगिक और उभयलैंगिक होने के कारणों पर विवाद है। लैंगिक व्यवहार या चुनाव को लेकर विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा किये गये बहुत से शोधों से अलग-अलग परिणाम और व्याख्याएं पायी गयी हैं। न्यूयॉर्क के एलबर्ट आइंस्टाइन कॉलेज आफ मेडिसिन के प्रोफेसर डॉ. चार्ल्स सोकाराइड्स ने कई दशक पहले कहा था समलैंगिकता को एक रोग की संज्ञा दे दी थी। डॉ. चार्ल्स के साथ-साथ कई और भी लोगों ने समलैंगिकता को एक प्रकार का मानसिक रोग ठहराया है लेकिन आज सच यह है कि इन्हें रोगियों की तरह नहीं देखा जाता, न ही इन समलैंगिकों के भीतर इस प्रवृत्ति को लेकर कोई अपराध बोध है। यह उनके मनपसंद साथी के साथ रहने की च्वाइस मानी जाती है और वह उससे 'लज्जित' महसूस नहीं करते बल्कि वे 'गर्व' खुशी महसूस करते हैं। एल.जी.बी.टी समुदाय में 'गर्व' का विशेष मतलब होता है जिसका अर्थ है कि वे प्रसन्न हैं और अपनी समलैंगिकता का उत्सव मना रहे हैं। इसका अर्थ 'गर्व होना' होना नहीं है, जैसे कि उन्होंने कोई ऐसा काम किया हो हाँ लेकिन इसका अर्थ लज्जित होने के विपरीत जरूर है। बहुत से नगरों में 'गौरव परेड' भी होती हैं। इसके अतिरिक्त समलैंगिकों को भी अन्य लोगों की तरह प्यार हो सकता है तथा उनके भी जीवन पर्यन्त संबंध हो सकते हैं। बहुत से देशों में

समलैंगिक अपने जोड़ीदार से वैधानिक रूप से शादी नहीं कर सकते। हालांकि उनके भी वैसे ही संबंध हो सकते हैं, जैसे विषमलैंगिकों के। समलैंगिक प्राय: एक दूसरे को 'जोड़ीदार' या 'जीवन-साथी' कहते हैं, बजाए 'पति' या 'पत्नी' कहने के। साथ ही वैवाहिक समारोह के बजाए 'प्रतिबद्धता समारोह' हो सकता है।

वर्तमान समय में समलैंगिकता को अधिकांश पश्चिमी देशों ने स्वीकृत किया है। पहले भारत में भी समलैंगिकता को अपराध माना जाता था, जिसे आई.पी.सी. की धारा 377 कहा जाता था। जिसमें ''कोई भी स्वेच्छा से किसी भी आदमी, औरत या जानवर के साथ प्रकृति के आदेश के खिलाफ शारीरिक संभोग करेगा, उसे आजीवन कारावास से दंडित किया जाएगा या उल्लेख की अवधि तक कारावास में रखा जायेगा जिसे 10 साल तक बड़ाया जा सकता है और जो जुर्माना भरने के लिए भी उत्तरदायी होगा।''[46] यानी कि यह धारा किसी भी यौन गतिविध को जो प्रकृति के खिलाफ हो आपराधिक बनाती है। इस तरह के स्वैच्छिक कार्य भी दंडनीय है। इस तरह की गतिविध के लिए एक ही लिंग के दो व्यक्तियों के बीच सहमति सारहीन थी। लेकिन अब देश की सर्वोच्च अदालत ने 6 सितम्बर 2018 को समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से हटा दिया है। इसके अनुसार आपसी सहमति से दो वयस्कों के बीच बनाए गए समलैंगिक संबंधों को अब अपराध नहीं माना जायेगा। इसकी सुनवाई सुप्रीम कोर्ट के पांच न्यायाधीश की खंडपीठ ने किया जिसमें चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा, जस्टिस रोहिंटन नरीमन, ए.एम. खानविल्कर, डी.वाई. चंद्रचूड़ और जस्टिस इंदु मल्होत्रा शामिल थे। चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा ने फैसला देते हुए कहा ''जो भी जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। समलैंगिक लोगों को सम्मान के साथ जीने का अधिकार है। संवैधानिक पीठ ने माना है कि समलैंगिकता अपराध नहीं है और इसे लेकर लोगों को अपनी सोच बदलनी होगी।''[47] जब बात आती है समलैंगिकता के प्रति लोगों की सोच बदलने की तो यह सच है कि समलैंगिक लोगों के साथ भेदभाव होते आए हैं। जिसकी शुरूआत उनके घर से ही होनी शुरू होती है। अपने देश में भी एल.जी.बी.टी. समुदाय के प्रति घर के अन्दर से लेकर कार्यस्थल पर, स्कूल-कॉलेज में या फिर किसी अन्य सार्वजनिक जगह पर घृणापूर्ण व्यवहार देखने को मिलता है। उनको सभी जगह लक्षित करके घृणित टिप्पणियां, गंदे-भद्दे मजाक सुनाए जाते हैं, आते-जाते लोग उन पर फब्तियां कसते हैं। उनकी खल्ली उड़ाते हैं। और तो और सिनेमा में भी इस समुदाय के लोगों को दर्शकों के सामने एक मजाकिया पात्र के रूप में दिखाया जाता रहा है। अत: अब समय बदल रहा है तो समलैंगिक लोगों के प्रति भी समाज को अपनी सोच बदलनी होगी और बदलनी शुरू भी हुई है और साथ ही इनके सवालों तथा चुनौतियों को साहित्य में भी जगह मिलनी शुरू हुई है।

इसके अतिरिक्त समलैंगिक समाज के सवालों को केन्द्र में रखकर प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' आया जिसमें एल.जी.बी.टी. यानी स्त्री समलैंगिकता, पुरुष समलैंगिकता, उभयलिंगी कामी और ट्रांसजेंडर के सवालों को उठाया गया है। इसमें उपन्यासकार जननांग विकार यानी ट्रांसजेंडर और समलैंगिक यौन व्यवहारयुक्त व्यक्तियों, दोनों वर्गों की सामाजिक एवं मानसिक त्रासदी को

अभिव्यक्त किया है। प्रदीप सौरभ पेशे से खोजी पत्रकार एवं लेखक हैं जिसके चलते इस उपन्यास में ढेर सारी नवीन जानकारियाँ उपलब्ध कराई गई हैं। उपन्यासकार द्वारा पात्र और कहानियां यथार्थ की भूमि पर चित्रित किए गए हैं। जो भारत के किसी भी भू-भाग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। इस उपन्यास की शुरूआत दिल्ली के सिद्धार्थ इन्क्लेव हाउसिंग सोसायटी से होकर हिजड़ों के पवित्र तीर्थ स्थल कुवागम के मेले में जाकर पूर्णता को पहुँचती है। सिद्धार्थ इन्क्लेव से कुवागम मेले के बीच का यह सफर हमें मानव समाज के उस रूप का दर्शन करवाता है जिसके बारे में लोग प्राय: बात करना तो दूर सोचना तक नहीं पसंद करते हैं। दूसरी तरफ एक और दुनिया इसके समानांतर चलती दिखाई देती है वह है उभयलिंगी, समलैंगिक संबंधों या लेस्बियन तथा गे की।

अत: प्रदीप सौरभ ने उपन्यास में कथानक के एक हिस्से में लौंडेबाजों, लेस्बियनों और गे लोगों की दुनिया देखने को मिलती है वह समाज की नंगी सच्चाई है जो हमें सोचने पर मजबूर करती है। उपन्यास के पात्र बाबू श्यामसुंदर सिंह, सुविमल भाई, अनिल जैसे खद्दरधारी और सफेदपोशों की यह वह दुनिया है जिन्हें तवायफों के साथ लौंडों का भी शौक था। ज्योति उनका सबसे प्रिय लौंडा था जिसे बाबू साहब अपनी जान से भी ज्यादा चाहते थे। बाबू साहब का प्रकरण हमें पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार के एबीसीडी यानी आरा, बलिया, छपरा, देवरिया के सफेदपोशों के घृणित और कुत्सित शौकों से परिचित कराता है। इसी संदर्भ में इन सफेदपोशों का शिकार बनने वाले लौंडों का दर्द हमें ज्योति के इन शब्दों से साफ पता चलता है कि ''माना मैं मर्द हूँ, लेकिन ये समाज मुझसे मर्द का काम लेने के लिए राजी नहीं है। मुझे इस समाज ने मादा की तरह भोग की चीज में तब्दील कर दिया है।''[48] बाबू साहब की तरह लौंडेबाजी के शौकीन सुविमल भाई भी हैं। वे थे तो गांधीवादी लेकिन व्यक्तिगत तौर पर इन्हें औरतों की गंध से नफरत थी। इन्होंने शादी तो रति से की थी लेकिन केवल एक सुरक्षा कवच के लिए। अपने घर का काम, काज, चूल्हा-चौका करने के लिए। अपनी शारीरिक भूख तो वे पार्टी के एक युवक अनिल के साथ समलैंगिक संबंध बनाकर पूरा करते हैं। इतना ही नहीं वह अपनी पत्नी रति को भी स्त्री समलैंगिक बनने की सलाह दे डालते हैं।

इसी उपन्यास में एक और पात्र है विनीत, जो पारिवारिक और सामाजिक उपेक्षा का शिकार है। स्कूलों का वैचारिक पूर्वाग्रह उसे शिक्षा से वंचित रखता है, लेकिन पिता उसे प्रतिष्ठित संस्थान से ब्यूटीशियन का कोर्स करवा देते हैं, जो भावी जिन्दगी में उसके उत्कर्ष का माध्यम बनता है। गृह-त्याग, देह-व्यापार और इंस्पेक्टर राज चौधरी तक पहुँचना, उसके जिंदगी के वे बिन्दु थे, जो भावी विकास और अस्मिता के सामाजिक स्वीकार में सहायक सिद्ध हुए। एक छोटा सा प्रशिक्षण और परिश्रम की ईमानदारी विनीत के विनीता में रूपान्तरण का मार्ग सुगम कर देती है और वह एक 'गे पार्लर' का सूत्रपात करती है। इसी के माध्यम से उसे यश, प्रसिद्ध, सामाजिक स्वीकार सब कुछ मिलता है। इसके बाद उसका व्यक्तित्व 'पेजथ्री' का एक मुख्य नाम बन जाता है। इस तरह प्रदीप सौरभ के उपन्यास में पुरुष समलैंगिक (गे) संबंधों पर अपनी कलम तो चलायी है लेकिन प्रमुख कहानी के रूप में नहीं और न स्वयं की इच्छा से चुने गए पुरुष समलैंगिक (गे) जीवन पर ही। इसमें अमीर पूँजीपति के विकृत व्यवहार के स्वरूप में प्रसंगवश

पुरुष समलैंगिक (गे) संबंध के बारे में जिक्र लाया गया है जबकि गीतांजलि श्री ने अपने उपन्यास 'तिरोहित' में मूल कथ्य के रूप में ही 'स्त्री समलैंगिक' संबंध को उकेरा है।

दूसरी तरफ गीतांजलि श्री का उपन्यास 'तिरोहित' स्त्री समलैंगिकता पर आधारित है या यों कहें कि यह उपन्यास दो स्त्रियों के आपसी अंतरंग संबंधों को केन्द्र में लिए हुए है। इसको पढ़ते हुए बार-बार यह लगता है कि उन्होंने हिंदी की स्त्री लेखिकाओं के स्त्री-विमर्श को वयस्क दृष्टि दे दी है। 'तिरोहित' में ललना और चच्चो की युगलबंदी से गीतांजलि श्री ने जिस स्त्री-राग या प्रेम की रचना करती हैं उसे स्त्री-विमर्श का एक नया आयाम कह सकते हैं। स्त्री-संसार की अंजानी पर्तों को खोलने के लिए गीतांजलि श्री ने वयस्क मुहावरे को अपनाया है जो कई स्त्री-लेखिकाओं की आक्रामक मुद्रा को गैर-जरूरी सिद्ध कर देता है। मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' की असीमा के इस प्रश्न कि 'अगर मर्द-औरत के बीच का रिश्ता शोषक-शोषित का रिश्ता है, तो क्या उसका विकल्प लैस्बियनिज्म है ?' को गीतांजलि श्री ने 'तिरोहित' में जो सामाजिक संदर्भ प्रदान करती हैं, वह कई दृष्टियों से मौलिक व महत्वपूर्ण है।

'तिरोहित' की कहानी में 'स्त्री समलैंगिकता' का प्रश्न शारीरिक पसन्द या यौन विकल्प तक ही सीमित न होकर स्त्री की उस व्यापक दुनिया में रचा-बसा है जिसे स्त्रीवादी सिद्धांतकार एंड्रीन रिच ने 'लैस्बियन कांटिन्युम' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार ''संपूर्ण इतिहास-क्रम में हर स्त्री जीवन के सभी स्त्री चिन्हित अनुभव इसमें शामिल हैं। मात्र यह नहीं कि किसी स्त्री ने किसी अन्य स्त्री से यौनेन्द्रिय अनुभव प्राप्त किया या सजग रूप से इसकी कामना की।''[49] स्त्री की वह आन्तरिक दुनिया जिसकी उपस्थिति से पुरुष सत्ता जान-बूझकर अन्जान बनी रहती है। यह सबकुछ इस उपन्यास में मौजूद है।

पुरुष-सत्ता का प्रतिपक्ष रचती ये 'नई स्त्री' न तो पश्चिमी 'फेमिनिज्म' का अनुकरण करती है और न ही वह स्त्रीवाद के किसी स्वीकृत साँचे में ढली है। घर, परिवार और समाज के पाखण्डी मुखौटे को बेपर्दा होने की प्रक्रिया से उपजा ललना और चच्चो का 'पारस्परिक-प्रेम' जिस 'लैस्बियन कांटिन्युम' को रचता है वह पुरुष सत्ता का 'ध्वस्तीकरण' है। जिन छोटे-छोटे प्रसंगों, बारीक व अन्तरंग ब्यौरों से गीतांजलि श्री ने 'तिरोहित' के स्त्री-वृत्तांत का अन्वेषण किया है, वह कहीं मांसल है तो कहीं मारक, कहीं कारुणिक है तो कहीं निर्मम। स्त्री के स्त्रीत्व से मुक्त होने की प्रक्रिया में गीतांजलि श्री स्त्री की जिस आन्तरिक बुनावट को रेशे-रेशे उजागर करती हैं, वह स्त्री मनो-संरचना में उनकी गहरी पैठ का परिचायक है। अत: यह दोनों उपन्यास समलैंगिक संबंधों के बीच आने वाली समस्याओं तथा समाज के द्वारा किये गये दुरव्यवहारों को सामने लाते है।

(4.5.2) सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप)

यह सच है कि समाज बहुत तेजी गति से बदल रहा है और साथ में उतनी ही तेजी से सामाजिक संबंध व स्त्री-पुरुष संबंध भी बदल रहे हैं। रूसो ने कभी कहा था कि 'हम स्वतंत्र जन्म लेते हैं किंतु उसके बाद सर्वत्र जंजीरों में जकड़े रहते हैं।' आज की स्त्री इन्हीं जंजीरों को तोड़ कर आगे बढ़ना

चाहती है। इन जंजीरों को तोड़ते हुए वह विवाह जैसी संस्था के औचित्य पर भी कई सवाल खड़े करती है। यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि 'सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप)' को अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, स्कॉटलैंड और फिलीपींस आदि देशों में कानूनी मान्यता मिली हुई है। हमारे देश में महाराष्ट्र सरकार ने इसे कानूनी मान्यता दी हुई है। इसके अलावा देश में सूचना प्रौद्योगिकी के लिए प्रसिद्ध शहर बैंगलुरु में 'लिव इन रिलेशनशिप' का बड़ा चलन है तथा कई फिल्मी सितारों ने भी इसे अपनाया है।

इन बदलते संबंधों को वर्तमान समय में हिंदी साहित्य की उपन्यास विधा भी तरजीह दे रही है। स्त्री-पुरुष के बदलते संबंधों के साथ-साथ दलित उत्पीड़न, स्त्री उत्पीड़न, राजनीतिक विषयवस्तु, बाल मनोविज्ञान, सभी विषयों पर उपन्यास लिखे जा रहे हैं। जब सेक्स जैसे 'वर्जित' विषय पर भी उपन्यास सामने आ रहे हों तो फिर समलैंगिकता तथा सहजीवन जैसे मुद्दे उसमें प्रमुख रूप से होने अनिवार्य हैं। इसलिए यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शरद सिंह ने सहजीवन पर आधारित 'कस्बाई सिमोन' उपन्यास पर अपनी सशक्त कलम चलाई है। वैसे तो शरद सिंह अपनी कहानियों में स्त्री जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण करती आयी हैं और दलित व शोषित स्त्रियों के पक्ष में वे सतत कार्य भी करती रही हैं। 'कस्बाई सिमोन' में उन्होंने 'सहजीवन ' जैसे संबंधों जो पश्चिमी देशों में लंबे समय से चले आ रहे हैं को अपना विषय बनाया है। इस संबंध में माना जाता है कि स्त्री अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित अनुभव करती है। महानगरों में शायद यह अधिक चर्चा या चिंता का विषय न बने मगर कस्बे की बात अलग है। वह भी ऐसा कस्बा जो न तो पूरी तरह से महानगर बन पाया हो और न ही पूरी तरह से कस्बाई संस्कार छोड़ पाया हो। ऐसे परिवेश में 'सहजीवन' में रहने वाली स्त्री किस भँवरजाल में फँस जाती है यही इस उपन्यास का मर्म है। कुछ भी हो उपन्यास की नायिका सुगंधा 'सिमोन' जरूर बनना चाहती है।

'द सेकेंड सेक्स' की लेखिका सिमोन द बोउवार का जन्म पेरिस में हुआ था। इस किताब में उन्होंने स्त्री शरीर और मन के बारे में पितृसत्ता द्वारा बनाए गए तमाम मिथकों और पारंपरिक विश्वासों को खुली चुनौती दी है। लिखने के अलावा वह अपनी जिन्दगी बहुत क्रांतिकारी ढंग से जी भी थीं। उन्होंने अपने प्रेमी ज्यां पाल सार्त्र के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, लेकिन उनके साथ में रहीं जरूर। इतना ही नहीं उनके साथ रहते हुए उन्होंने दूसरे पुरुष से भी प्रेम किया था और स्त्री समलैंगिक (लेस्बियन) भी थीं। कुल मिलाकर वह बाईसैक्सुअल थीं। और वह स्त्री स्वतंत्रता की प्रबल समर्थक थीं, उनका कहना था कि 'औरत को यदि स्वतंत्रता चाहिए तो उसे पुरुष की रुष्टता को अनदेखा करना ही होगा। 'कस्बाई सिमोन' की सुगंधा भी इसी जीवन दर्शन को अपनाती है। उसके लेख भी स्त्री स्वतंत्रता की बात करते हैं। सिमोन और सुगंधा में एक बड़ा फर्क भी है वह यह कि सिमोन पेरिस में रहती थीं, जबकि सुगंधा जबलपुर और सागर जैसे कस्बे में, इसलिए लेखिका ने उसे 'कस्बाई सिमोन' कहा है।

वैसे हिंदी में 'सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप)' पर प्रेमचंद ने भी दो जगह कलम चलाई है - कहानी 'मिस पद्मा' में और उपन्यास 'गोदान' में। यह कहानी मानसरोवर के दूसरे खंड में संकलित है। इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद ने सहजीवन पर विवाह की विजय दिखलाई है। वहीं 'गोदान' में

मालती जो डॉक्टर है और मेहता जो प्रो. हैं एक दूसरे से प्रेम करते हैं। मेहता मालती के घर रहने लगते हैं। फिर जब मेहता मालती के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखते हैं तो मालती इनकार करते हुए कहती है, "मित्र बनकर रहना स्त्री- पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।...तुम्हारे जैसे विचारवान, प्रतिभावान पुरुष की आत्मा को मैं इस कारागार में बंदी नहीं करना चाहती।"[50] यहाँ प्रेमचंद महज 'सहजीवन' का एक मॉडल भर सामने रखते हैं। वे यह नहीं बताते कि मेहता और मालती के इस संबंध का भविष्य में क्या होता है। इस तरह हिंदी उपन्यासों में 'लिब इन रिलेशनशिप' पर कलम चलाने का प्रमाण प्रेमचंद के रचना संसार में भी मिलता है।

'कस्बाई सिमोन' उपन्यास फ्लैश बैक तकनीक में लिखा गया है। इस उपन्यास में कुल सात अध्याय हैं, लेकिन पहले अध्याय का कोई नाम नहीं है। दरअसल इसकी शुरूआत अंतिम अध्याय का हिस्सा है। सुगंधा रितिक को सोचते हुए अतीत के गहराई में उतरती है। वह अपने बारे में भी रितिक के दृष्टिकोण से सोचती है और कहती है कि ''क्या मैं सचमुच वैसी हूँ, जैसा रितिक कहता है, 'किसी भी पुरुष को देखकर लार टपकाने वाली' ?''[51] वह रितिक से इतनी गहराई से जुड़ी हुई है कि जब भी वह किसी अन्य पुरुष को देखती है या किसी पुरुष के ताप को अनुभव करना चाहती है तो उसकी तुलना रितिक से ही करने लगती है बकौल सुगंधा कि ''कभी-कभी तुलना इस सीमा तक जा पहुँचती है कि चुंबन, आलिंगन और काम की सभी कलाओं के दौरान वह मेरे और अन्य पुरुष के बीच आ खड़ा होता है, संजोए हुए अनुभव बनकर।''[52]

सुगंधा अपनी कहानी रितिक से संबंध समाप्त होने के बाद से सुनाना शुरू करती है। विवाह संस्था के बारे में उसके विचार हैं कि ''मैंने सोच रखा था कि मैं कभी विवाह नहीं करूँगी। मन के अनुभवों की छाप मेरे मन-मस्तिष्क पर गहरे तक अंकित थी। उसे मैं चाहकर भी मिटा नहीं सकती थी।''[53] इसी छाप को मन पर संजोए उसकी मुलाकात रितिक से होती है, और फिर वह इस विचार को अपने जीवन में उतारती है। सुगंधा और रितिक एक दूसरे से प्यार करते हैं। नायक रितिक सुगंधा को 'लिव इन रिलेशन' में रहने की चुनौती देता है। सुगंधा की धारणा है कि पुरुष बँधकर भी पूर्ण उन्मुक्त रहता है। वह पत्नी के होते हुए भी एक से अधिक प्रेमिकाएँ रख सकता है फिर भी समाज में क्षमा योग्य बना रहता है। अपने इस 'लिब इन रिलेशन' की वजह से जब उन्हें बार-बार मकान बदलते रहना पड़ता है तब उसे यह समझ में आता है कि 'घर' मानव जीवन में बहुत महत्त्व रखता है। वह यह भी मानती है कि पुरुष जो बनाता है, स्त्री वह बनने को तैयार हो जाती है। कुछ समय बाद जब रितिक अधिकार जताने लगता है तो सुगंधा को एहसास होने लगता है कि उसकी हैसियत एक 'रखैल' से ज्यादा नहीं है। सुगंधा रितिक से छुटकारा पाकर ऋषभ से वही संबंध बनाती है मगर वहाँ भी उसे शीघ्र समझ में आ जाता है कि ऋषभ की नजरों में भी उसकी हैसियत 'कॉलगर्ल' से अधिक नहीं है। और फिर जीवन में विशाल का प्रवेश होता है। सुगंधा चूँकि विवाह को स्त्री की स्वतंत्रता पर एक थोपा गया बंधन मानती है इसलिए एक बार फिर विशाल के साथ उसी आत्मघाती राह पर चल पड़ती है, यह जानते हुए भी कि उसे फिर उन्हीं सामाजिक स्थितियों का सामना करना पड़ेगा।

उपन्यास में सुगंधा कई जगह सिर्फ सवाल उठाती है। यह तथ्य अपने आप सामने आ जाता है कि उन्मुक्त रहकर सुगंधा सिर्फ शोषण का शिकार होती है और बदले में मिलता है उसे 'रखैल' और 'कॉलगर्ल' का तमगा। 'कस्बाई सिमोन' की नायिका स्त्री जीवन पर लादे गए हर बंधन से स्वयं को मुक्त करना चाहती है। यह सच भी है कि हमारे समाज में तमाम बंधनों को सिर्फ स्त्रियों पर ही लादा गया है और बलात्कार जैसे जघन्य अपराध भी स्त्रियाँ ही झेलती आयी हैं। यह सबको पता है कि पितृसत्ता ने अपने हितों को देखते हुए सारे नियम बनाए हैं इसलिए पितृसत्ता यह बिल्कुल भी नहीं चाहेगी कि स्त्री उन्मुक्त जीवन जिए। क्योंकि स्त्री के उन्मुक्त जीवन जीने से पुरुष का वर्चस्व डगमगाने लगता है यही कारण है कि सुगंधा के साथ लिब इन में रहने वाले पुरुष उसपर अपना अधिकार जमाने लगते हैं। सुगंधा को पता है कि स्त्री के शोषण की एक संस्था परिवार भी है इसलिए वह उसे तोड़ना चाहती है। वह परिवार के घेरे को तोड़कर कर 'लिव इन रिलेशन' में रहती तो जरूर है लेकिन महज एक 'भोग्या' बनकर। और तब वह सही गलत का फैसला करने की स्थिति में भी नहीं रहती। कुल मिलाकर वह स्वतंत्र तो होती है लेकिन साथ ही उसके सामने नई तरह की चुनौतियाँ भी आ खड़ी होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा लगता है कि लेखिका ने भी अपनी राय थोपने के बजाय सही गलत का फैसला पाठकों पर ही छोड़ दिया है। लेखिका ने नायिका सुगंधा के संघर्ष व विद्रोह को सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है। उपन्यास में सुगंधा के द्वारा उठाए गए सवाल समाज में गहन चिंतन मनन व विमर्श के जरूरत की दरकार करते हैं।

अत: कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के उपन्यास में समलैंगिकता और लिव इन रिलेशनशिप जैसे मुद्दों को महत्व दिया जा रहा है जिसने एक अलग प्रवृत्ति का आकार ले लिया है।

(4.6) सूचना क्रांति का दौर

सूचना प्रौद्योगिकी की गति पिछले दशकों में बहुत शीघ्र बढ़ती जा रही है। जहाँ एक तरफ यह मनुष्य को सोचने-विचारने और संप्रेषण करने के लिए तकनीकी सहायता उपलब्ध करती है। पिछले दो दशकों के पहले सूचना-प्रौद्योगिकी का क्षेत्र बहुत सीमित था। लेकिन अब मैक्रो इलेक्ट्रॉनिक्स और संचार के न्यूनतम सामग्रियां भी इसमें शामिल हैं। इसके विकास का नवीनतम रूप हमें इंटरनेट, मोबाईल, रेडियो, टेलिविजन, उपग्रह प्रसारण कंप्यूटर के रूपों में दिखाई देता है। इन सब के द्वारा आज सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरे विश्व को एक सूत्र में बाँध दिया है। वहीं दूसरी तरफ किसी भी चीज के अपने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू होते हैं सूचना क्रांति के भी हैं क्योंकि मनुष्य भौतिक सामान नहीं है, उसके भीतर चेतना है, संवेदनशीलता भी है । उनकी तृप्ति प्रेम, करुणा, दया, स्वानुभूति, सहानुभूति आदि कोमल भावों से होती है । संस्कृति को समझे बिना जो तरक्की होती है वह समाज के लिए खतरनाक होती है। इस खतरे को भांपकर हर्बर्ट मार्कूज ने सही ही कहा है जिसे जगदीश्वर चतुर्वेदी ने अपनी किताब 'सूचना समाज' में उद्धृत किया है ''आज विश्व का मानव जीवन का कोई भी रूप प्रौद्योगिक तथा प्राकृतिक वातावरण का कोई रूपांतरण एक संभावना है और इस संभावना की संस्थिति ऐतिहासिक है। आज हममें विश्व को नर्क में बदल देने की क्षमता है।''[54] यह सच है कि भारत में सूचना

तकनीकी का मनमाने ढंग से उपयोग बढ़ रहा है। समूची व्यवस्था पर इसे थोपने की कोशिश की जा रही है। इस प्रक्रिया में एक नए किस्म का गठबंधन उभरकर आ रहा है। ''यह गठबंधन एक ओर पश्चिम के उत्तर-औद्योगिक समाज के समृद्ध वर्ग मूल्यनिर्पेक्षता और उपभोक्तावाद और दूसरी ओर भारतीय समाज के नवधनाढ्य वर्ग की परजीवी और लोभी प्रवृत्तियों के बीच हो रहा है। भारत का नवधनाढ्य वर्ग पूर्व-औद्योगिक स्थिति से औद्योगिक स्थिति में जाने की प्रक्रिया में है और भारत जैसे विकासशील देशों में आधुनिक उत्तर-औद्योगिक संप्रेषण और संचार इस गठबंधन को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान कर रहे हैं।''[55] इस प्रकार भारत में सूचना क्रांति के नाम पर जो तकनीक आ रही है वह संस्कृति-निर्पेक्ष नहीं है। यह तकनीक अपने साथ वर्तमान स्वरूप में पश्चिम की पूँजीवादी, व्यवसायवादी जीवन पद्धति और धन-लोलुप मूल्यों से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है।

हालांकि किसी भी देश की उन्नति उसकी वैज्ञानिक, तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी प्रगति पर निर्भर करती है। इस दृष्टी से देखें तो आज हमारा देश भी विकास की तरफ आगे बढ़ रहा है। सॉफ्टवेर इंडस्ट्री जो सूचना-प्रौद्योगिकी का हिस्सा है हमारे देश की आन-बान-शान बनी हुई है। कंप्यूटर के प्रयोग से उत्पादकता और गुणवत्ता पर बढ़ावा मिला है। डिजिटल अर्थव्यवस्था यानि सूचना परक अर्थव्यवस्था और ज्ञान अर्थव्यवस्था यानि ज्ञानपरक अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था के आधार स्तंभ बन गए हैं। वर्तमान समय और समाज भौगोलीकरण, उदारीकरण, बाजारीकरण और उत्तराधुनिकता के दौर पर से गुजर रहा है। इस प्रकार के सामाजिक माहौल पनपने में सूचना प्रौद्योगिकी के विकास का बहुत महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। विश्व के तमाम भाषा-साहित्य में यही संस्कृति अपने पूर्ण रूप से उभर रही है। भारतीय साहित्य खासकर हिंदी साहित्य भी इसमें पीछे नहीं रहा है। कहानी, नाटक, कविता, उपन्यास आदि साहित्य की सभी विधाओं में इस तकनीकी संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसे प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल', अलका सरावगी के 'शेष कादम्बरी', कमल कुमार के 'पासवर्ड' तथा मनीषा कुलश्रेष्ठ के 'शिगाफ' में देखा जा सकता है।

प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'मुन्नी मोबाईल' पिछले दो–तीन दशकों की घटनात्मक प्रस्तुति है। वैसे पूरा उपन्यास विवाराणात्मक शैली में लिखा गया है जो घटना प्रधान है। इसमें मुन्नी और आनंद भारती की बिल्कुल अलग-अलग जिंदगियों को रचनाकार ने एक-दूसरे से जोड़े हुए दिखाया है। उपन्यासकार प्रदीप सौरभ मूलत: पत्रकार हैं और अच्छे फोटोग्राफर भी। गुजरात के दंगों की यथातथ्य रिपोर्टिंग के लिए पुरस्कृत हुए हैं। 'मुन्नी मोबाईल' उनका पहला उपन्यास है जो 2009 में प्रकाशित हुआ है। उपन्यास का नायक है आनंद भारती जो प्रतिष्ठित पत्रकार एवं चित्रकार है। अपनी नौकरी के दौरान वे देश-विदेश में बहुत सफर करते हैं। जीवन के विभिन्न प्रसंगों से गुजरने का अवसर उनको मिलता है। गुजरात दंगे की आँखों देखा रिपोर्टिंग उन्होंने किया है। इसी के चलते वे शासक वर्ग की नफरत का कारण भी बनते हैं और उन पर हमला भी होता है। संपादक ने उन्हें दिल्ली वापस बुला लिया और आनंद भारती दिल्ली के सपनों में डूब गए। इसी शहर ने उनको सब कुछ दिया, इसी शहर में उनकी पहचान का विस्तार हुआ। आनंद भारती ने दिल्ली में घर बनाया लेकिन उसे संभालने वाला कोई नहीं था। काम

करने के लिए एक औरत मिलती है, मुन्नी। उन्होंने खाना बनाने से लेकर कपड़े धोने तक का सारा काम उसके कन्धों पर डाल दिये। बाद में घर की चाभी भी उसके पास रख दी। फिर मुन्नी की मांग के अनुसार आनंद ने दीपावली-भेंट के रूप में उसे एक मोबाईल खरीद दी। घरों में नौकरी करनेवाली अन्य महिलाओं से उसका निरंतर संपर्क हुआ। अंत में मुन्नी कामवाली महिलाओं को सप्लाई करनेवाली एक छोटी एजेंसी की मालकिन बन गयी। मोबाईल फोन ने उसके धंधे में उसकी बड़ी सहायता की जिसकी वजह से उसका नाम ही 'मुन्नी मोबाईल' पड़ गया। मुन्नी के ही शब्दों में देखें कि ''मुन्नी उत्साहित हो गई। हीर सिंह के सामने आकर उसने बोला, 'मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है। इस बात को कभी न भूलना।' बस, उसके बाद मुन्नी साहिबाबाद में मुन्नी मोबाइल के नाम से जानी जाने लगी।''[56] इस तरह काम की तलाश में आनेवाली महिलाएं सबसे पहले मुन्नी से संपर्क करती थीं। मुन्नी का काम प्रौद्योगिकी की सहायता से बहुत अच्छा चल रहा था, वह पत्रकारों और लिपिकों से ज्यादा पैसा कमाती थी।

इसके अलावा उपन्यासकार ने समाज पर आर्थिक मंदी के पड़ते प्रभावों क तरफ भी संकेत किया है। आर्थिक मंदी के दौर में काल सेंटर उसके सबसे बड़े शिकार हुए जहाँ हजारों नौजवान काम करते थे। भारत के सभी उद्योग धंधों में इसका बुरा असर हुआ लेकिन मुन्नी का कारोबार इससे मुक्त रहा। उसका एक बड़ा मकान बनकर तैयार हुआ। मकान के नीचे तीन दुकानें बनायीं गयी। मुन्नी में तरक्की की लालसा प्रबल हो गयी थी। भारती के घर से एक कंप्यूटर मुन्नी ने अपने घर ले लिया था। बड़ी बेटी रेखा ने कंप्यूटर पर गेम्स से ही शुरुआत की। प्रदीप सौरभ लिखते हैं ''आनंद भारती ने सोचा कि मुन्नी के घर कंप्यूटर जाने से उसके घर में पढाई-लिखाई का माहौल पैदा और बढ़ेगा। तीनों छोटे लड़कों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने मुन्नी को कंप्यूटर दे दिया। रेखा ने कंप्यूटर पर गेम्स से शुरूआत की।''[57]

मुन्नी एजेंसी के काम से थक चुकी थी। वह अब ज्यादा पैसा कमाने के लिए बड़े काम धंधे की तलाश में जुट गयी थी। दो साल के बाद मुन्नी ने एक दूसरा घर खरीद लिया था। रेखा कालेज जाने लगी थी, मुन्नी ने बेटी को लैपटॉप खरीद दिया। अब रेखा वायरलेस इंटरनेट कनेक्शन के जरिए घर में बैठ या कार में बैठकर दुनिया की सैर करती। दुनिया उसके उंगली के नीचे नाच रही थी। ''रेखा ने जिद्द कर मुन्नी से लैपटाप खरीदवा लिया था। वायरलेस इंटरनेट कनेक्शन उसमें लगा हुआ था कभी धूप में तो कभी काम में बैठकर नेट के जरिये वह दुनिया की सैर कर रही थी।''[58] धीरे-धीरे वह अपनी माँ के धंधे को संभालने लगी थी। हर चीज के हिसाब के साथ-साथ तमाम सूचनाएं उसके लैपटॉप में रहने लगी थीं। माँ की तरह बेटी भी होशियार निकली। प्रौद्योगिकी की सहायता से वह आगे बढ़ी।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जब विश्वग्राम की संकल्पना की जा रही है, तो सूचना-प्रौद्योगिकी क्रांति इंसान को निकट लाने में बहुत सहायक बनती दिखाई दे रही है। इस उपन्यास की विषयवस्तु में सूचना प्रौद्योगिकी का बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। मुख्यपात्र मुन्नी स्त्री व्यापार के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का सहारा लेती है। उसके व्यापार की वृद्धि में आनंद भारती का मोबाईल और कंप्यूटर का महत्वपूर्ण स्थान दिखाया गया है। विकास की ओर जो दौड़ है उसमें मानवीय मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। विकास की

इस अवधारणा ने उपभोक्तावादी जीवनशैली को जन्म दिया है। यह वर्तमान व्यवस्था मनुष्य को बुराइयों की ओर घसीट ले जा रही है। नैतिकता की उसमें कोई जगह नहीं है। मूल्य शब्द का अर्थ ही बदल गया है, वह केवल पैसों का हिसाब बन गया है। प्रौद्योगिकी की सहायता से आगे बढ़ी मुन्नी अंत में साइबर अपराध में फंस जाती है। उसकी बेटी रेखा होशियार थी लेकिन अपनी माँ की हत्या के बाद वह भी माँ के पथ पर ही चल पड़ती है। सूचना प्रौद्योगिकी के सहारे वह सेक्स राकेट का बिजनेस चलाती है, इंटरनेट, ब्लॉग आदि का उपयोग भी पूरी समर्थता के साथ करती है।

अब अगर थोड़ा पीछे लौटें तो सदी के प्रारम्भ में ही अलका सरावगी का उपन्यास 'शेष कादम्बरी' आया जिसका प्रकाशन 2001 में हुआ। उसमें भी सूचना प्रौद्योगिकी का सहारा लेकर ही उपन्यास की कथा को आगे बढ़ाया गया है या यूँ कह सकते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी की तकनीक के विभिन्न उपकरणों-प्रविधियों का प्रारम्भ भी इसी उपन्यास से दिखाई देता है। इस उपन्यास में सबसे पहले कलकत्ता एस.टी.डी. का प्रयोग कर फोन के माध्यम से नानी और नातिन या धेवती का संवाद दिखाया गया है। फिर आगे चलकर कितने ही उपन्यासों में ई-मेल, फेसबुक आदि का प्रयोग किया गया है। बदलते समय की दिशा और दशा को नानी और धेवती के माध्यम से चर्चित कर पूरी सदी का सामाजिक, आर्थिक परिवेश, राजनीतिक उथल-पुथल का चित्रण और भूमण्डलीकृत नई संस्कृति की विद्रुपताओं को नई-शैली में उल्लेखित किया गया है।

इसके अतिरिक्त ई-मेल का प्रसंग 21वीं सदी के कई उपन्यासों में आया है कि अमुक पात्र को अमुक पात्र के मेल इन विवरणों के साथ आई है। इसके साथ ही महत्वपूर्ण बात यह है कि कमल कुमार ने अपने पूरे उपन्यास 'पासवर्ड' को जो 2010 में प्रकाशित हुआ है ई-मेलों के निरंतर श्रृंखला में ही प्रस्तुत किया है। जिस डॉ. आशीष से उपन्यास नायिका का निरंतर संपर्क ई-मेल के माध्यम से ही रहता है। एक नमूना देखिए ''वैसे तुम मेरे प्यार के काबिल भी नहीं हो। इतना प्यार तुम्हें कौन करेगा ? कितना समय लगा मुझे संभलने में, पर सच में कितना संभल पाई हूँ। संभल पाई भी हूँ क्या ! जाने दो, मेरे सोचने से कुछ नहीं होगा।...अपना ध्यान रखना। ई-मेल का जवाब जल्दी देना।''[59]

सूचना प्रौद्योगिकी की विभिन्न तकनीकों एस.टी.डी., ई-मेल के साथ-साथ अब फेसबुक और ब्लॉग लेखन का जो प्रयोग भी इस नई पीढ़ी के कार्य-व्यवहार में बढ़ा है। इसलिए उपन्यास शिल्प में उसका भरपूर प्रयोग किया गया है। मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास 'शिगाफ' की कहानी इस इंटरनेटी दुनिया में अपनी आवाजाही रखती है, पूरे उपन्यास में ब्लॉग का प्रयोग कर पूरी कहानी की ही प्रस्तुति की गई है लगभग प्रारम्भ से ही। एक उदाहरण के तौर पर हम इन पंक्तियों को देख सकते हैं वह लिखती हैं ''खाना खाने के बाद बहुत दिनों बाद मैंने इंटरनेट पर चल रहे अपने दोनों ब्लॉग 'अमिता इन स्पेन ब्लॉगस्पॉट डॉट कॉम' और 'रोड टू ला मांचा ब्लॉगस्पॉट डॉट कॉम' खोले और उन्हें फिर अपडेट करने के लिए सोचा। दोनों ही काफी पढ़े जा रहे थे। मुझे लोगों की प्रतिक्रियाएं खूब-खूब और खूब मिल रही थी। मैं कम से कम इस बात से तो खुश हो सकती थी कि मेरे ब्लॉग लोकप्रिय हो रहे थे।

अमिता इन ब्लॉगस्पॉट डॉट कॉम

फिर तिथिवार ब्लॉग – '22 जुलाई, 2004, 11 : 30' ।''[60]

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के उपन्यास साहित्य में भी सूचना प्रौद्योगिकी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है जिसके कारण एक अलग प्रवृत्ति ही विकसित हो गई है।

(4.7) विज्ञान लेखन

विज्ञान लेखन के बारे में बात करन से पहले यह जान लेना सही होगा कि आखिर विज्ञान लेखन है क्या ? वह कौन-सा गुण है जो कथित विज्ञान साहित्य को सामान्य साहित्य से अलग कर उसे विशिष्ट बनाता है ? साथ ही यह भी सवाल कि किसी साहित्य को विज्ञान साहित्य की कोटि में रखने की कसौटी क्या है ? क्या सिर्फ वौज्ञानिक खोजों, उपकरणों, नियम, सिद्धांत, परिकल्पना, तकनीक, आविष्कारों आदि को केन्द्र में रखकर कथानक गढ़ लेना ही विज्ञान साहित्य है ? यदि हाँ, तो क्या किसी भी निराधार परिकल्पना या आविष्कार को विज्ञान साहित्य का प्रस्थान बिन्दु बनाया जा सकता है ? क्या वैज्ञानिक तथ्य से परे भी विज्ञान साहित्य अथवा विज्ञान फंतासी की रचना संभव है ? इसके अलावा हिंदी में इसकी शुरुआत कब से मानी जाती है ? आदि सवाल मन में उठते हैं जिन्हें जानना अतिआवश्यक है। विज्ञान साहित्य के बारे में ओमप्रकाश कश्यप लिखते हैं ''विज्ञान साहित्य का लक्ष्य बच्चों के मानस में विज्ञान-बोध का विस्तार करना है, ताकि वे अपनी निकटवर्ती घटनाओं का अवलोकन वैज्ञानिक प्रबोधन के साथ कर सकें। लेकिन वैज्ञानिक खोजों, आविष्कारों का यथातथ्य विवरण विज्ञान साहित्य नहीं हो सकता। वह विज्ञान पत्रकारिता का विषय तो हो सकता है, विज्ञान साहित्य का नहीं। कोई रचना साहित्य की गरिमा तभी प्राप्त कर पाती है, जब उसमें समाज के बहुसंख्यक वर्ग के कल्याण की भावना जुड़ी हो। कहने का आशय यह है कि कोई भी नया शोध अथवा विचार, वैज्ञानिक कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरने के बावजूद, लोकोपकारी हुए बगैर विज्ञान साहित्य का हिस्सा नहीं बन सकता। यही क्षीण मगर सुस्पष्ट रेखा है जो विज्ञानपरक सामग्री एवं विज्ञान साहित्य को विभाजित करती है।''[61] तो वहीं सुशील शर्मा विज्ञान कथा साहित्य के बारे में लिखते हैं ''विज्ञान गल्प ऐसी काल्पनिक कहानी को कहा जा सकता है, जिसका यथार्थ से दूर का रिश्ता हो, मगर उसकी नींव किसी ज्ञात अथवा काल्पनिक वैज्ञानिक सिद्धांत या आविष्कार पर रखी जाए।''[62]

इसके साथ ही विज्ञान कथा को अंग्रेजी में 'साइंस फैंटेसी' अथवा 'साइंस फिक्शन' कहा जाता है। इस तरह 'विज्ञान कथा' या 'साइंस फिक्शन' को आम तौर पर ऐसे किस्से अथवा कहानी को कहा जाता है जो समाज पर विज्ञान के वास्तविक अथवा काल्पनिक प्रभाव से बने प्रसंग को कहन की शैली में व्यक्त करे तथा उसके पीछे अनिवार्यत: कोई न कोई वैज्ञानिक सिद्धांत है। 'साइंस फैंटेसी' के हिदी पर्याय के रूप में 'विज्ञान गल्प' शब्द प्रचलित है। 'फैंटेसी' शब्द का मतलब 'कपोल कल्पना' अथवा 'कोरी कल्पना' होता है। जब इसका उपयोग किसी दूरागत वैज्ञानिक परिकल्पना के रूप में किया जाता है तब

उसे 'विज्ञान गल्प' कहा जाता है। प्रख्यात डेनिश कथाकार हैंस एंडरसन ने बच्चों के लिए परिकथाएं लिखते वक्त अद्भुत कल्पनाओं की सृष्टि की थी। एच.जी. वेल्स की विज्ञान फैंटेसी 'टाइम मशीन' भी रचनात्मक कल्पना की देन है। परिणामत: विज्ञान गल्प उसे कहा जाता है जिसका संबंध यथार्थ से दूर का हो, मगर उसकी नींव किसी ज्ञात अथवा काल्पनिक वैज्ञानिक सिद्धांत या आविष्कार पर रखी हो। यहां तक आते-आते 'विज्ञान कथा' और 'विज्ञान गल्प' का फर्क स्पष्ट होने लगता है। 'विज्ञान कथा' में आम तौर पर ज्ञात वैज्ञानिक तथ्य या आविष्कार तथा उसके काल्पनिक विस्तार का उपयोग किया जाता है जबकि 'विज्ञान फैंटेसी' या 'विज्ञान गल्प' में वैज्ञानिक सिद्धांत अथवा आविष्कार भी परिकल्पित या अतिकल्पित हो सकता है। हालांकि विज्ञानसम्मत बने रहने के लिए आवश्यक है कि उसके मूल में कोई ज्ञात वैज्ञानिक खोज हो। 'विज्ञान कथा' की अपेक्षा 'विज्ञान गल्प' को लिखने के लिए कहीं ज्यादा बड़ा अंतरिक्ष होता है इसलिए ज्यादा मनोरंजक होने की संभावना भी होती है। जिसके चलते बाल साहित्य में इसका अधिक प्रयोग किया जाता है। उपन्यास जैसी अपेक्षाकृत लंबी रचना में मनोरंजन के अनुपात को बनाए रखने में बहुत चुनौतियां होती हैं। इसीलिए विज्ञान में दक्ष कथाकार उपन्यास लिखने के लिए गल्प प्रधान किस्सागोई शैली को अपनाते हैं। इससे साहित्य और विज्ञान दोनों का उद्देश्य सध जाता है। विश्व के चर्चित विज्ञान उपन्यासों में अधिकतर 'विज्ञान गल्प' की श्रेणी में आते हैं।

विज्ञान साहित्य की शुरूआत के श्रेय की पात्र मेरी शैली (द फ्रन्केनस्टाईन 1818 ई.) से लेकर इसाक आमीजोव (रोबोट 1950 ई.), आर्थर सी क्लार्क (ए स्पेस आडिसी 1968 ई.), राबर्ट हीलीन (राकेट शिप गैलीलियो 1947 ई.), डबल स्टार (1956 ई.) तथा स्ट्रैंजर इन स्ट्रेंज लैंड (1961 ई.) आदि सभी को जाता है। भारत में जगदीशचन्द्र बसु द्वारा बंगला भाषा की प्रथम विज्ञान कथा 'पालतक तूफान' 1877 ई. में प्रकाशित हुई थी। वहीं हिंदी भाषा में विज्ञान कथाओं की शुरूआत की बात करें तो देखेंगे कि यहाँ की आरम्भिक 'विज्ञान कथा' लेखन अंग्रेजी से प्रभावित था। वैसे देखा जाय तो औपनिवेशिक भारत में यह स्वाभाविक भी था। हिंदी की पहली विज्ञान कथा अंबिकादत्त व्यास की 'आश्चर्य वृत्तांत' मानी जाती है जिसका प्रकाशन हिंदी की पत्रिका 'पीयूष प्रवाह' में धारावाहिक रूप में 1884 से 1888 के बीच हुआ। इसका कथानक 'ए जर्नी टू सेंटर आफ दि अर्थ' से लिया गया था। उसके बाद बाबू केशवप्रसाद सिंह की विज्ञान कथा 'चंद्रलोक की यात्रा' सरस्वती के भाग 1, संख्या 6, सन् 1990 ई. में प्रकाशित हुई। हिंदी की मौलिक विज्ञान कथा का श्रेय सत्यदेव परिव्राजक की विज्ञाव कथा 'आश्चर्य घंटी' को जाता है। बाद के विज्ञान कथाकारों में दुर्गाप्रसाद खत्री, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. सम्पूर्णानंद, आचार्य चतुर्सेन, कृश्न चंदर, ब्रजमोहन गुप्त, लाला श्रीनिवास दास, राजेश्वर प्रसाद सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि एक शताब्दी से भी ज्यादा की इस विकास-यात्रा में हिंदी विज्ञान साहित्य का जितना विकास होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। इसके कारण बहुत से हो सकते हैं। हालांकि आजादी के बाद हिंदी विज्ञान साहित्य की स्थिति में काफी सुधार आया है।

विज्ञान कथा साहित्य की परम्परा में ही वरिष्ठ कथाकार संजीव के उपन्यास 'रह गई दिशाएं इसी पार' को देखा जा सकता है जिसका प्रकाशन 2015 में हुआ है। इस उपन्यास में संजीव ने जैविकी

को अपना विषय बनाया है जिससे जाहिर है यह एक शोधपूर्ण एवं विज्ञानपरक उपन्यास है। उन्होंने इसमें टेलीपैथी से लेकर लिंग परिवर्तन, सरोगेट मातृत्व से लेकर जींस और हारमोंस के जरिए व्यक्तित्व परिवर्तन तक कोई मुद्दा छोड़ा नहीं है। उपन्यास का एक पात्र बिस्नू बिराजिया मांस, मछली का कारोबार करता है और बुढ़ापे में अपने सेक्स के लालच को पूरा करने के लिए कायांतरण चाहता है। उपन्यासकार ने ऐसी बहुत-सी स्थितियों की मदद से सृष्टि और जिजीविषा के दुर्द्धर्ष रूपों को पेश किया है। आलोचक राजेन्द्र यादव इस उपन्यास की भूमिका में ठीक ही लिखते हैं कि ''यह एक वैज्ञानिक खोज का उपन्यास भी है। इसमें टेस्ट-ट्यूब बेबी के बहाने उन्होंने जन्म, मृत्यु, जीवन, मरण, जेण्डर, ईश्वर और अनन्त के रहस्यों पर एक वैज्ञानिक की तरह बात की है। दूसरे शब्दों में उपन्यास एक ऐसी प्रयोगशाला है जहां परीक्षण चल रहे हैं और इन प्रयोगों को अंजाम दे रहे हैं देशी-विदेशी पात्र।''[63]

इस उपन्यास में संजीव टेस्ट-ट्यूब बेबी के बहाने जन्म, मृत्यु, धर्म, विज्ञान तथा ईश्वर एवं मनुष्यों के संबंधों पर एक दार्शिनक, वैज्ञानिक की तरह खुलकर बात करते हैं। वह जीवन और मृत्यु को किसी ईश्वर की देन नहीं बल्कि शुद्ध वैज्ञानिक फार्मूले पर निर्धारित मानते हैं और कहते हैं ''जिस तरीके से एक स्पर्म एग, अंडे से मिलकर भ्रूण बनता है या यह पुरुष और स्त्री में जीवन धारा के रूप में शुरू से प्रवाहित हो रहे क्रम का प्रस्थान बिंदु भर है ? उसी तरह मौत भी चेतना या मस्तिष्क के रुक जाने को कहें या हर पल होने वाली लघु मृत्युओं का समुच्चय ?''[64] यह सच है कि विज्ञान मनुष्य के जीवन में क्रांतिकारी बदलाव लाया है। उसने जहां एक तरफ मनुष्य के जीवन को सुविधाजनक बनाया है वहीं दूसरी तरफ मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों में भी परिवर्तन किया है। उपन्यास में क्लोनिंग के कारण कैथरिन नानी से माँ हो गई। एलिस, जिम की मां के साथ-साथ बहन भी हो गई। बिजारिया एलिस का बाप और पति भी है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने मनुष्य के आपसी संबंधों को सिर्फ बदला ही नहीं है बल्कि जटिल भी कर दिया है। मनुष्य उस आइसबर्ग की तरह हो गया है जिसका एक भाग ऊपर और सात भाग पानी में होता है। उसके अन्दर चल रहे परिवर्तनों को पकड़ना बहुत मुश्किल है। अतुल बिराजिया यानी जिम, टेस्ट ट्यूब बेबी है जिसके बारे में राजेन्द्र यादव उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं ''वह सब वैसा है और नहीं भी है। भावनाओं के तीव्रतम आवेग में भी वह निर्वेद, निस्संग और अजनबी है।''[65] कुल मिलाकर विज्ञान के द्वारा हम जिन सिंथेटिक इंसानों को आगे बढ़ाएंगे, उसके बाद क्या होगा ? मनुष्य और सिंथेटिक इंसानों में श्रेष्ठता की जंग शुरू हो जाएगी ''हम इंसान पहले से ही सेल्फ सेंटर्ड और सेल्फिश हैं अब पूरी तरह छिन्न मूल, रूटलेस हो जाएंगे। इनके न मां होगी, न बाप, न रिश्ते, न सामाजिक जुड़ाव। सिंथेटिक मैन को मरने-मारने के इस महाभारत में कोई अर्जुन वैराग्य नहीं लेगा। वही विजयी होगा। सत्ता उसी के हाथ में रहेंगी।''[66]

इस वैज्ञानिक एवं खोजपूर्ण उपन्यास में प्रेम, सेक्स, अजरता, अमरता और अनन्त के रहस्यों पर घूमती पृथ्वी तमाम सवाल छोड़ जाती है। अजरता और अमरता का प्रश्न सृष्टि के प्रारंभ से ही गहन चिंतन का विषय रहा है। उपन्यास में अमरता की आकांक्षा उद्योगपति बिस्नू बिराजिया की भी है। वह एक ऐसे वर्ग से आता है जो धन के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। नैतिकता प्रश्न उसके लिए हद

दर्जे का बेमानी लगता है। अमर होने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में रखता है। तमाम कोशिशों के बाद भी वह मौत पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है। राजेन्द्र यादव सही ही लिखते हैं ''अजर और अमर होने की तमाम कोशिशों के बावजूद न कोई अजर रह पाता है और न अमर। लाशों की बदबू को न चंदन ढंक पाता है, न डीप फीज, न वैज्ञानिक और आध्यात्मिक मिथ।''[67]

इस प्रकार 'रह गईं दिशाएं इसी पार' हिंदी साहित्य में जैविकी पर रचा गया पहला उपन्यास है। वैसे तो यह प्रयास महत्वपूर्ण है लेकिन उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है संजीव की चिंताएं। उपन्यास में जीवन, मृत्यु, अजरता, अमरता, इतिहास, विज्ञान, टेक्नोलॉजी और अनन्त के रहस्यों पर जिस प्रकार से बात की गई है, वह पाठक के चिंतन के धरातल को और विस्तृत करेगा। अंत में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान के महत्व को देखते हुए हिंदी उपन्यास साहित्य ने भी उसको अपना विषय बनाना शुरू कर दिया है। जब विषय ही अन्य उपन्यासों से बहुत अलग हो तो वह एक अलग प्रवृत्ति के रूप में स्थापित हो जाता है। हिंदी में संजीव के इस उपन्यास ने अपनी अलग जगह बनाई है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिक गर्भ से पैदा हुए उपन्यास साहित्य अपने जन्मकाल से ही विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सरेकारों से संपृक्त रहा है। यह साहित्य विधा कथ्य की अभिव्यक्तियों में सर्वाधिक असरदार रही है। यही कारण है कि हिंदी उपन्यास का विकास द्रुतगति से हुआ और इसकी परिधि में तमाम हलचलें अपने आप समाहित होती गईं। उपन्यास का वर्तमान परिदृश्य या यों कहें कि 21वीं सदी में उपन्यास विधा अधिक विस्तृत और व्यापक दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इसमें समय कोई भी हो सकता है – हजारों साल पीछे का सुदूरवर्ती अतीत जो अब विस्मृति के धुन्ध और धुँधलके में खो चुका है या फिर वह समय जो भविष्य के रूप में अभी आने वाला है। उसके पैर उसके अपने समय में ही होते हैं, पर अतीत और भविष्य की भी उपन्यास में अपने जन्म से अब तक अपनी जरूरतों के हिसाब से अनके प्रविधियाँ तलाश की हैं और अभी भी इस तलाश का कोई अन्त नहीं है। इस प्रक्रिया में उसने स्वयं को इतना बदला है कि उसके आरम्भिक रूप से उसकी पहचान करना असम्भव लगता है।

यही कारण है कि उपन्यास साहित्य में 21वीं सदी अपने नए एवं विविधतापूर्ण आकार में मौजूद दिखाई देती है, जो पहले के सदी में कहीं नहीं दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त उपन्यास साहित्य ने 21वीं सदी के सामज में होने वाले तमाम उतार-चढ़ाव को समेटता है। इस सदी ने विमर्श को प्रवृत्ति के रूप में तर्जीह देते हुए उन सभी मुद्दों को प्रवृत्ति का आकार दिया है जो अब तक लगभग नदारद थे जैसे ट्रांसजेंडर, लिव इन रिलेशनशिप , समलैंगिकता, सूचना क्रांति, विज्ञान लेखन आदि। इतना ही नहीं जो प्रवृत्तियाँ पहले से चली आ रही थीं 21वीं सदी के उपन्यास साहित्य ने उनमें हुए बदलाओं को भी रेखांकित किया है। फिर चाहे वह किसानों की त्रासदी का चरम दौर हो या फिर सांप्रदायिकता का बदलता हुआ स्वरूप। इस सदी ने इन सभी प्रवृत्तियों को महत्व देते हुए बड़ी ही साफगोई से कलम चलाई है।

संदर्भ सूची

1. प्रेमचंद और भारतीय किसान, डॉ. रामबक्ष जाट, पृ सं. - 34
2. उपन्यास वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, पृ सं. - 22
3. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, पृ सं. - 79
4. वही, पृ सं. - 83
5. अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ सं. - 170
6. वही, पृ सं. - 150
7. वही, पृ सं. - 17
8. फाँस, संजीव, उपन्यास के फ्लैप से साभार
9. हंस, राजेन्द्र यादव (संपा.) जनवरी, 1999, पृ सं. - 15
10. कैसी आगी लगाई, असगर वजाहत, पृ सं. - 235
11. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, पृ सं. - 150
12. वही, पृ सं. - 268
13. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, पृ सं. - 327
14. वही, पृ सं. - 321
15. वही, पृ सं. - 150
16. वही, पृ सं. - 150
17. वही, पृ सं. - 276
18. मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृ सं. - 34
19. वही, पृ सं. - 38-39
20. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ सं. - 58
21. वही, पृ सं. - 93
22. वही, पृ सं. - 62
23. तिनका तिनके पास, अनामिका, पृ सं. - 60
24. विजन, मैत्रेयी पुष्पा, पृ सं. - 41
25. वही, पृ सं. - 14
26. शेष कादम्बरी, अलका सरावगी, पृ सं. - 78
27. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश बाल्मीकि, पृ सं. - 15
28. वही, पृ सं. - 16
29. डंक, रूपनारायण सोनकर, पृ. सं.29
30. वही, पृ. सं. - 34
31. सूअरदान, रूपनारायण सोनकर, पृ सं. - 83
32. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, ठाकुर डॉ. हरिनारायण, पृ सं. - 495
33. संपादक की कलम से, आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगा सहाय मीणा (संपा.) पृ सं. - 9
34. छैला सन्दु, मंगल सिंह मुण्डा, पृ सं. - 158
35. लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृ सं. - 116
36. वही, पृ सं. - 116
37. थर्ड जेंडर विमर्श, शरद सिंह, (संपा.) पृ सं. - 10-11
38. वही, पृ सं. - 11
39. विजेन्द्र प्रताप सिंह, जनकृति, कुमार गौरव, (संपा.) अंक-18, vol.-2 अगस्त, 2016
40. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ सं. - 21
41. गुलाम मंडी, निर्मला भुराड़िया, पृ सं. - 37

42. सागर दिनकर, शरद सिंह, 27 जुलाई, 2010, पृ सं. - 4
43. यमदीप, नीरजा माधव, पृ सं. - 27
44. https://hi.wikipidia.org date : 15/12/2018, time 10.32am
45. http://www.hindikiduniya.com/social-issues/homosexuality/ date : 15/12/2018, time 10.32am
46. http://www.hindikiduniya.com/social-issues/homosexuality/ date : 01/12/2018, time 09.01am
47. https://wwwbbc.com/hindi/india-45429892 date : 15/12/2018, time 10.32am
48. तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ सं. - 57
49. 'कम्पलसरी हेट्रोसेक्सुअलिटी एंड लेस्बियन इक्जस्टेंस', पृ सं. - 51
50. गोदान, प्रेमचंद, पृ. सं.
51. कस्बाई सिमोन, शरद सिंह, पृ सं. - 14
52. वही, पृ सं. - 11
53. वही, पृ सं. - 13
54. सूचना समाज, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. सं. - 21
55. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पूरनचन्द्र जोशी, पृ सं. - 89-90
56. मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृ सं. - 14
57. वही, पृ सं. - 105
58. वही, पृ सं. - 139
59. पासवर्ड, कमल कुमार, पृ सं. - 10
60. शिगाफ, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं. 13-14
61. http://www.hindisamay.com date : 16/07/2018, time 11.32am
62. htt://www.rachnakar.org date : 09/07/2018, time 02.32pm
63. रह गई दिशाएं इसी पार, संजीव, पृ.सं. - 9
64. वही, पृ.सं. - 135
65. रह गईं दिशाएँ इसी पार, संजीव, भूमिका, राजेन्द्र यादव, पृ. सं. - 10
66. रह गई दिशाएं इसी पार, संजीव, पृ.सं. - 107
67. रह गईं दिशाएँ इसी पार, संजीव, भूमिका, राजेन्द्र यादव, पृ. सं. - 10

अध्याय - 5

21वीं सदी के उपन्यास और उसके आलोचना सिद्धान्त

(5.1) किसान जीवन पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.2) सांप्रदायिकता पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.3) अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंधों पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.6) सूचना क्रांति पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.7) विज्ञानमूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

(5.8) उपन्यासों में शिल्पगत बदलाव और आलोचना सिद्धांत

(5.9) हिंदी की अन्य विधाओं के आलोचना सिद्धांत और उपन्यास आलोचना

21वीं सदी के उपन्यास और उसके आलोचना सिद्धान्त

इस अध्याय में मैंने 21वीं सदी के उपन्यासों पर उपन्यास आलोचना के उद्भव से लेकर अब तक विकसित सिद्धान्तों को कसकर देखा है कि यह सिद्धान्त इन उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए कितना सक्षम हैं ? हैं भी या नहीं ? क्या 21वीं सदी के उपन्यासों को सम्पूर्णता में अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के लिए नये सिद्धान्तों को गढ़ने की आवश्यकता है ? इसके साथ ही इस अध्याय में यह भी देखने की कोशिश की है कि क्या किसी अन्य विधा की समृद्ध आलोचना के सिद्धांतों द्वारा उपन्यासों के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में सहायता मिल सकती है ? यदि हाँ तो वे कौन-कौन से सिद्धांत हैं ? क्या वे सिद्धांत उपन्यास आलोचना के नए सिद्धान्तों को बनाने में सहायक हो सकते हैं ? आदि प्रश्नों को केन्द्र में रखकर विस्तार से चर्चा करना जरूरी हो जाता है।

(5.1) किसान जीवन पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

उपन्यासकार संजीव का बहुचर्चित उपन्यास 'फाँस' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह किसान जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास में संजीव ने देश भर के लगभग पिछले दो दशकों से बढ़ रही किसानों की आत्महत्याओं के मुद्दे को आधार बनाया है। इसमें महाराष्ट्र के यवतमाल जिले के गाँव बनगाँव का चित्रण किया गया है, साथ ही इसमें आंध्रप्रदेश व कर्नाटक के किसानों सहित भारत के उन सभी किसानों की कथा कही गई है, जिन्हें पहले जीएम बीजों का इस्तेमाल करने के लिए फुसलाया गया और फिर उन्हें कर्ज दिया गया। लेकिन कुछ सूखे की मार और फिर कुछ प्रकृति के साथ अनाचार के कारण सीधे-सादे किसानों की जिन्दगी कर्ज और सूखे के बोझ तले दबी हुई आत्महत्या की तरफ बढ़ गई। उपन्यासकार संजीव ने बहुत ही ज्वलंत मुद्दा चुना है क्योंकि 'फाँस' में पहली बार प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद किसानों और गाँव की पूरी जिंदगी के दर्द को तथा कसमसाहट को सामने लाया गया है। इस उपन्यास का नायक है शिबू, जो एक किसान है तथा अंत तक आते-आते आत्महत्या करने को मजबूर है। एक तरफ जहाँ 'गोदान' का नायक बंधुआ मजदूर बनने को मजबूर था और लू लग जाने से अपने प्राण गवां बैठा था वहीं दूसरी तरफ 'फाँस' का शिबू कर्ज में इतना डूब जाता है कि उसे आत्महत्या करनी पड़ती है।

इसके अलावा यह उपन्यास सिर्फ किसानों की समस्याओं, उनकी दयनीय दशा एवं दुर्दशा तथा उनकी आत्महत्याओं का ही भयावह सत्य नहीं प्रस्तुत करता है बल्कि किसानों को समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक पहलुओं के साथ-साथ क्षेत्र विशेष में अच्छी पैदावार देने वाली फसलों, फसलों की किस्मों व उन्नत बीजों, उर्वरकों एवं कीटनाशकों के प्रयोग, खाद बनाने की विधि, खेती करने की सही विधियों-प्रविधियों आदि के बारे में भी बतलाता है। भूमण्डलीकरण को बढ़ावा देने वाली नीतियों, इसे संचालित करने वाली अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं (जैसे-बैंक, गाट, आइ.एम.एफ.) के साथ सरकार और कॉर्पोरेट की साठ-गाँठ, उदारीकरण के नाम पर बाजारवाद, उपभोक्तावाद को दिये जरा रहे बढ़ावे तथा नव आर्थिक नीतियाँ का पर्दाफाश किया है। इस उपन्यास के

दो पक्ष दिखाई देते हैं एक पक्ष किसानों की समस्याओं एवं उनकी आत्महत्याओं की पड़ताल करता है तो दूसरा पक्ष समस्याओं के समाधान खोजता हुआ आगे बढ़ता है । इस खोज में शामिल हैं, मृतकों के परिजन जिनमें सुनील का बेटा बिजयेन्द्र, शिबू और शकुन की छोटी (कलावती) तथा बड़ी (सरस्वती), शकुन, सिंधुताई, अशोक, मंगल मिशन वाला मल्लेश, विजय राव नाना तथा सबके लिए आदर्श गाँव 'माँडालेखा' के दलित दादा जी खोबरागडे जी । इन लोगों को पता है कि आत्महत्या या जान दे देने से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला, यदि व्यवस्था को बदलना है तो लड़ना होगा । ये लोग 'मंथन' जैसी संस्था का गठन भी इसी उद्देश्य से करते हैं । इस प्रकार यह उपन्यास हमारे सामने केवल सवालों के पहाड़ ही नहीं खड़ा करता है बल्कि उसका समाधान भी हमें सुझाता है । इसके अतिरिक्त उपन्यास में उपन्यासकार संजीव ने स्त्रियों की समस्याओं तथा आदिवासियों के विकास और विस्थापन तथा उनके जल-जंगल, जमीन एवं संसाधनों के अधिकार-क्षेत्र आदि का भी यथार्थ के धरातल पर विस्तार से वर्णन किया है । यह तो थी इस उपन्यास की मूल कथा की बात । अब सवाल उठता है कि इतने महत्वपूर्ण और विस्तृत विषय को अपने में समेटे हुए उपन्यास को कैसे और किस उपन्यास आलोचना सिद्धांत से जाँचा-परखा जाए ? जिससे उसका सही और पूर्ण रूप से मूल्यांकन हो सके ।

उपरोक्त सवाल को ध्यान में रखते हुए अगर हम देखतें हें तो उपन्यास साहित्य का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करने के लिए हमें तमाम पद्धतियाँ नजर आती हैं, जैसे - आधुनिकतावादी, रूपवादी, नई समीक्षा, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, शैलीविज्ञान, आदि । अब अगर हम उपन्यास साहित्य पर इन पद्धतियों को कस कर देखें तो इनकी सीमाएं नजर आने लगती हैं क्योंकि उपन्यास के समय, परिवेश, विचारधारा, यथार्थ, उपन्यासकार के अनुभव के साथ-साथ उसका शैल्पिक चुनाव आदि तत्व रचना को महत्वपूर्ण बनाते हैं । लेकिन इन पद्धतियों के बारे में देखें तो पता चलेगा कि आधुनिकतावाद के विकास के समानांतर आलोचना में भी यथार्थवाद-विरोध की प्रवृत्ति विकसित हुई है । वैसे तो आलोचना में यथार्थवाद के विरोध का इतिहास बहुत पुराना है, लेकिन 20वीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक के रूसी रूपवादियों ने सबसे पहले यथार्थवाद की सार्थकता पर सवाल उठाया । बाद में अमेरिकी नई समीक्षा में समाज से रचना की स्वतंत्रता पर जोर-देते हुए यथार्थवाद की जड़ काटने की कोशिश की गई । नई समीक्षा के आलोचकों ने कृति के सत्य की संगति के लिए समाज से उसकी संवादिता का विरोध करते हुए कृति की आत्मनिर्भरता आंतरिक संगति को महत्व दिया और साहित्य की पूरी प्रक्रिया को सामाजिक संदर्भ से स्वतंत्र या अलग घोषित कर दिया । इस यथार्थवाद विरोधी अभियान का अधिक व्यवस्थित रूप फ्रांसीसी संरचनावाद में विकसित हुआ । संरचनावाद के भाषिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक संबंधी चिंतन में यथार्थवाद का अनेक स्तरों पर विरोध हुआ । रोलां बार्थ, रेने गिरार्ड, जॉक लाका, मिशेल फूको, तोदोरोव और जाक देरिदा आदि के साहित्य विश्लेषण में यथार्थवाद के लिए कोई जगह नहीं है । संरचनावाद के अनुसार साहित्य अनेक भाषिक निर्मितियों में से एक भाषिक निर्मित है, वह एक भाषिक संरचना है और एक संकेत है । मनुष्य संकेतों का निर्माता और पाठक है । संरचनावादी दृष्टि से साहित्य के विवेचन में मानवीय अनुभव और ज्ञान की वस्तु के रूप में रचना की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है, वह एक संकेत है या संकेतों की एक व्यवस्था है । इस तरह कृति और आलोचक के बीच ज्ञाता और ज्ञेय का

संबंध नहीं है, जैसा कि पहले की आलोचना पद्धतियों में था। रचना को पाठ मान लेने के बाद अधिक से अधिक पाठों के बीच के संबंध की खोज ही संभव है और इस प्रक्रिया में साहित्यिक रूढ़ियों और उसकी क्षमताओं की व्याख्या होती है। इसी तरह उत्तर-संरचनावाद में सारा बल पाठ पर ही दिया जाता है। पाठ की सामान्य और गहन संरचना में ही सब कुछ निहित है। समीक्षा पाठ केन्द्रित ही होती है। इसलिए यह पाठ के बाहर के किसी प्रतिमान या आदर्श सिद्धांत को पाठ-समीक्षा के लिए अनावश्यक मानता है। संरचनावादी और उत्तर संरचनावादी मानते हैं कि यथार्थवाद की अवधारणा 19वीं सदी की ऐतिहासिक और विचारधारात्मक स्थितियों की देन है। वह लोकमत में निहित मानववाद और अनुभववाद से जुड़ा हुआ है, इसलिए उसे अभिव्यंजक यथार्थवाद भी कहा गया है। उनके अनुसार उपन्यास कोई यथार्थपरक प्रातिनिधिक रचना नहीं है बल्कि वह संकेतों की एक आत्मनिर्भर व्यवस्था है, जिसमें भाषा की क्रियाशीलता और प्रयोजनशीलता की खोज ही आलोचना का दायित्व है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संजीव के उपन्यास 'फाँस' को जाँचने-परखने और मूल्यांकित करने के लिए यह पद्धतियाँ अक्षम हैं क्योंकि किसान जीवन की त्रासदी या उसकी चरम स्थिति को समझने के लिए यथार्थ के पक्ष में खड़ा होना अति आवश्यक है नहीं तो हम उसका मूल्यांकन सही ढंग से नहीं कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांत तो अपने अंदर तीन केन्द्रीय तत्वों को निहित किए है, वह है पहला समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार, दूसरा तर्कवाद का नकार और तीसरा आधुनिकतावाद की सभ्यता का नकार। इस प्रकार यह सिद्धांत सार्वभौमिक समग्रतावादी सत्यों पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए तार्किकता पर भी प्रश्न चिह्न लगाता है। साथ ही इसमें चिंतन में भाषा की पारदर्शिता के प्रश्न का केन्द्रीय स्थान है। और तो और यह संचार के नए साधनों, सूचना और मीडिया तकनीकी के द्वारा संकेतों को उसके संदर्भ से हटा कर उसका पाठ करने पर जोर देता है। इस प्रकार इतनी सारी अनिश्चितता और तर्कहीनता के साथ-साथ उसे संदर्भ से काटकर 'फाँस' जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास का मूल्यांकन सम्पूर्णता में नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ विखंडनवाद सिद्धांत भी एक अनिश्चिततावादी सिद्धांत है। यह शब्दार्थ के अनिश्चय और नीति के भाव को रेखांकित करता है। उसका मानना है कि किसी पाठ का कोई एक अर्थ, एक परिभाषा निश्चित नहीं होती। यह पाठ को उसकी सम्पूर्णता में न देखते हुए उसे तमाम खंडों में अलगकर देखता है जैसे - भाषा, ध्वनि, संकेत, शब्दार्थ आदि, जिससे उपन्यास के मुख्य अर्थ और उद्देश्य को पकड़ पाने में असमर्थ हो जाता है। दूसरी तरफ शैलीविज्ञान पद्धति है जो कृति का विश्लेषण भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर करता है। यह कृति की कलात्मक रूपाकृति का अध्ययन विश्लेषण करता है। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि शैलीविज्ञान पद्धति 'फाँस' उपन्यास का रूपवादी अध्ययन करेगा जबकि उसमें अभिव्यक्त विचारधारा, उपन्यासकार का अनुभव, यथार्थ महत्वपूर्ण है जिसे हाशिए पर नहीं डाला जा सकता, और न ही यह करने से उपन्यास के मर्म तक ही पहुँचा जा सकता है। इस तरह शैलीविज्ञान की भी सीमाएँ हमें दिख जाती हैं।

मनोविश्लेषणवादी आलोचक साहित्य या कला-सृजन को स्वप्न सिद्धांत से जोड़ते हुए उसे नितांत वैयक्तिक मानते हैं। डॉ. अमरनाथ ने अज्ञेय के शब्दों को उद्धृत करते हुए लिखा है ''यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं है तो उसकी प्रेरणा शक्ति एक निगूढ़ और अत्यंत

व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।''[1] इस तरह मनोविश्लेषणवादी आलोचकों ने उसी साहित्य को उत्कृष्ट माना है जो जीवन शक्ति प्रदान करने में समर्थ हो। यह सिद्धांत रचना में आये पात्रों के मन:स्थिति के साथ-साथ उसकी वैयक्तिता को प्रमुखता देता है। इसीलिए मनुष्य के मन में चलने वाले तमाम तरह के द्वंद्वों को आधार बनाकर मनोविश्लेषणवादी आलोचक उसका मूल्यांकन करते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि संजीव के 'फाँस' उपन्यास में किसान तमाम तरह की मनोस्थिति से गुजरते जरूर हैं लेकिन उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ हैं जिसके चलते उन्हें आत्महत्या करने को विवश करती हैं और जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। इसलिए मनोवश्लेषणवादी सिद्धांत 'फाँस' उपन्यास को सही तरह से जाँचने-परखने तथा उसका मूल्यांकन करने में अक्षम दिखाई पड़ता है।

इसके अतिरिक्त अब बात अगर समाजशास्त्रीय उपन्यास आलोचना पद्धति की करें तो यह सबको पता है कि यह पद्धति अपने अन्तर्गत मार्क्सवादी आलोचना पद्धति साथ ही संरचनावादी पद्धति को लेकर भी समाजशास्त्रीय अध्ययन मूल्यांकन करती है। जिसके बारे में मैनेजर पांडेय लिखते हैं ''फ्रैंकफुर्त समुदाय के आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों में से एक लियो लावेंथल ने आलोचात्मक समाजशास्त्र की दृष्टि से उपन्यासों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने संरचनावाद की पद्धति के सहारे उपन्यास का समाजशास्त्र विकसित करने का प्रयास किया है। गोल्डमान ने मार्क्सवाद और संरचनावाद के बीच एकता स्थापित करते हुए उत्पत्तिमूलक संरचनावाद की पद्धति से एक नए ढंग के उपन्यास का समाजशास्त्र विकसित किया है।''[2] मैनेजर पांडेय की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धांत अपने अंतर्गत कई सिद्धांतों को समेटे हुए है और यह धुर विरोधी पद्धतियाँ जो एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। इससे एक और बात सामने आती है वह यह कि इसका कोई एक पैटर्न न होने कारण अगर यह पद्धति एक ही उपन्यास को इन दोनों पद्धतियों को बारी-बारी कर लागू कर देखती है तो एक ही उपन्यास के दो अलग-अलग नतीजे निकलेंगे। जो न तो सही लगता है और न ही व्यावहारिक। कुल मिलाकर यह एक खिचड़ी आलोचना सिद्धांत है जो अपनी व्यावहारिकता में तमाम अन्तर्द्वंद्वों को एक-साथ समेटे हुए है जिसके कारण यह इस उपन्यास का उचित एवं संपूर्ण अध्ययन मूल्यांकन करने में अक्षम दिखाई देता है।

इसके साथ ही एक और पद्धति के रूप में हमारे सामने सबाल्टर्न पद्धति आती है। जिसे अब इतिहास अध्ययन की 'सबाल्टर्न' (निम्नवर्गीय प्रसंग) पद्धति के रूप में जाना जाता है। इटली के मार्क्सवादी विचारक एंतोनियो ग्राम्शी ने प्रभुत्वकारी वर्ग के समानान्तर 'सबाल्टर्न' की परिकल्पना की थी। ''सबाल्टर्न' या 'निम्नवर्गीय' शब्दावली से हमारी मुराद हर प्रकार के प्रभुत्व और मातहती के दर्जे को – चाहे वह आर्थिक या सांस्कृतिक शक्ति, बाहुबल या सेना, या फिर वर्ण, जाति या लिंग की 'श्रेष्ठता' के आधार पर हो – इतिहास में दर्शाने की थी।''[3] यह पद्धति ये दावा तो जरूर करती है कि यह रचना या उपन्यास में अभिव्यक्त हाशिए के लोगों को केन्द्र में रखकर रचना का अध्ययन मूल्यांकन करती है। लेकिन विडम्बना यह है कि इस पद्धति के अध्ययन मूल्यांकन का कोई एक पैटर्न नहीं है इसके बरअक्स यह कहीं किंवदंती तो कहीं अंधविश्वास को अपना आधार बनाता है तो कहीं किसी और तत्व को। यह

पद्धति मूलत: केस स्टडी करती है। इन्हीं कारणों के चलते यह कार्य-कारण संबंधों के साथ ऐतिहासिकता की तलाश नहीं करता। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इसका आधार बहुत कमजोर है इससे अधिक वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन, विश्लेषण, मूल्यांकन पहले ही मार्क्सवादी पद्धति कर चुकी है। कुल मिलाकर यह पद्धति भी संजीव का उपन्यास 'फाँस', जो अपनी पूरी क्षमता में किसान जीवन की विडम्बनाओं, समस्याओं तथा आत्महत्या से जूझते हुए संघर्षों को समेटे हुए है का सम्पूर्णता में अध्ययन, मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं दिखाई देती है।

अब अगर यथार्वादी पद्धति को देखें तो उसमें यथार्थवाद को दो भागों में बाँटकर देखा गया है जिसके चलते आलोचनात्मक यथार्थवाद की तो खुद ही सीमाएं सामने आ जाती हैं क्योंकि पूंजीवादी या साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं के बीच पैदा होने के कारण 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' उस समाज के प्रति एक आलोचनात्मक रवैया अपनाता है, विकल्प के सवाल पर वह स्पष्ट नहीं होता। अधिक हुआ तो वह उस व्यवस्था का एक काल्पनिक चित्र ही प्रस्तुत कर देगा, क्योंकि समाजवाद उसके अनुभव की वास्तविकता नहीं है। लेकिन समाजवादी यथार्थवाद, मार्क्सवादी विचारधारा के ही अंतर्निहित दिखाई देता है। इसीलए यथार्थवाद के बारे में शिव कुमार मिश्र लिखते हैं ''यथार्थवादी साहित्य-चिंतन का सबसे प्राणवान रूप मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन में दृष्चिगोचर होता है।''[4] इस प्रकार अब यदि मार्क्सवादी पद्धति को लें तो हम देखते हैं कि यह दृष्टि अपने सैद्धान्तिक व व्यावहारिक धरातल पर अभी तक जितनी पद्धतियों का विकास हुआ है उनमें से अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में सामने आयी है। यह पद्धति ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को केन्द्र में रखकर समाज में व्याप्त गैरबराबरी के चलते शोषित वर्ग अपने हक और हकूक को पाने के लिए और समाज में समाजवाद को स्थापित करने के लिए उस सत्ताधारी वर्ग के खिलाफ जो संघर्ष करता है, उस वर्ग संघर्ष को तरजीह देती है। यह सच है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद ऐतिहासिक विकास के नियामक सिद्धान्त या बुनियादी कारक को आर्थिक आधार में देखता है। अब अगर हम संजीव के उपन्यास 'फाँस' को ही देखें तो यह पद्धति इसमें अभिव्यक्त किसान की आत्महत्याओं के सबसे बड़े व मुख्य कारण को उद्घाटित करती हुई नजर आती है, जैसे - ''इस देश का किसान कर्ज में जन्म लेता है,कर्ज में जीता है, कर्ज में ही मर जाता है।''[5] हालाँकि यह सच भी है अपने बाप का कर्जा उतारते-उतारते किसानों की जिंदगियाँ खत्म हो जाती हैं लेकिन किसानों की आत्महत्याओं के मूल में आर्थिक समस्या को उजागर किया गया है। इस तरह यह पद्धति उपन्यास में आत्महत्याएं करने वाले किसानों सुनील, विट्ठल, शिबू और आशा जैसे पात्रों का अध्ययन मूल्यांकन कर उसके कारणों की तह तक जाती है। और साथ ही यह पद्धति उपन्यास में अभिव्यक्त किसानों के संघर्षों को भी उजागर करने में भी सक्षम दिखाई देती है। लेकिन जब बात आती है इस उपन्यास में अभिव्यक्त स्त्रियों तथा आदिवासियों के जीवन की विडम्बनाओं, तथा उनके जल-जंगल, जमीन और संसाधनों के अधिकार-क्षेत्र आदि की जिसे उपन्यासकार ने बहुत यथार्थपूर्ण ढंग से वर्णन किया है तब वहाँ पर इसकी सीमाएं दिख जाती हैं। चूँकि यह सच है कि यह पद्धति अपने आधार के अन्तर्गत केवल आर्थिक प्रक्रिया का यांत्रिक और निष्क्रिय परिणाम मानता है जिसके चलते अस्मितामूलक साहित्य की उपेक्षा कर बैठती है। इसके चलते यह पद्धति जितनी अच्छी तरह से किसान

जीवन की समस्याओं तथा विडम्बनाओं का अध्ययन एवं मूल्यांकन करती है वैसा उपन्यास में अभिव्यक्त स्त्रियों और आदिवासियों के जीवन की जटिलताओं तथा समस्याओं और उनके शोषण को विश्लेषित कर मूल्यांकन नहीं कर सकती।

(5.2) सांप्रदायिकता पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आखिरी कलाम' 1992 के 'बाबरी-ध्वंश' और उसके बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों को आधार बनाकर लिखा गया है। उपन्यासकार ने उपन्यास का जो ताना-बाना बुना है, उसके समूचे में प्रो. तत्सत पांडेय की आत्मग्लानि से भरी बड़बड़ाहट पहले पन्ने से लेकर उन आखिरी पन्नों तक फैली हुई है, जिन पर कारसेवकों का तांडव, फौजी बूटों का आतंक, कर्फ्यू का सन्नाटा और दिसंबर की कड़ाके की ठंड एक साथ मौजूद हैं। उपन्यास इसी शोर और सन्नाटे का मिला-जुला करूण संगीत है जिसे सुनते हुए ऐसा लगता है कि हिंसक कार-सेवकों की भीड़ में तत्सत पाण्डेय, सर्वात्मन और बिल्लेश्वर निरीह, निरुपायों की तरह फँस गए हैं जिसका परिणाम आचार्य जी के जीवन के अंत से होता है। आचार्य जी कराहते हुए कहते हैं - ''मुझे घर ले चलो सर्वात्मन। आचार्य जी के मुँह से आर्त भाव से निकला। फिर एक हिचकी।''[6] इसके साथ ही प्रो. तत्सत पांडेय के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने वैज्ञानिक चेतना, आधुनिक दृष्टि व गहरे नैतिक विवेक से लैस नेहरू की उस समकालीन पीढ़ी की पराजय-गाथा को दर्ज किया है जिसके राष्ट्रीय आदर्श व राजनीतिक मूल्य चेतना 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद के ध्वंस के साथ कहीं गहरे दफन हो गए। बाबरी मस्जिद ध्वंस के तीन दिनों पूर्व से लेकर तीन दिनों बाद तक के अयोध्या प्रवास के दौरान, तत्सत पांडेय की मृत्यु-पूर्व का यह 'आखिरी कलाम' भारतीय सत्ता तंत्र तथा सामाजिक संरचना के विविध पहलुओं का जो विवेचन करता है, वह मौलिक होने के साथ-साथ अत्यंत साहसपूर्ण तथा बेलाग है। तत्सत पांडेय के विचार ही लेखक के विचार माने जा सकते हैं, जिसके माध्यम से ही उपन्यासकार समाज में घटित-घटनाओं पर भाष्य करता है। खगेन्द्र ठाकुर उपन्यास 'आखिरी कलाम' के मूल कथ्य बारे में लिखते हैं ''भारतीय समाज और राजनीति के बढ़ते हुए रूढ़िवाद, अंधविश्वास और धर्मतांत्रिक राजनीति के अभिमानों के फलस्वरूप बढ़ता हुआ उन्माद और उसके प्रभाव से पैदा हुआ आतंक है।''[7] अब सवाल यह है कि ऐसे गम्भीर और वृहत उपन्यास को कैसे जाँचा-परखा तथा मूल्यांकित किया जाय जिससे उसके मूल उद्देश्य को रेखांकित किया जा सके ?

उपरोक्त प्रश्न पर विचार करते हुए यदि हम उपन्यास की संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद पद्धति को लें तो एक महत्वपूर्ण बात सामने आती है वह यह कि संरचनाद, उत्तर-संरचरनावाद रचना या उपन्यास के रूप पर ज्यादा महत्व देती हैं। जबकि संरचनात्मक महत्व ही किसी कृति को महान या कालजयी नहीं बनाता है। और बात हो अगर 'आखिरी कलाम' जैसे उपन्यास की तो वहां तो यह बात और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि इस उपन्यास में उपन्यासात्मक तोड़-फोड़ तो दिखाई देती है लेकिन यह तोड़-फोड़ महज संरचनात्मक ही नहीं है बल्कि एक वैचारिक तोड़-फोड़ है, जहाँ बहुत-सी स्वीकृत मान्यताएं और निर्मितियाँ ध्वस्त हो जाती हैं। 'धर्म' को खारिज करते हुए 'धर्मनिरपेक्षता' पर सवाल खड़ा करना आज

के समय में सबसे बड़ी तोड़-फोड़ है। खासकर तब और भी जब 'धर्मनिरपेक्षता' के आध्यात्मीकरण, धर्म के 'लिबरेशन थियोलॉजी' में रूपान्तरण तथा 'रामकथा' को साम्प्रदायिकता विरोधी इस्तेमाल के तर्क दिए जा रहे हों, सच तो यह है कि उपन्यास में यह एक ऐसा वैचारिक अस्त्र है जो अपनी पूरी आक्रामकता के साथ हिंदी में पहली बार अभिव्यक्त हुआ है। इसके साथ ही आज जब बाबरी मस्जिद के ध्वंस और गुजरात 2002 के बाद सांप्रदायिक फासीवाद एक दु:स्वप्न नहीं बल्कि वास्तविकता बन गया हो और यह उपन्यास उन कारकों की पहचान कराता हो जिनसे मानस बनता है तो ऐसी स्थिति में उसकी संरचनात्मकता गौण और वैचारिकता ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है। यह उपन्यास जहाँ एक तरफ धर्मोन्मादी फासीवाद की निर्माण प्रक्रिया से साक्षात्कार कराता है तो वहीं दूसरी तरफ उसके मूल उत्स पर प्रहार का भी आवाहन करता है। ऐसे उपन्यास का मूल्यांकन संरचनावादी तथा उत्तर संरचनावादी पद्धति से नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ अगर बात करें शैलीविज्ञान पद्धति की तो उसमें जोर वस्तुगतता पर होता है जबकि साहित्यिक अध्ययन में आत्मगत तत्व ज्यादा सक्रिय होते हैं। शैलीविज्ञान का दावा है कि उसके निष्कर्ष प्रतिलिपिमूलक हैं। अब कोई पाठ का अध्ययन शैलीवैज्ञानिक तौर पर करना चाहेगा तो उसे वही निष्कर्ष फिर हासिल होंगे। इस लिहाज से किसी पाठ का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन बहुत जड़ परिणाम देने वाला साबित होता है। कुछ शैलीवैज्ञानिक तो चित्र और नक्शा आदि के जरिए भी निष्कर्ष देने लगते हैं। विश्लेषण का पक्ष बिलकुल छूट जाता है और संदर्भ से काट कर किसी पाठ की भाषा का अध्ययन करने लगता है। ऐसी स्थिति में शैलीवैज्ञानिक अध्ययन बहुत दूर तक मदद नहीं करता बल्कि पाठ के सटीक अर्थ तक पहुँचने से भ्रमित करता है। इस तरह दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'आखिरी कलाम' को शैलीविज्ञान पद्धति से भी मूल्यांकित नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त अगर बात करें आधुनिकतावादी सिद्धांत की तो यह सच है कि आधुनिकतावादी सिंद्धांत के दौर में ही तो साहित्य या कला में यथार्थ के विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ था। नई समीक्षा आलोचना पद्धति तो रचना या उपन्यास की स्वतंत्रता पर जोर देती हुई उसे उसके समय, परिवेश और वास्तविकता या यथार्थ से काट देती है और मैं समझती हूँ जिसके चलते उपन्यास का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ रूपवादियों ने तो सबसे पहले ही रचना या उपन्यास की वास्तविकता की सफलता पर प्रश्न चिन्ह लगाया था। कुल मिलाकर यह पद्धति भी रचना या उपन्यास के शिल्प या कलात्मकता पर ही ज्यादा जोर देती है। विखंडवादी सिद्धांत तो पाठ को स्वतंत्र मानते हुए उसे खंड-खंड कर अध्ययन, मूल्यांकन करने में विश्वास रखता है और कहता है कि रचना में निहित कोई एक समग्रतावादी अर्थ नहीं हो सकता। इसके अलावा उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांत के लिए भी कोई एक यथार्थ सत्य नहीं होता बल्कि बहुत सारे यथार्थों को सत्य मानता है। वह कहता है कि रचनाकार अपनी रचना में जो लिखता या जो लिखना चाहा है उसे पाठक को पूछने की जरूरत नहीं बल्कि पाठक अपनी समझ से अर्थ ग्रहण कर सकता है। इस तरह पाठक पाठ पढ़ते हुए एक नए यथार्थ को गढ़ता है इसीलिए वह 'The Death of the Author' की भी घोषणा कर देता है। इस तरह यह सिद्धांत या पद्धतियाँ दूधनाथ सिंह के उपन्यास आखिरी कलाम को समग्रता में रेखांकित कर मूल्यांकन करन में अक्षम हैं।

यह सच है कि मनोविश्लेषणवादी आलोचक उपन्यास को वैयक्तिक रचना मानकर उसमें अभिव्यक्त पात्रों की मन:स्थिति को केन्द्र में रखकर उसके मन में चल रहे तमाम तरह के द्वंद्वों का मूल्यांकन करती है जबकि यह पद्धति और सभी तत्वों को गौण मानक उसे अनदेखा कर देती है। हालाँकि 'आखिरी कलाम' उपन्यास में पात्र – तत्सत पांडेय, सर्वात्मन, बिल्लेश्वर, मिसिरजी, गायत्री, अचेतानन्द आदि की मन:स्थिति का विवेचन तो है लेकिन इन पात्रों के ऊपर सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव को ज्यादा अच्छे ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसलिए यह पद्धति उपन्यास के मूल्यांकन के एकतरफा तरीके को अपनाती है न कि सम्पूर्णता को। कुल मिलाकर यह पद्धति केवल मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों को ही मूल्यांकित करने में सक्षम दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त अगर हम 'सबाल्टर्न हिस्टोरियोग्राफी पद्धति' को लें और इस उपन्यास को इस पर कसें तो पातें हैं कि यह पद्धति बात तो दलित, वंचित, दबाये-सताये तथा हाशिए के लोगों की करती है लेकिन कृति में अभिव्यक्त इन अस्मिताओं को केन्द्र में रखकर रेखांकित कर मूल्यांकन करने का कोई एक नक्शा नहीं है अपनी सुविधानुसार यह अपने आधार बदल देती है जिसके चलते यह उपन्यास में अभिव्यक्त समस्याओं के कारणों के तह तक जाने में असमर्थ हो जाती है। इसीलिए उपन्यास को सही ढंग से मूल्यांकन करने में अक्षम दिखाई देने लगती है। इसी तरह अगर बात करें समाजशास्त्रीय उपन्यास आलोचना पद्धति की तो देखतें हैं कि यह बात तो करती है साहित्य में अभिव्यक्त समाज की सभी संस्थाओं (सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि) का गहराई से अध्ययन मूल्यांकन करने की लेकिन इसका कोई एक पैटर्न नहीं होता है। कभी यह पद्धति उपन्यास का अध्ययन करने के लिए मार्क्सवादी पैटर्न को अपना हथियार बनाती है तो कभी संरचनावादी सिद्धांत को। इसलिए यह पद्धति 'आखिरी कलाम' उपन्यास के जो नतीजे निकालेगी वह उपयोगी न होकर भ्रांमक ही होंगे।

अब अगर ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवादी उपन्यास आलोचना सिद्धांत को लें तो हम देखते हैं कि यह पद्धति ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को केन्द्र में रखकर समाज में हो रहे वर्ग संघर्ष को तरजीह देती है। यह सच है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद ऐतिहासिक विकास के नियामक सिद्धान्त या बुनियादी कारक को आर्थिक आधार में देखता है। जिसके चलते और सभी कारण गौण हो जाते हैं। साथ ही यह अर्थ को महत्वपूर्ण कारण मानते हुए वर्ग संघर्ष को भी तरजीह देती है। जिसके कारण यह पद्धति उपन्यास के इस प्रसंग को बखूबी रेखांकित कर सकती है कि अयोध्या की बाबरी मस्जिद के पिछवाड़े की मुस्लिम बस्तियों के लोगों में भय, निराशा, अलगाव, बेबसी और पलायन की स्थितियों की जो कथा छवियां दूधनाथ सिंह ने उपन्यास में रची हैं, वे इस उपन्यास की कितनी मार्मिक व अर्थपूर्ण प्रसंगों में से हैं। उपन्यास की ये पंक्तियाँ कितनी महत्वपूर्ण हैं ''खसरा में हमीं है हुजूर! नजूल की जमीनों के पट्टेदार भी हमीं हैं हुजूर! मौरुसी हक है। अभी तो हम जोत-बो रहे हैं लेकिन कब ले लेंगे, पता नहीं, कोई मुआवजा नहीं। आधा-तीहा देते हैं। जो मुसलमान हैं, वे अपना पट्टा 'होल सेल' बेच सकते हैं। अब पट्टेदार हम, रामआसरे दास ने कब्जा ले लिया। क्या हो सकता है! मजूरी से पेट काटकर कब तक लड़ते हुजूर! और फिर कतल-खून की धमकी दिन-रात अलग से।''[8] ये वे मुसलमान हैं, ''जिनके दादा

राजा अयोध्या के उन्तालिस साल तक दर्जी रहे। 32 से 39 तक नगर कांग्रेस कमेटी के मेम्बर रहे। फिर फिर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' से आजादी तक और उसके बाद सन् 49 तक जिला कांग्रेस कमेटी में रहे।''[9] और अब ''ईमान और रोजी-रोटी दोनों पर आ बनी है।'' और बाबरी मस्जिद ध्वंस के दस साल बाद इसी परिवार के मियां जमील घर से बेघर होकर पागलों जैसी हरकतें करते हुए कहते हैं कि ''मेरे कमरे में सियासत हो रही है...बड़ा शोर है ? सोने नहीं देते। अल्लामा इकबाल आए थे। उन्होंने दाढ़ी रख ली है।''[10] धर्म की इन्हीं सारी परिणतियों को लेकर तत्सत पांडेय कुपित हैं उनका सीधा कथन है कि ''जो इस बर्बरता को रोक नहीं सकते, उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा उठा लिया है।''[11] यही कारण है कि 'साम्प्रदायिक फासीवाद' से लड़ने वाली शक्तियां भी उनके निशाने पर आ जाती है। वे चाहे वामपंथी हों, सेक्युलरिस्ट हों या फिर मीडिया के लोग। उपन्यासकार इन सबकी भूमिका, ऊहापोह, नियति, सुविधाजीविता व सैद्धान्तिकी का विमर्श औपन्यासिक कथ्य में यत्र-तत्र विन्यस्त दिखाई देता है।

यह सच है कि 'आखिरी कलाम' उपन्यास में अर्थ, धर्म, जाति, जेंडर, जैसे और तमाम मुद्दों को प्रमुखता दी गई है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। अब सवाल यह खड़ा होता है कि यह पद्धति उपन्यास में अभिव्यक्त स्त्री के मुद्दे को कैसे रेखांकित करेगी जबकि यह अपने मूल कारक के रूप में अर्थ को महत्व देती है। यहाँ पर इस पद्धति की सीमाएं दिख जाती हैं क्योंकि यह पद्धति स्त्रियों के प्रसंग को अस्मिता के रूप में मूल्यांकित करती ? उपन्यास में एक प्रसंग है तत्सत पांडेय की बहू का, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। धर्मग्रंथों और शास्त्रों की मनुष्यविरोधी स्थापनाओं का विरोध करने वाले आचार्य तत्सत पांडेय अपने पारिवारिक जीवन में पुत्र मोह के चलते पुरुष ग्रंथि से मुक्त नहीं हो पाये हैं। उनके अनुसार गायत्री बहू के ही कारण ''उनके छोटे-से खुशहाल और बुद्धिजीवी परिवार में खासा तनाव और सन्नाटा है।''[12] कारण यह कि 'गायत्री एक मेंटल केस है' और तत्सत पांडेय अपने बेटे को 'उसे छोड़ देने' की सलाह देते हैं और 'खा जाएगी ये उसको, हजम कर जाएगी' जैसे लांछनपूर्ण वाक्य भी बोलते हैं। वे उसे कभी माफ नहीं करते। इसके अलावा आचार्य जी की पत्नी भी गायत्री पर 'औरत है कि बाघिन' और 'खा जाएगी मेरे बेटे को' जैसे शब्दों से प्रहार करती है। आचार्य के बेटे माधवानंद का निष्कर्ष है कि ''स्त्रियाँ अपने अधिकार का कैसा दुरुपयोग करती हैं। वे चाहे बौड़म हों या विदुषी, वे परम ढीठ हो जाती हैं। यह इतिहास की किस ग्रंथि की प्रतिक्रिया है जिसमें वे अपना और दूसरों का जीवन नष्ट कर देती हैं।''[13] माधवानंद की यह समूची स्त्री-जाति विरोधी प्रतिक्रिया आचार्य तत्सत पांडेय के उस पारिवारिक माहौल पर टिप्पणी है जिसके बारे में आचार्य जी की बहू सुहासिनी का कहना है कि ''सारी स्त्रियां चुप ही तो हैं इस घर में! कौन बोलता है! कोई बोल सकता है ?''[14] यहां पर उपन्यासकार ने आचार्य तत्सत पांडेय के व्यक्तित्व में मार्क्सवादी सैद्धान्तिक व व्यावहारिक जीवन के दोहरे मानदंड़ों की ओर संकेत किया है। इस समूचे प्रसंग का पटाक्षेप गायत्री और सुहासिनी की स्त्री-दुख की सहभागिता के जिस प्रसंग से होता है उसे भूला नहीं जा सकता। खासकर उपन्यासकार के यह शब्द ''भोर के उस अगम सन्नाटे में एक-दूसरे में बंद दो स्त्रियां नि:शब्द विलाप में एक-दूसरे से लिपटी हुई न जाने कब सो गईं।''[15] यह पुरुषसत्ता की मार खाई दो स्त्रियों की अपने अव्यक्त दुख में स्वाभाविक हिस्सेदारी ही दिखाई देती है। क्या इस पूरे प्रसंग को मार्क्सवादी पद्धति इस तरह निष्पक्ष रूप से रेखांकित करती ? जैसा यहाँ पर किया गया

है, जवाब है, नहीं। इसके अलावा उपन्यास में अभिव्यक्त दलित, पिछड़ी जाति की राजनीति के उभार वाले प्रसंग के साथ भी न्याय नहीं कर पायेगी ? क्योंकि इस पद्धति के लिए अस्मितामूलक प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं हैं इसलिए यह उनकी अनदेखी करती है। जिसके चलते मार्क्सवादी पद्धति से इस महत्वपूर्ण एवं कालजयी उपन्यास का सम्पूर्णता में अध्ययन मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

(5.3) अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

इसमें अस्मितामूलक उपन्यासों के रूप में स्त्री, दलित, आदिवासी आस्मिताओं के द्वारा लिखे गए उपन्यासों को लिया गया है। और फिर यह देखने की कोशिश की गयी है कि अब तक चले आ रहे सिद्धांत क्या इन उपन्यासों का सम्पूर्णता में अध्ययन, मूल्यांकन करने में सफल हो पा रहे हैं ? यदि हाँ तो कहाँ तक और यदि नहीं तो उसके क्या कारण हैं ? आदि सवालों को प्रमुखता दी गयी है।

(5.3.1) स्त्री

'दस द्वारे का पींजरा' नामक बहुचर्चित उपन्यास प्रमुख लेखिका अनामिका की रचना है। यह उपन्यास स्त्री मुक्ति के अनकहे मुद्दों व सवालों के साथ जोड़कर नई व्याख्या करने की मांग करता है। इस उपन्यास के दो खंड हैं। पहले खंड में पंडिता रमाबाई तथा दूसरे खंड में ढेलाबई के जीवन संघर्षों की कहानी कही गई है, जो स्त्री-विमर्श और उसके संघर्षों के तमाम परत खोलता है। साथ ही लेखिका ने अपने इस उपन्यास में नारकीय जीवन जीने वाली चकलाघरों में स्त्री की व्यथा का वर्णन किया है। इसके अलावा लेखिका ने अपनी सहपाठिनी वेश्या मासूमा नाज की भी कहानी कही है कि किस तरह वह अपने सहेली को मौसी के ससुराल जाते वक्त वेश्याओं के मुहल्ले में सजी-धजी खड़ी देख लेती है और लेखिका के देखते वक्त उसकी भी निगाहें उससे मिल जाती हैं जिसके बाद वह कभी स्कूल नहीं आती। इसके लिए लेखिका खुद को जिम्मेदार मानती है। इस तरह मासूम नाज का दर्द लेखिका के लिए नासूर बन जाता है। स्त्री मुक्ति के बारे में अनामिका का मानना है कि इस दुनिया में स्त्री की मुक्ति खोजना धरती के सांस्कृतिक पुल बनाने जैसा मुश्किल काम है लेकिन बिना यह कठिन काम किये दस द्वारे का यह सुंदर पंछी खुले गगन में उड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकता। कुल मिलाकर इस उपन्यास में 19वीं सदी के उत्तर्राद्ध और 20वीं सदी के आरम्भिक वर्षों का लेखा-जोखा दो नायिकाओं रमाबाई और ढेलाबाई के माध्यम से सनातनी कुलीनता की चौखट को तोड़कर स्त्रियों की जगह बनाने की कोशिश की गई है। पीर जी घसियोर और अफसानबाई की बेटी मेहरुबाई ढेल को जन्म देने के तीसरे ही दिन चल बसी ढेल की बेटी ठुमरी और ठुमरी की बेटी कानन। पंडिता रमाबाई और ढेलबाई स्त्री मुक्ति आन्दोलन के साथ क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़कर अपनी जीवन सार्थक बनाती है। उपन्यास का पात्र लोहा सिंह का ऐतिहासिक चरित्र है जो कथावाचक और सूत्रधार का किरदार निभाते हुए सभी पात्रों का परिचय कराता है। अब सवाल यह खड़ा होता है कि ऐसे वृहत एवं महत्वपूर्ण उपन्यास को जाँचने-परखने तथा मूल्यांकित कर उसके उद्देश्य को रेखांकित करने के लिए कौन-सा सिद्धांत उचित है ? और क्यों ?

उपरोक्त सवाल पर विचार करते हुए यदि हम शैलीविज्ञान सिद्धांत को लें और इस पर अनामिका के उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' को कस कर देखें तो निराशा ही हाथ लगती है। चूँकि यह पद्धति एक नए पाठ को समझने के अनेक रास्ते तो खोलती नजर आती है, जैसे व्याकरण का चयन, वाक्यों का चयन कैसा है ? क्यों है ? आदि, मगर इसके अध्ययन का मूलाधार भाषा ही है। सुधा सिंह तो शैलीविज्ञान के बारे में यहाँ तक कह देती हैं कि ''शैलीविज्ञान को साहित्यिक पाठों का विश्लेषण भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के जरिए करने वाला शास्त्र माना गया है। यह भाषविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन करता है। शैलीविज्ञान किसी कृति का रूपवादी अध्ययन करता है। यह उसकी कलात्मक रूपाकृति का अध्ययन करता है।''[16] कुल मिलाकर शैलीविज्ञान अध्ययन में साहित्यिक कृति का रूपवादी अध्ययन किया जाता है। ये अलग बात है कि सारा मिल्स ने भाषा का स्त्रीवादी दृष्टि से अध्ययन करते हुए अपनी पुस्तक 'फेमिनिस्ट स्टाइलिस्टक्स' लिखी है। सुधा सिंह लिखती हैं कि ''सारा मिल्स ने अपनी पुस्तक में भाषा के अन्तर्गत जेंडर को किस रूप में प्रस्तुत किया है यह दिखाने का प्रयास किया है ताकि उनका विश्लेषण और उनकी पुनर्व्याख्या की जा सके। साथ ही यह भी देखने की कोशिश की है कि जेंडर का रुपायन हमारी संस्कृति में किस तरह से हुआ है।...किसी पाठ का स्त्रीवादी अध्ययन करते समय अक्सर अंतर्वस्तुमूलक अध्ययन किया जाता है। जिन औजारों का इस्तेमाल किसी एक पाठ के लिए करते हैं वे औजार दूसरे पाठ के लिए बेकार हो जाते हैं। भाषा के विश्लेषण का एक सामान्यीकृत पैमाना होना चाहिए। सारा मिल्स ने...इसमें लैंगिकता (जेंडर) के विमर्श को केन्द्र में रखा है।''[17] इस प्रकार शैलीविज्ञान के अन्तर्गत भाषाओं का विश्लेषण जेंडर के आधार पर तो किया गया है लेकिन यह भी सच है कि इस दृष्टि से कविता की भाषा का अध्ययन करना नाटक और उपन्यास की भाषा के अध्ययन की तुलना में ज्यादा अनुकूल होता है। इसके साथ ही मूल बात तो अब भी वहीं की वहीं रह गयी कि उपन्यास का कथानक जो अपने अंदर सब कुछ समेटे हुआ होता है, उसे यह अध्ययन पद्धति नजरअंदाज कर देती है। उदाहरण के तौर पर क्या शैलीविज्ञान सिद्धांत अनामिका की इन पंक्तियों में छिपे गूढ़ अर्थ को बिना कथ्य के समझे उसके मर्म को रेखांकित कर सकता है। उपन्यास में रमाबाई स्त्रियों के शोषण के बारे में सोचते हुए कहती हैं ''देह क्या सचमुच ही औरतों की गर्दन में लटका हुआ ढोल है ? मार, पीट, सती-दहन और बलात्कार लगातार झेलती हुई स्त्री कब पूर्ण व्यक्ति की तरह नि:शंक रह सकेगी ?''[18] इस तरह यह पद्धति ऐसे उपन्यासों के मूल तक पहुँचने में अक्षम दिखाई देती है।

इसी तरह अब यदि हम नई समीक्षा पद्धति को इस उपन्यास पर कस करे देखें तो बातें सामने आती हैं। चूँकि यह पद्धति रचना के अर्थ-विधान को सहायक तथा शब्द-विधान को प्रधान मान कर उसका मूल्यांकन करती है। इस पद्धति ने कवि या लेखक को केन्द्र से हटाकर 'कृति' या 'रचना' को केन्द्र में स्थापित कर दिया। इसने पाठ की नवीन पद्धति के क्षेत्रों को सूक्ष्मता से उद्घाटिन करते हुए विश्लेषणात्मक आलोचना का एक नया ढंग, नयी प्रवृत्ति, नये विकास की नई दृष्टि तो दी। लेकिन सवाल मूल सवाल तो अब भी वहीं का वहीं खड़ा है कि क्या यह पद्धति अनामिका के उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' को उनसे तथा उनके परिवेश से काटकर देखने पर उसके उद्देश्य को सही तरह से उद्घाटित कर

पायेगी, मेरी समझ से नहीं। यहीं पर नई समीक्षा पद्धति मात खा जाती है। इसके अलावा अगर हम आधुनिकतावादी सिद्धांत को लें तो पाते हैं कि यह साहित्य के शास्त्रीय सौन्दर्य-बोध को संदिग्ध मानता है। यह सिद्धांत साहित्यिक कृतियों को पूर्णता की दृष्टि से नहीं, टुकड़ों-टुकड़ों में देखने का आग्रही है। जिसके चलते मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश, परिवार तथा वर्तमान परिस्थिति से अलगाव अनुभव करने लगता है, व्यक्ति भीड़ में भी अकेला महसूस करने लगता। इसलिए आधुनिकतावादी आलोचक एकाकीपन और अलगाव ही साहित्यिक कृतियों में मूल तत्व खोजते हैं। कुल मिलाकर अनामिका के उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' में नई भाषा, नई संरचना, नई शब्दावली, पुराने प्रचलित शब्दों का नया अर्थ, नई साहित्यिक पदावली की झलक आदि को ही आधार बनाकर उसको टुकड़ों-टुकड़ों बाँटकर उसका मूल्यांकन करेगा जो उपन्यास के पूर्ण अर्थ को विकृत कर उसे अप्रसांगिक घोषित कर देगा। इसके साथ ही संरचनावादी सिद्धांत के लिए उपन्यास (रचना) केवल शाब्दिक या भाषिक संरचना है। इसलिए उपन्यासकार के वैचारिक-भावात्मक अभिप्राय का विवेचन संरचनावाद के अन्तर्गत नहीं आता। ऐसी दशा में संरचानावाद का झुकाव रूपवाद की ओर होना स्वाभाविक है। इस तरह संरचनावाद एक ऐसा वाद है जो लेखकीय अथवा आलोचकीय अनुभव को अकारथ और गौण मानता है और पाठ-निर्माण, पाठ-संरचना में छिपे तथ्यों को उजागर करने का प्रयास करता है। इससे उपन्यास का पूर्ण रूप से मूल्यांकन संभव नहीं है क्योंकि अनामिका द्वारा लिखे गये उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' में उनके अनुभव तथा स्त्री के जीवन संघर्षों की कहानी है और संरचनावाद तो इसे गौण मानता है। 'दस द्वारे का पींजरा' की इन पंक्तियों के पीछे छिपे इतिहास तथा स्त्री की चेतना को क्या कभी समझ पायेंगी ये पद्धतियाँ ? जब अनामिका लिखती हैं ''कब तक पुरुष स्त्री को सिर्फ मादा मानते रहेंगे।''[19] इस तरह ये सभी पद्धतियाँ अनामिका के उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' को विश्लेषित व मूल्यांकित करने में बहुत देर तक साथ नहीं दे पातीं।

स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों को उत्तर-आधुनिकता सिद्धांत से भी नहीं मूल्यांकित किया जा सकता है क्योंकि यह आख्यान का विरोधी है। इसलिए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं ''उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रभाव से उपन्यास के भी अन्त और मौत की घोषणाएँ हो रही हैं। वैसे उत्तर-आधुनिकतावाद का आख्यान से स्थायी विरोध है, क्योंकि आख्यान यात्रा की तरह होता है, इसलिए वह प्रयोजनहीन नहीं हो सकता। उत्तर-आधुनिकता की शत्रुता प्रयोजन से ही है, इसलिए वह उपन्यास के आख्यान से लेकर मुक्ति के वृहत आख्यान तक विरोधी है। यह सच है कि आजकल उपन्यास संकट में है क्योंकि वह अपने जन्म और स्वभाव से जिस लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है वह लोकतंत्र भी खतरे में है। यह खतरा दोतरफा है। एक ओर कट्टरतावाद है तो दूसरी ओर पूँजीवाद की बर्बरता। लेकिन जैसा कि रूबर्ट स्कोल्स ने कहा है, भाषा की तरह ही आख्यान भी मानव-अस्तित्व की बुनियादी विशेषता है, इसीलिए उपन्यास का अन्त मनुष्य और लोकतंत्र के अस्तित्व के अन्त के साथ ही संभव है।''[20] इस तरह पितृसत्ता के भीतर स्त्री दमन, शोषण के दीर्घकालिक इतिहास की अनदेखी करता है। साथ ही इसके खिलाफ किये गये स्त्री के संघर्षों को नजरअंदाज करता है। उत्तर-आधुनिकतावादी आलोचक स्त्री को एक अनैतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर बातें करते हैं। वे उसे दमित, शिकार की कोटि में रखकर इस ऐतिहासिक दमन की पूरी प्रक्रिया से

बेखबर होना चाहते हैं जिसमें स्त्री इस शोषण और दमन के खिलाफ संघर्ष करती दिखाई देती है। दूसरी तरफ उत्तर-संरचनावादी सिद्धांत भी स्वत्व और सामाजिकता को पुनर्परिभाषित करने में स्त्रीवाद के तत्वमीमांसा अवदान की अनदेखी करता है। इतिहास का काम एकतरफा नहीं दोतरफा होना चाहिए। यह भी देखा जाना चाहिए कि समकालीन दर्शन के इतिहास के दमन और प्रतिरोध के स्त्रीवादी सिद्धांतों के आधार पर मूल्यांकन का क्या प्रभाव पड़ा या क्या निष्कर्ष निकला है। जिसे ये पद्धति नजरअंदाज करती है। वहीं विखंडनवादी सिद्धांत तो पाठ को महत्वपूर्ण मानते हुए उसको टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर उसकी भाषा, ध्वनि, संकेतों का अध्ययन करने पर जोर देता है। कुल मिलाकर इन उपन्यास आलोचना पद्धतियों से स्त्रीमूलक उपन्यासों को सम्पूर्णता में नहीं जाँचा-परखा जा सकता है।

इसी तरह मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत को लें, जो मनोविज्ञान पर आधारित है, जो केवल साहित्य को वैयक्तिक मानकर पात्रों के मन में चल रहे तमाम उहा-पोहों को आधार बनाकर उसको जाँच-परखकर उनका विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। इस तरह यह पद्धति कुछ दूर तक तो साथ देती है लेकिन ज्यों ही उपन्यास में आये पात्रों के जीवन पर अन्य कारकों एवं परिवेशों के प्रभाव की बात आती है यह पद्धति साथ छोड़ने लगती है। इसके अलावा यह पद्धति पात्रों के जीवन संघर्षों की अनदेखी भी करती है जबकि अनामिका के उपन्यास में मुख्य कथ्य ही है ढेलाबाई और पंडिता रमाबाई के जीवन संघर्षों के साथ-साथ चकलाघरों की वेश्याओं के नारकीय जीवन की कथा-व्यथा की अभिव्यक्ति करना। उदाहरण के तौर पर इस प्रसंग को देख सकते हैं जिसे अनामिका ने उपन्यास में पंडिता रमाबाई के द्वारा सामंतों के सामने अपनी सहेली चम्पा के सती होने देने का विरोध कर उसे सती चिता से उतारने लेती हैं। साथ ही सामंतवादियों से तर्क करती हैं ''क्यों होगी वह सती, वह जीवित होता तो इसकी खातिर सता होता क्या!''[21] इस तरह पंडिता रमाबाई ने अपनी जिंदगी में न जाने कितनी बार सामंतवादियों को अपने तर्कों से छक्के छुड़ाये थे जिसे अनामिका ने अपने उपन्यास में अभिव्यक्ति दी है। इस प्रकार अनामिका के उपन्यास में स्त्री संघर्ष बहुत ही महत्वपूर्ण अंग के रूप में उपस्थित है जिसे अनदेखा करने पर इसका पूर्ण रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकेगें। इस तरह यह पद्धति भी अनामिका के उपन्यास का एकांगी मूल्यांकन करती हुई दिखाई देती है।

अगले सिद्धांत के रूप में यदि हम मार्क्सवादी सिद्धांत को लागू कर देखें तो यह बात सामने आती है कि यह पद्धति तो समाज में जुल्मों-सितम के खिलाफ शोषितों, वंचितों के द्वारा सत्ताधारियों के खिलाफ होने वाले वर्ग संघर्ष को तरजीह देता है। जिसमें वह आर्थिक कारक को अधिक महत्वपूर्ण मानता है बाकी सभी कारकों को गौण। इसीलिए स्त्रियों की अस्मिता को भी मार्क्स ने अलग शोषित जेंडर की तरह नहीं देखा बल्कि शोषित वर्ग-प्रतिनिधि यानि कि 'सर्वहारा वर्ग' के रूप में देखा है। इसके बारे में अनामिका लिखती हैं ''हीगल की तरह मार्क्स भी सभ्यता के विकास को मनुष्य के बौद्धिक विकास से जोड़कर देखते हैं – ''concretised as advances in modes of production'' वर्ग-संघर्ष इस विकास का केन्द्रीय सत्य है। औरतों की इस संघर्ष में भागीदारी स्वागत-योग्य मानी गयी है, किन्तु शोषित जेण्डर के रूप में नहीं, शोषित वर्ग-प्रतिनिधि के रूप में। पुराने दार्शनिकों की तरह वृहत्तर

सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्रियों को अक्षम तो मार्क्स नहीं मानते और परिवार भी उनकी दृष्टि में ''fixed, immutable or natural'' नहीं है, किन्तु पितृसत्तात्मकता के प्रश्न पर अलग से वे सोच नहीं पाते।''[22] वह आगे लिखती हैं ''मार्क्सवादी व्यवस्था प्रकृति पर मनुष्य की विजय को ही जब उसके विकास की कसौटी मानती है तो प्रजनन आदि सारी प्राकृतिक क्षमताएँ अपने-आप आदिम और आध्यात्मकि महत्व की हो जाती हैं। इस तरह तर्क एवं संघर्ष की दुर्धुर्ष भाषा में लिखी गयी मार्क्स की गझिन कृति भी कुल मिलाकर ''masculinist frame of meaning'' से ही संचालित दिखती है।''[23] यहाँ पर अनामिका की बातों से पूर्ण सहमति जताते हुए यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों को उसकी गौणता या 'दोयम दर्जे के इंसान' के रूप में विविध प्रसंगों में रोजमर्रा की जिंदगी जीते हुए एहसास कराया जाता है। विडम्बना यह कि उसे तब भी शोषित जेण्डर के रूप में देखकर शोषित वर्ग-प्रतिनिधि के रूप में देखा जाना अपने आपमें मर्दवादी ढाँचे में ही देखा जाना है। इस तरह जब सदियों से चुप रहने वाली स्त्री उपन्यास साहित्य रचती है तो उसका मूल्यांकन मार्क्सवादी उपन्यास आलोचना सिद्धांत के आधार पर नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें उनके ऊपर स्त्री होने के चलते हुए सदियों के शोषण एवं जुल्मों-सितम की अभिव्यक्ति होती है। जो उन्होंने जेंडर, जाति, धर्म, नस्ल, क्षेत्र, वर्ग आदि के आधार पर झेली हुई होती है। इसीलिए अनामिका ने अपने उपन्यास में जो ढेलाबाई और चकला घरों की मासूमा नाज सहित अन्य वेश्याओं के दुख-दर्द तथा उनके जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है क्या यह सिद्धांत उसे पूरी ईमानदारी के साथ रेखांकित कर विश्लेषित कर सकेगा ? पिंजरे मैं कैद ढेलाबाई हलवंत सहाय के साथ रहने के लिए अभिशप्त है इसलिए स्वयं को एक जिंदा लाश भर समझती है, लेकिन जीती जा रही है इस विश्वास से कि एक दिन इस नरक की जिंदगी से वह बाहर जरूर आएगी। वह कहती है ''खाना उनका दिया खाती हूँ, इसलिए सांस रोककर बगल में लेट जाती हूँ। हर रोज उबकाई आती है तो मन को यही दिलासा देती हूँ कि कर्जा चुका रही हूँ या किराया खाने-पीने का रहने-सहने का।''[24] मासूमा नाज जैसी तमाम वेश्याएं जिन्होंने हर रोज ऐसे दर्द को झेला है क्या उसे यह सिद्धांत विश्लेषित कर मूल्यांकित कर पायेगा ? मेरी समझ से नहीं, क्योंकि यह इसे विश्लेषित करने भर मात्र का सवाल नहीं है बल्कि अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति का सवाल है। और रही बात सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति की तो चूँकि यह वृतांतों को महत्व नहीं देता जिसके बिना आस्मिताओं का सदियों से हो रहे शोषण, उत्पीड़न और संघर्षों का अध्ययन, मूल्यांकन असंभव है। इसकी अनदेखी के चलते 'दस द्वारे का पींजरा' जैसे स्त्री उपन्यास का अध्ययन, मूल्यांकन नहीं किया जा सकता जो इस पद्धति की एक तरह सीमा ही है।

मार्क्सवादी पद्धति के बाद अब अगर हम समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति को लागू कर देखें तो यह बात सामने आती है कि यह सच है कि दुनिया भर के समाजों चाहे वह कथित तौर पर सभ्य हो या असभ्य में बच्चों को कथा का पहला अनुभव स्त्री के माध्यम से ही होता है, फिर वह चाहे माँ हो, नानी हो या दादी ही क्यों न हो। हालांकि कभी-कभी बच्चों को नाना और दादा भी कहानियां सुनाते हैं, लेकिन नानी और दादी के बाद ही। माँ, नानी और दादी की कहानियां गद्य में हो सकती हैं और पद्य में भी। वैसे लोरी में भी कहानी की कला होती है। दुनिया भर के लोक साहित्य का सबसे बड़ा हिस्सा लोककथाओं

का है और अधिकांश लोककथाओं की रचना का श्रेय स्त्रियों को ही है। एक ही कहानी को अगर स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग कहें और श्रोता समुदाय भी भिन्न-भिन्न हो तो कहानी में अनेक प्रकार के बदलाव हो जाते हैं। कहानी के पात्रों के साथ-साथ कहानी कहने वाली या कहानी कहने वाले की भावनाएं बदल जाती हैं। मतलब यह कि कहानी की कला का कहानी कहने वाले या वाली की चेतना से गहरा संबंध होता है। कहानी कहते वक्त नाना, दादा का जो दृष्टिकोण होगा वही नानी, दादी का नहीं होगा। यह सारी बातों को यहां रखने का एक ही मतलब है कि अगर हम लोककथाओं से आगे बढ़कर इस बात को आधुनिक उपन्यासों के संदर्भ में देखें तो हमारे सामने एक नया पक्ष आएगा। चूँकि कहानी कहने वक्त जीवन जगत की व्याख्या भी होती है और उस व्याख्या में कहानी कहने वाले या कहने वाली की अपनी सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति की भी एक भूमिका होती है। मतलब यह कि कहानी के कहने, सुनने और पढ़ने में भी स्त्री और पुरुष के दृष्टिकोण में अन्तर हो सकता है। जैसे एक उदाहरण के तौर पर अनामिका के उपन्यास की यह पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं हालाँकि इस पूरे उपन्यास में ही स्त्री मुक्ति की छटपटाहट दिखाई देती है। ढेलाबाई एक जगह कहती है ''मैं जो पहले थी अभी भी वो ही हूँ। पहले भी मुजरा करती थी, अब भी करती हूँ। फर्क सिर्फ इतना है कि रुपया मेरे हाथ में आता था अब मुख्तार साहब के हाथ में आता है। पहले पांव में बस घुंघरु थे, अब मोटी जंजीरें भी हैं, पाबन्दियों की। यहां मत जाओ, वहां मत जाओ, इससे बोलो, उससे मत बोलो। ये करो, वो मत करो, सुनते-सुनते मेरे दिमाग की नसें तड़कने लगी हैं।''[25] इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि अनामिका ने जिस तरह से ढेलाबाई की जिंदगी की व्यथा जिस कहन शैली, भाषा, वाक्य संरचना में अभिव्यक्त किया है वह एक पुरुष उपन्यासकार कभी नहीं कर सकता, क्योंकि पुरुष होने के चलते उसके दृष्टिकोण में अंतर होगा, वह अपनी भाषा में लिखेगा जिसका अंतर हम जेंडर अलग होने के तहत देख सकते हैं। अब सवाल यह है कि क्या इस अन्तर के कारण और प्रभाव की खोज उपन्यास के समाजशास्त्रीय पद्धति में इसका अध्ययन होता है ? मेरी समझ से नहीं। और इसी जगह समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति की सीमाएं हमारे सामने उजागर हो जाती हैं।

इसके साथ ही मैं समझती हूँ कि कहानी कहने के ढंग में सोचने का ढंग भी निहित होता है, और उसके माध्यम से स्त्री अपने स्वत्व और आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा करती है। सामाजिक स्थिति और मूल्य चेतना के अन्तर के कारण पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री को जिस रूप में देखा और चित्रित किया जाता है, उससे भिन्न दृष्टिकोण स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में देखने को मिलता है। इसीलिए आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि '''हजार चौरासी की माँ' जैसा उपन्यास और 'द्रौपदी' जैसी कहानी महाश्वेता देवी ही लिख सकती है, कोई पुरुष कथाकार नहीं''[26] इसके आगे वह वर्जीनिया वुल्फ का हवाला देते हुए लिखते हैं कि ''वर्जीनिया वुल्फ ने तो यहां तक कहा है कि स्त्री का दृष्टिकोण सामाजिक चेतना ही नहीं कथा की शैली और वाक्य रचना में भी पुरुष से भिन्न होता है। डोरोथी रिचर्डसन के बारे में वर्जीनिया वुल्फ ने लिखा है कि वह उपन्यास की भाषा में पहले से प्रचलित पुरुष वाक्य की जगह स्त्री वाक्य का विकास कर रही थी''[27] इस तरह से अगर अनामिका के उपन्यास को देखा

जाय तो एक नए तरह का विश्लेषण हमारे सामने आएगा । जैसे इस उदाहरण को देख सकते हैं कि अनामिका के कथन की शैली, भाषा और वाक्य संरचना पुरुष उपन्याकारों से कैसे भिन्न है ? उपन्यास में ढेलाबाई के ऊपर हो रहे तमाम तरह की ज्यादतियाँ तथा जुल्मों-सितम के बारे में कहती है ''मेरी स्थिति जरा भी नहीं बदली। जो मैं पहले थी अब भी हूँ। रण्डी के बेटी जिसे कोई भी कुछ कह सकता है, जिसके साथ कभी भी, किसी भी समय दरवाजा धकिया कर घुस सकता है भीतर। सामने पान की दुकान है। कोई खण्डर की दीवार से पूछकर तो पीक नहीं फेंकता उस पर। मैं हूँ वह दीवार। हर रण्डी वही दीवार है कोठे पर हो चाहे कोठी में।''[28] यह सच है कि हिंदी में उपन्यास की सामाजिकता का इस दृष्टि से विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ है और मैं समझती हूँ जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक उपन्यास की समाजशास्त्रीय पद्धति पूर्णता में सदियों से शोषित आधी आबादी के उपन्यासों का मूल्यांकन करने में असफल ही रहेगी । अत: हमें स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए नए उपन्यास आलोचना सिद्धांतों को गढ़ना होगा। जो इन उपन्यासों को पूर्ण रूप से जाँच-परख सके तथा उसके महत्व को रेखांकित कर सही ढंग से मूल्यांकन कर सके।

यह सच है कि अभी तक स्त्री उपन्यासों को पुरुषवादी पद्धतियों से ही जाँचने-परखने की कोशिश की गयी है। स्त्री साहित्य और उसके मूल्यांकन की पद्धतियों को पुरुषवादी बताते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी सही ही लिखते हैं ''हकीकत यह है कि पुरुष निर्मित साहित्य के रूप में पुरुष पाठ का निर्माण हुआ है और तदनुरूप पुरुषवादी साहित्यिक मानदंडों का भी निर्माण हुआ। पुरुष का पाठ, मानदंड और रूप-तत्व सभी आम तौर पर साहित्य के पर्याय के रूप में स्वीकृत कर लिए गए। पुरुष लेखन से भिन्न स्त्री लेखन को आम तौर पर साहित्य की मुख्य धारा में सम्मानजनक दर्जा नहीं मिला । स्त्री लेखन के वैकल्पिक मानदंडों के निर्माण की जब कोशिशें शुरू की गईं तो उन्हें 'खास' या 'विशिष्ट' या 'स्पेशल केस' के रूप में देखा गया। फलत: स्त्री लेखन हाशिए पर चला गया।''[29] यह तो रही बात उसके पुरुषों द्वारा लिखे गए साहित्य तथा स्त्री के साहित्य के बारे में भिन्नता और हिंदी साहित्य में स्वीकृति की बात, लेकिन अब यह भी सच है कि पिछले कुछ दशकों से कथा साहित्य में स्त्री और स्त्रीवाद के सवाल केन्द्र में हैं। इस प्रक्रिया में स्त्रीवाद के प्रति हिंदी लेखिकाओं और पाठकों का अछूतभाव खत्म हुआ है । उपन्यास को स्त्रीवादी लेखिकाओं ने जमकर स्वागत किया क्योंकि यह एक ऐसी विधा है जो स्त्री को सामाजिक जगह देने के साथ ही उसे अपनी बात कहने का अवसर भी देता है। स्त्रियों के इस रूप में संस्कृति के निर्माण में अपनी सामाजिक भूमिका को भी मजबूत किया है । स्त्री लेखिकाओं ने ढेरों उपन्यास लिखें हैं। स्त्रियों के उसके निजी और सार्वजिनक अनुभव की बात छोड़ भी दी जाए तो भी उसके लिखे का इस आधार पर मूल्यांकन नहीं किया गया कि वे अपने सार्वजनिक परिचित परिवेश को लेखन में कैसे लेकर आती हैं। कुल मिलकर यह सवाल आज हमारे सामने मील का पत्थर बना हुआ है। लेकिन स्त्रीवादी साहित्यालोचना पद्धति स्त्रीमूलक उपन्यासों को स्त्रीवादी दृष्टिकोण से जाँचने-परखने की कोशिश करता है। सुधा सिंह स्त्रीवादी साहित्यालोचना के बारे में चर्चा करते हुए लिखती हैं ''स्त्रीवादी साहित्यालोचना का अर्थ है, स्त्री के साहित्य और स्त्री पर लिखे गए पुरुष के स्त्री विषयक केन्द्रित साहित्य

के मूल्यांकन का नजरिया। यह ऐसा नजरिया है जो विविधतापूर्ण है, अंतर्विषयवर्ती अध्ययन की पद्धति को पाठ के मूल्यांकन में लागू करता है। इसकी घोषित तौर पर स्त्री के हितों की रक्षा विस्तार के प्रति वचनबद्धता है।''[30]

और तो और सुधा सिंह अपनी किताब 'ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ' में स्त्री की रचनाओं के मर्म को समझने तथा उसे मूल्यांकित करने के बारे में लिखती हैं कि ''यह निर्विवाद है कि स्त्री की भाषा, उसकी संरचना, वाक्य गठन, पठनशैली और संदेश के संप्रेषण की प्रक्रिया पुरुषों से भिन्न होती है। भाषा के नाम पर जिसे जानते हैं वह मूलत: पुरुष भाषा है, यही प्रचलित है। यह सोचने की जरूरत नहीं समझी गयी की अपनी कोई भाषा होती है। हां, जब भाषा की तुच्छता या हीनता दिखानी हो तो जनानी और मर्दानी पदबंधों का प्रयोग किया गया।''[31] सुधा सिंह की इस बात से पूर्णत: सहमत हुआ जा सकता है। साथ ही इसे भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि स्त्री भाषा का सवाल स्त्री मुक्ति के सवाल से जुड़ा हुआ है। स्त्री भाषा के तत्व जितना उपन्यास में होते हैं उतना ही उपन्यास के बाहर भी। और यह तो विदित है कि स्त्रियों का लेखन हमेशा से एक कठिन काम रहा है। उसे किस तरह के सामाजिक अलगाव की उपेक्षा से गुजरना पड़ा है, इसे समझने में प्रचलित सैद्धांतिकी सहायक नहीं होती। इसीलिए स्त्री के उपन्यासों का उसकी उपेक्षा और अलगाव से गहरा संबंध है। उदाहरण के तौर पर अनामिका के उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' के इस प्रसंग को देखा जा सकता है कि किस तरह उनकी भाषा एक पुरुष लेखक से भिन्न है। उपन्यास में एक प्रसंग आया है जिसमें लेखिका ने नारकीय जीवन जीने वाली चकलाघरों में स्त्री की व्यथा का वर्णन किया है। इसमें लेखिका की एक सहपाठिनी वेश्या होती है मासूमा नाज, जो बहुत सुंदर होती है और वह हमेशा एक रहस्यमयी चुप्पी ओढ़े रहती है। एक दिन लेखिका अपनी मौसी के ससुराल जा रही थी, रास्ते में वेश्याओं का मोहल्ला पड़ता था, लेखिका ने अपनी सहपाठिन मासूमा नाज को वेश्याओं के मोहल्ले में पाँव में घुँघरू बांधे सज-धज कर खड़ी देख लेती है। दोनों सहेलियों की नजरें आपस में टकराती हैं और उसके बाद वह कभी स्कूल नहीं आई। उसके स्वाभिमान के बारे में अनामिका लिखती हैं ''आज इतने बरस बाद भी उन आँखों की दहशत मुझे ऊपर से नीचे तक दहला जाती हैं-पूरी रफ्तार में नाचते पंखे से टकराकर गौरेया जैसे कट कर गिरती है, कुछ उसकी आँखों में फड़फड़ाया और एकदम से कट गिरा। अगर मेरी आँखें उस दिन मासूमा की आँखों से आ नहीं मिलतीं,...तो यह स्वाभिमानी लड़की स्कूल नहीं छोड़ती।''[32] इस घटना के लिए अनामिका खुद को जिम्मेदार मानती हैं। मासूमा का दर्द लेखिका के लिए नासूर बन जाता है। इस अनुभवजन्य प्रसंग की भाषा का विश्लेषेण परंपरागत ढंग से नहीं किया जा सकता। सबसे पहले उस उपन्यास में निहित अस्पष्ट अर्थों को उद्घाटित करना होगा। स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों में सिर्फ भावनाएं या भावुकता ही नहीं होती बल्कि बुद्धि और बौद्धिकता भी होती है फिर वह चाहे अनामिका का उपन्यास 'दस द्वारे का पींजरा' हो या अलका सरावगी का उपन्यास 'शेष कादम्बरी' या फिर कमल कुमार का 'पासवर्ड' उपन्यास। इसलिए लेखिकाओं के समय परिवेश, मूल्यों और विश्वासों का बेहतर ज्ञान के बगैर उनके उपन्यासों को नहीं जाँचा-परखा जा सकता है। उनके उपन्यासों में संरचनागत कोड़िंग के साथ-साथ अर्थगांभीर्य भी होता है, जिसे बहुत ही गहराई में जाकर ही

समझा जा सकता है । अब सवाल यह है कि जब एक लेखिका के द्वारा लिखा गया उपन्यास अपने अध्ययन के लिए इतनी गंभीरता और गहराई की मांग करता हो तो परम्परावादी पद्धति एवं दृष्टिकोण उसका कैसे मूल्यांकन कर रेखांकित कर सकता है । इसके लिए हमें स्त्रीवादी साहित्यालोचना सिद्धांतों की ही जरूरत महसूस होती दिखाई देती है ।

(5.3.2) दलित

रूपनारायण सोनकर का उपन्यास 'डंक' बहुचर्चित उपन्यास है । इस उपन्यास में लेखक ने विविधायामी जीवन क्षेत्रों, पृष्ठभूमि और कई ज्वलंत मुदों तथा सवालों को उठाया है । इसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, पारिवारिक सहित दलित, स्त्री, आदिवासी अमीर-गरीब, मजदूर, फिल्म, सेक्स, पर्यावरण,अशिक्षा, दहेज-प्रथा, भ्रूण हत्या आदि का चित्रण किया गया है । इसके अलावा यह उपन्यास दलितों पर हो रहे तमाम अमानवीय घटनाओं को उजागर करता है । साथ ही लेखक ने न केवल प्रश्न की ओर ही नहीं बल्कि उत्तर की ओर भी इशारा किया है । साथ ही दलित महिलाओं द्वारा विष्ठा या मैला उठाने का काम करने वाली प्रथा को समाप्त कराने की कोशिश की गई है । भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था ने दलितों और सवर्णों में विषमता की विभाजन रेखा खींचने का कार्य किया है । जिससे देश में वरिष्ठ जातियों, कुल का मिथ्याभिमान प्रत्येक एक व्यक्ति के सिर पर सवार हुआ है, जिसके कारण भारतीय समाज में समता प्रस्थापित नहीं हो सकी । किसी जाति में जन्म लेना व्यक्ति के हाथ में नहीं होता । अपने देश में जातिवाद, असमानता, ऊँच-नीच की भावना को मिटाने के लिए राजनीतिक स्तर पर कोई ठोस कदम भी नहीं उठाया गया । यही कारण है कि आज भी सामाजिक विषमता समाज में व्याप्त है । रूपनारायण सोनकर इस पर चिंतन करते हुए लिखते हैं ''इस भारत देश में सदियों से जातिवाद, छुआछूत, असमानता, ऊँच-नीच की जहरीली जड़ें मजबूती से विकसित और गहरी होती रही हैं । मैं यह समझता था कि, भारत देश की मिट्टी में जन्मा कोई भी राजनेता इस देश से उपरोक्त कुरीतियों को हटाने में दिल से पहल नहीं करेगा ।''[33] इसके अलावा रूपनारायण सोनकर ने 'डंक' में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए उपाय भी सुझाते हैं । हाँ, यह बात अलग है कि उपन्यासकार द्वारा दिया गया यह सुझाव समाज में व्याप्त गैर-बराबरी को समाप्त कर पायेगा या नहीं! बाकी तो यह तभी पता चल पायेगा जब इस सुझाव को जमीन पर उतारा जाएगा ।

अब सवाल यह उठता है कि ऐसे विस्तृत एवं महत्वपूर्ण उपन्यास को जाँचने-परखने के लिए कौन-सी पद्धति उचित होगी ? इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए यदि हम इस उपन्यास का मूल्यांकन करने के लिए इन सिद्धांतों नई समीक्षा, आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, रूसी, रूपवादी, शैलीविज्ञान, विखंडनवादी को प्रयोग में लाएं तो देखते हैं कि यह सभी पद्धतियाँ रचना या पाठ को रचनाकार से काटकर स्वतंत्र देखने की कोशिश की है तथा साथ में रचना के संरचनात्मक ढाँचे या उसके रूप पर ही ज्यादा जोर दिया है । इसके साथ ही अधिकतर सिद्धांत पाठ को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर उसका अध्ययन, मूल्यांकन करते हैं । माना कि उपन्यास में अभिव्यक्त जटिल

यथार्थ के साथ-साथ उसका संरचनात्मक ढाँचा व शिल्प भी बहुत महत्व रखता है लेकिन सिर्फ उपन्यास का संरचनात्मक ढाँचा, उसकी भाषा, वाक्य-विन्यास, ध्वनि संकेत आदि ही महत्वपूर्ण नहीं होता। यहीं पर यह सारे सिद्धांत मात खा जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि अस्मितामूलक उपन्यासों को तो यह सिद्धांत बिल्कुल भी नहीं मूल्यांकित कर सकते। क्योंकि उसमें देश, समाज के यथार्थ के साथ-साथ लेखक के भी अपने कड़वे अनुभवों की अभिव्यक्ति हुई होती है, उसकी भावनाएँ, उसके तर्क, दृष्टिकोण के साथ उसने जो जातीय दंश झेला होता है, उसे भी यह सारे सिद्धांत अनदेखा कर देते हैं। यह सच है कि दलित उपन्यास ही नहीं बल्कि पूरे दलित साहित्य को जाँचने-परखने के लिए उसकी रचना के 'आकार' और 'आशय' को ध्यान में रखना होगा। रचना के जिस रूप को हम देखते हैं-वह उस रचना का 'आकार' होता है। 'आकार' में जो सारत्तव या सारत्व बोध विद्यमान होता है, वह 'आशय' कहलाता है। इन पद्धतियों में सिर्फ आकार की ही प्रधानता है। जो उपन्यास को सम्पूर्णता में जाँचने-परखने में अक्षम होती हैं। ऐसी पद्धतियों के चलते ही शब्द की रमणीयता आलोचकों के लिए बौद्धिक विलास का काम करती है। शायद इसीलिए प्रेमचंद ने कहा था ''हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता के मीनार से उतरकर उस बच्चोंवाली काली रूपवती का चित्र खींचना होगा जो बच्चों को खेत की मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है।''[34]

अब हम यदि मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को लें तो देखेंगे कि यह पद्धति उपन्यास को वैयक्तिक मानकर उसका मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करती है। हालांकि कुछ दूर तक तो यह पद्धति दलित उपन्यासों के अध्ययन को आगे ले जाती है क्योंकि इन उपन्यासों में अभिव्यक्त दलितों, आदिवासियों, वंचितों के ऊपर हुए अमानवीयपूर्ण व्यवहार उनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ता है। जिसे अध्ययन करने में यह पद्धति कुछ हद तक सफल तो होती है लेकिन फिर भी यह बहुत दूर तक साथ नहीं दे पाती है क्योंकि दलित उपन्यासों में चित्रित दलित, आदिवासी, वंचित समाज के प्रति सामाजिक रूप से दुरव्यवहार, छुआ-छूत किया जाता है और यह जातिवादी भयंकर सुनामी लहरें हमारे पूरे समाज को निगलती जा रही हैं। रूपनारायण सोनकर 'डंक' में एक जगह लिखते हैं ''तमिलनाडु राज्य में समुद्र के किनारे बसा गाँव 'तल्लापट्टी' जहाँ राहत कैम्प चलाये जा रहे थे सुनामी लहरों के बाद तबाह हुए लोगों को राहत कैम्पों में रखा गया था लेकिन वहाँ पर भी छूतों-अछूतों को अलग-अलग कैम्पों में टिकाया गया था। पहले राहत सामग्री सवर्णों को पहुँचाई जाती थी, बाद में दलितों को। कभी-कभी सारी सामग्री सवर्णों में ही बाँट दी जाती थी।...एक वृद्ध दलित महिला भूख से तड़प-तड़पकर मर जाती है। यदि उसे समय से राहत सामग्री मिल गयी होती तो उसकी जान बचायी जा सकती थी। सुनामी लहरें तो उसे नहीं निगल पायी थीं लेकिन जातिवाद की भंयकर सुनामी लहरों ने उसे निगल लिया था।''[35]

मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति को लें तो इसके बारे में एक बात सर्वविदित है कि यह पद्धति आर्थिक कारक को ज्यादा महत्व देता है बनिस्पत अन्य कारकों के। साथ ही यह वर्ग संघर्ष को तरजीह देते हुए सभी दबे-कुचले, वंचित, गरीब, मजदूर, दलित, स्त्री और आदिवासी समाज को 'सर्वहारा' मानता है। इसीलिए सर्वहारा और दलित शब्द में अन्तर बतलाते हुए मोहदनदास नैमिशराय ने लिखा है

‘‘‘दलित’ शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते...अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।’’[36] नैमिशराय की बातों से पूर्णत: सहमत हुआ जा सकता है। इतनी भिन्नता होने के बाद क्या यह पद्धति ‘डंक’ उपन्यास में आये इस प्रसंग को पूरी संवेदना के साथ दलितों के सामजिक शोषण का मूल्यांकन कर पायेगी ? क्या यह उनकी सदियों भरी कराह को रेखांकित कर पायेगी ? जबकि यह सच है कि उन्होंने सदियों से अपने सिर पर सवर्णों का मैला ढोया है। जिसने इस उबकाई भरे कार्य को भोगा है वही जानता है इसकी घिन। उपन्यास में इस सदियों के संताप के रूप में मैला ढोने की अमानवीय प्रथा का विरोध किया है। रूपनारायण सोनकर लिखतें हैं ‘‘आकाश लखनऊ विश्वविद्यालय से बी.ए. पास करके अपने गाँव संवतीकलां आया है। माँ संचनिया, बाल्टी और झाड़ू लेकर दूसरे के घरों का विष्ठा उठाने जा रही है। आकाश अपनी माँ से कहता है ‘‘माँ बाल्टी और झाड़ू लेकर कहाँ जा रही हो ?’’ ‘‘मैं ठाकुरों और ब्राह्मणों के घरों का मैला उठाने जा रही हूँ।’’ ‘‘तुम यह घिनौना काम करने नहीं जाओगी।’’[37] इस तरह आकाश सदियों से चली आ रही मैला ढोने की प्रथा का विरोध करता है। वह अपनी माँ को मना करता है और जब उसकी माँ ब्राह्मणों और ठाकुरों के घर मैला ढोने नहीं जाती है तब उनके घरों में मैले की बाढ़ आ जाती है। इधर संचनिया को ब्राह्मणों और ठाकुरों के डर से बुखार आ जाता है। इस अमानवीय और घृणित काम को मना करने से एक दलित स्त्री इतने खौफ से गुजरती है कि वह बीमार हो जाती है। कुल मिलाकर यह पद्धति इस दलित स्त्री का सदियों से सह रहे संताप, शोषण, अमानवीय व्यवहार, दर्द, जुल्मों-सितम को संवेदाना की गहराई से जाँचने-परखने में असमर्थ ही दिखाई देती है।

इसी के साथ एक तरफ है सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति, जो वृत्तांतों को नकारती है जिसके चलते यह कार्य-कारण संबंधों के साथ किसी ऐतिहासिकता की तलाश नहीं कर पाती है। यही वजह है कि यह पद्धति दलित उपन्यासों में अभिव्यक्त सदियों से हो रहे शोषण, अमानवीय व्यवहार, जातीय दंश, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता तथा उनके निजी अनुभवों को मूल्यांकित व रेखांकित कर पाने में अक्षम दिखाई देने लगती है ? दूसरी तरफ है समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति जो साहित्य में अभिव्यक्त समाज की सभी संस्थाओं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक राजनीतिक आदि में बाँटकर उसका गहराई से अध्ययन, मूल्यांकन करने का दावा करती है जबकि इसका कोई एक पैटर्न ही नहीं है अपनी सुविधानुसार यह औजारों का प्रयोग करती है। कभी मार्क्सवादी तो कभी संरचनावादी पद्धति के औजारों को। और यह बात सबको पता है कि यह दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की धुर विरोधी पद्धतियाँ है। ऐसी पद्धति जो उपन्यासों का मूल्यांकन करने हेतु कभी भी कोई भी पैटर्न अपनाए वह उसका संपूर्णता में अध्ययन, मूल्यांकन कैसे कर सकती है ? जबकि यह सच है कि सभी अस्मिताओं के भोगे हुए यथार्थ के साथ-साथ

उनकी भावनाएं, सोचने-समझने का दृष्टिकोण बिल्कुल अलग होता है। इसीलिए दलित उपन्यासकारों का किसी भी घटना को देखने का दृष्टिकोण, उसकी कहन–शैली, वाक्य संरचना अन्य उपन्यासकारों से भी बहुत बदले हुए होते हैं। इसीलिए यह पूछना जरूरी हो जाता है कि अपने अंदर औजारों को लेकर तमाम अनिश्चितताओं एवं अंतर्द्वंद्वों को समेटे हुए यह पद्धति क्या उपन्यास में अभिव्यक्त जातीय उत्पीड़न के दंश का, सदियों से हो रहे शोषण का उचित मूल्यांकन कर पायेगी?

इस तरह यह सभी पद्धतियाँ दलित उपन्यासों को जाँचने-परखने में अक्षम दिखाई देती हैं। चूँकि दलित साहित्य परिवर्तनशीलता के नियमों में विश्वास करता है। जीवन संघर्ष और उससे जुड़ा अनुभव ही तो होता है। जैसे-जैसे जीवन बदलता है, अनुभव बदलते हैं तो यथार्थ बदलता है। दलित साहित्य में अनुभवों से उत्पन्न आशय निष्ठा अधिक है। पारम्परिक साहित्य ने जिसे त्याज्य और निषिद्ध माना है, दलित साहित्य ने उसे अपने अनुभवों के आधार पर प्रमुखता दी है। उन अनुभवों की अभिव्यक्ति के मूल्यांकन के लिए पारम्परिक आलोचना के सिद्धांत गलत निष्कर्ष देंगे। क्योंकि पारम्परिक सिद्धांत में उन अनुभवों के मूल्यांकन और आशयों के विश्लेषण की क्षमता ही नहीं है, फिर मूल्यांकन कैसे होगा ? किस आधार पर होगा ? इसके साथ ही दलित लेखकों का भी यह स्पष्ट मानना है कि जीवन-दर्शन, अनुभूति और अनुभव की वास्तविकता भारतीय साहित्य में कभी आई ही नहीं। इसीलिए आलोचकों द्वारा स्थापित आलोचना मूल्य और उनके सौन्दर्य मीमांसा के ढंग अलग हैं जो दलित उपन्यास की आलोचना के लिए सही नहीं है। अत: दलित साहित्य और उसके मूल्यांकन की कसौटी के बारे में राजेन्द्र यादव ने लिखा है ''साहित्य सिर्फ व्यक्तित्व का बनना ही नहीं, अस्तित्व का होना और उससे जूझना भी है। जरूरत उनके मूल्याकंन की नहीं, उत्तर-आधुनिक युग में स्वयं अपनी शाश्वत कसौटियों को जाँचने की है।''[38] क्या यह सच नहीं कि हम जैसे हैं वैसे ही रहना चाहते हैं और बदलना सिर्फ उनको चाहते हैं। बदलना नहीं ये कहें कि हमारी बनाई यथास्थिति के अनुकूल उन्हें बनाना चाहते हैं। शायद यह द्वंद्व सवर्ण हिंदू समाज में प्रगतिशीलता के युग से ही रहा है कि क्रांति के लिए हम ही अपनी सुविधा और यत्किंचित बदली मानसिकता के साथ शोषितों और वंचितों की दुनिया में जाते रहे हैं, वे खुद चलकर अपनी बदबू, गंदगी और फूहड़ जबान के साथ, हमारे बीच घुसे चलें आएँ – यह स्थिति तो अकल्पनीय ही रही है।

पारम्परिक साहित्य का मुख्य प्रयोजन 'आनंद के लिए रसोत्पत्ति' है। जो क्षणिक होता है जिसे दलित साहित्य अस्वीकार करता है। दलित साहित्य उपन्यास में दलित जिस उत्पीड़न को भोगकर दुख, वेदना से साक्षात्कार करता है, वह आनंददायक कैसे हो सकता है ? दलित उपन्यास साहित्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करता है इसीलिए उसकी श्रेष्ठता शब्दजीवी नहीं है और न ही शाब्दिक चमत्कारों तक ही सीमित है। दलितों का अर्थगाम्भीर्य स्वीकृत जीवन मूल्य है, जिस पर दलित साहित्य टिका हुआ है। और यह तो सर्वविदित है कि दलित साहित्य की आन्तरिक ऊर्जा दलित चेतना है जो डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन और बुद्ध के तत्वज्ञान से संचालित है। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में लिखते हैं कि ''दलित साहित्य के मूल्यांकन से पूर्व

परम्परावादी समीक्षकों को भारतीय समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद, जाति-संघर्ष, विषमताओं, भेदभावों, सामन्ती सोच, ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण, अन्तर्विरोधों, आर्थिक, सामाजिक भारतीय मन:स्थितियों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का विश्लेषण करना होगा, भारतीय राजनीति को समझकर साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना होगा। तभी दलित साहित्य का सही और यथार्थ मूल्यांकन हो पाना संभव होगा।''[39] ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह बातें बिल्कुल सच हैं लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि दलित उपन्यासों के साथ-साथ पूरे दलित साहित्य को जाँचने-परखने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए ऐसा सिद्धांत कहां बनाया गया जिसमें ये सारी बातें अन्तर्निहित हों अर्थात् जिसमें इन सभी महत्वपूर्ण बातों का निर्वाहन किया गया हो।

इसीलिए दलित लेखक अपना अलग सौन्दर्यशास्त्र विकसित कर रहे हैं। क्योंकि यह सच है कि परम्परावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत सौन्दर्य एक ऐसी विषयीगत वस्तु समझी जाती है, जिसकी जड़ें वास्तविकता के सामान्य विषयगत गुणों में नहीं हैं। जबकि प्रकृति और उसके अन्य उपकरण अपने आप में सुंदर हो सकते हैं और न असुंदर भी। सौंन्दर्य की भावना तो मनुष्य में ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप पैदा होती है। मेरी समझ से तो मार्क्सवाद भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयीगत अवस्था ही नहीं, बल्कि प्रकृति वस्तुओं और मनुष्य की सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषयगत गुणों के कारण होती है। यहां पर मैनेजर पाण्डेय की इस बात को देखना ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है जिसे ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी किताब 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में उद्धृत किया है। वे लिखते हैं ''कोई भी सौन्दर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौन्दर्यशास्त्र तो और भी नहीं।...सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति नहीं है। वह कलात्मक सौन्दर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है...इसीलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और दलित सौन्दर्यशास्त्र के विकास पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।''[40] कुल मिलाकर मैनेजर पांडेय की बातों से सहमति जताते हुए यह कहा जा सकता है कि दलित उपन्यासों के मूल्यांकन हेतु सिद्धांतों को गढ़ने की इस लम्बी प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही हम रूपनारायण सोनकर के 'डंक' जैसे उपन्यासों का सही मायनों में जाँच-परखकर मूल्यांकन करने में सक्षम होंगे, बिना इस प्रक्रिया के यह संभव नहीं है।

(5.3.3) आदिवासी

आदिवासी समाज के पलायन और शोषण की समस्या को आधार बनाकर वाल्टर भेंगरा तरुण ने महत्वपूर्ण उपन्यास 'लौटते हुए' लिखा है। इसमें झारखंड के छोटानागपुर के आस-पास के गाँवों के आदिवासी समाज की माली हालत के चलते हो रहे पलायन की समस्या को आधार बनाया गया है। इस उपन्यास में सलोमी नामक युवती के माध्यम से आदिवासी समाज की लड़कियों के दिल्ली जैसे महानगरों में रहकर घर का काम करने के चलते उनके ऊपर हुए शोषण, अत्याचार, जुल्मों-सितम को

बखूबी चित्रित किया गया है। दैहिक शोषण व अत्याचार के चलते उसे वापस अपने घर लौटना पड़ता है और सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि उसके घर वाले भी उसे स्वीकार नहीं करते हैं। अन्तत: घर लौटकर भी वह नितांत अकेली रह जाती है। फिर भी वह हार नहीं मानती है और वह अब राँची के 'निर्मल हृदय' में असहाय बच्चों की सेवा करने में जुट जाती है। तब वहाँ उसे बचपन का दोस्त प्रकाश मिलता है जो उसे अपने गाँव कुसुमपुर ले जाता है। सालो अब वहाँ स्वयंसेवी संगठन की सहायता से महानगरों की ओर जाने की इच्छा रखने वाली बहनों को गाँव में रहकर स्वयं आत्मनिर्भर करने की कोशिश कर रही है। साथ ही वह खुद तमाम दुखों के दंश को झेलकर अब एक नई जिंदगी की ओर अग्रसर हो रही है। तथाकथित सभ्य समाज और सरकार की वास्तविकता इस उपन्यास में हर तरह से झलकती है। लौटते हुए उपन्यास में आदिवासियों के विस्थापन की समस्या को रेखांकित किया गया है साथ ही मानवीय अत्याचारों का भी वर्णन किया गया है। अब सवाल यह उठता है कि इतने महत्वपूर्ण एवं गंभीर मुद्दे पर लिखे गये उपन्यास को कौन-सी आलोचना पद्धति से जाँचा-परखा जाए ? जिससे पूरे उपन्यास का सही तरह से मूल्यांकन हो सके।

उपरोक्त सवाल को ध्यान में रखते हुए यदि हम इसी तरह मनोविश्लेषणात्मक पद्धति, आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, नई समीक्षा, रूसी रूपवादी, विखंडनवादी, शैलीविज्ञान, आदि पद्धतियाँ भी आदिवासी उपन्यासों को पूर्णता में विश्लेषित करने में अक्षम दिखाई देती हैं क्योंकि मनोविश्लेषणात्मक पद्धति उपन्यास को वैयक्तिक मानकर उसमें अभिव्यक्त पात्रों की मन: स्थिति मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर मूल्यांकित करती है जिसके चलते यह हमारा साथ बहुत दूर तक नहीं दे पाती है। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ पद्धतियाँ ऐसी हैं जो रचना के कथ्य के बजाए सिर्फ संरचनात्क ढाँचे को ही तरजीह देती हैं और उपन्यास या पाठ को ही सबकुछ मानकर उसको टुकड़ों-टुकड़ों बाँटकर उसकी भाषा, कलात्मकता, वाक्य संरचना, ध्वनि संकेत आदि को केन्द्र में रखकर देखने की पक्षधर हैं। उनके लिए उपन्यासकार की विचारधारा, उसके समय, परिवेश, रचना में अभिव्यक्त यथार्थ आदि कुछ भी मायने नहीं रखता। शैलीविज्ञान तो कभी-कभी रचना के विश्लेषण एवं मूल्यांकन का नतीजे ग्राफ या चित्र बनाकर भी देने लगती है। इसके साथ ही उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांत तो तमाम मृत्यों की घोषणा कर रचना को पूर्ण स्वतंत्र मानते हुए उसमें निहित सत्य में अनिश्चितता का प्रश्नचिन्ह लगाता है। इस तरह की तमाम खामियों के चलते यह सभी पद्धतियाँ उपन्यास का एकांगी अध्ययन कर मूल्यांकन करती हैं, न कि उसके सम्पूर्णता में।

मार्क्सवादी या ऐतिहासिक भौतिकवादी अध्ययन पद्धति को लें तो चूँकि यह पद्धति दबे-कुचले, दलित, वंचित, शोषित, किसान, मजदूर, स्त्री, आदिवासी आदि सभी हाशिए के लोगों को एक ही वर्ग (सर्वहारा वर्ग) में रखकर उसके वर्ग संघर्ष को तरजीह देते हुए मूल कारक के रूप में आर्थिक पक्ष को महत्वपूर्ण मानता है। इसलिए अस्मितामूलक विमर्शों के पक्षधर लेखक, आलोचक इसकी आलोचना करते हैं। वह कहते हैं ''औपनिवेशिक भारत में – और अन्यत्र भी – प्रभुत्व केवल आर्थिक दबाव के बलबूते पर कायम नहीं रहता है। निम्न जन को उनकी गौणता का अहसास विविध प्रसंगों में रोजमर्रा तौर

पर भी कराया जाता है।''[41] वैसे देखा जाय तो यह एक कड़वा सच है। इस तरह मार्क्सवादी पद्धति अपने मूल कारणों में आर्थिक पक्ष को अधिक सक्रिय तथा बाकी सभी कारणों को गौण मानते हुए अगर 'लौटते हुए' उपन्यास के इस पक्ष को तो अच्छे से विश्लेषित कर लेगी जिसके मूल में आर्थिक सवाल के साथ-साथ विस्थापन की समस्या उभरकर सामने आयी है उदाहरण के तौर पर उस प्रसंग को देखा जा सकता है। जिस प्रसंग में सलोमी कोयल तथा कारो नदी पर बन रहे बाँध की असलियत बताती है कि सरकार द्वारा स्थापित बिजली की तमाम परियोजनाओं के चलते किस तरह आदिवासियों के गांव के गांव उजाड़े जा रहे हैं ? किस तरह उन्हें विस्थापन की दर्दनाक प्रक्रिया से गुजरना पड़ रहा है ? उन्हें अपने जल, जंगल, जमीन को छोड़कर किसी तरह अजनबी जगह या स्थान पर रहने को मजबूर होना पड़ रहा है ? जबकि सरकार उन्हें दर-दर भटकने के लिए अकेला छोड़ देती है। लेकिन क्या उपन्यास में अभिव्यक्त सलोमी के साथ तथाकथित मुख्यधारा के लोगों के द्वारा किए गए सामूहिक बलात्कार की भयावह घटना को पूरी संवेदनाओं के साथ विश्लेषित कर मूल्यांकित कर पायेगी, क्या यह पद्धति उसकी आत्मा पर लगे घावों को विश्लेषित कर पायेगी ? जब सलोमी को अजगर की भांति निगला जा रहा था। उपन्यासकार इस दर्दनाक घटना का वर्णन कुछ इस तरह किया है ''फिर किसी ने उसके कपड़े फाड़ना शुरू किया।...ओह ! अब वह समझी कि कोई बदमाश उसकी इज्जत लूट रहा है। वह तड़फड़ायी लेकिन वह हिल भी नहीं पा रही थी। फिर कोई उसके ऊपर छा गया।...इसके बाद शायद दूसरा भी उसके ऊपर आ गया। ओह !...हे मां ! यह क्या हो रहा है उसके साथ ? वह मन ही मन छटपटा रही थी और रो रही थी। लेकिन हाथ – पैर और मुंह बंधे होने के कारण वह विवश हो गयी थी। कुछ देर बाद वह बेहोश हो गयी थी। उसे कुछ पता नहीं चला कि उसके साथ उसके बाद क्या हुआ ?''[42] अब सवाल उठता है कि क्या सलोमी के इस दर्द जो पूरी जिंदगी उसकी आत्मा पर लगे रहेंगे को यह पद्धति विश्लेषित कर मूल्यांकित कर पायेगी ? यह सवाल अब भी इस पद्धति के सामने मुँह बाये खड़ा है। जिसे सुलझाए बिना मार्क्सवादी पद्धति अस्मितामूलक उपन्यासों के साथ न्याय नहीं सकती।

इसके अलावा अब अगर हम समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति को लें और 'लौटते हुए' उपन्यास का मूल्यांकन करने की कोशिश करें तो पाते हैं कि यह पद्धति दो विपरीत पद्धतियों के औजारों को सेमेटे हुए है, यह किसी एक पैटर्न को नहीं अपनाती। अब सवाल ये उठता है कि क्या यह पद्धति दो एकदम विपरीत औजारों के सामंजस्य से आदिवासी उपन्यासों का अध्ययन, मूल्यांकन समुचित कर पायेगी ? क्या यह पद्धति आदिवासी समाज की समस्याओं को रेखांकित कर पायेगी ? समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के सामने यह सवाल तो है ही। वहीं सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति की भी सीमाएं किसी से छिपी नहीं हैं।

साथ ही यह सच है कि आदिवासी साहित्य का दर्शन, उसके मूल्य ही तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य से बिल्कुल बदले हुए हैं। जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसीलिए वरिष्ठ साहित्यकार रोज केरकेट्टा ने अपने लेख 'आदिवासी जीवन दर्शन और साहित्य' में लिखा है कि ''आदिवासी साहित्य को किसी दूसरे साहित्य के साँचे में ढालकर क्यों देखा जाए ?...जरूरत यह भी है कि हम आदिवासी

साहित्य का अपने ढंग का एक अलग साँचा खड़ा करें और उसे आदिवासीपन के साथ विकसित करें ।''[43] और तो और जोवाकिम तोपनो भी अपने लेख में घोषणा कर देते हैं कि 'आदिवासी साहित्य सृजन के लिए हमें दिकू चश्मा नहीं चाहिए ।' आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन व उसके बारे में सही समझ बनाने के लिए आदिवासी आलोचना के विकास की जरूरत है । गैर-आदिवासी आलोचकों ने या तो आदिवासी साहित्य पर लिखा नहीं, या जो लिखा है, वह बहुत सतही किस्म का है । आदिवासी समाज से अपरिचय के कारण गैर-आदिवासी आलोचक आदिवासी साहित्य का भी मूल्यांकन ठीक से नहीं कर पाते हैं । इसीलिए वंदना टेटे की मूल चिंता गैर- आदिवासी प्रतिमानों द्वारा आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन को लेकर है । उनका शुरूआती सवाल ही यही है कि "आदिवासी विश्व और शेष विश्व में जीवन-दर्शन और संस्कृति के स्तर पर कोई साम्य नहीं है तथा दोनों दो सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं के प्रतिनिधि है, फिर अभिव्यक्ति और साहित्य के स्वरूप और अवधारणाएं कैसे एक हो सकती हैं ।"[44] इसके साथ ही वह बताती हैं कि आदिवासी विश्वदृष्टि में साहित्य शेष कला माध्यमों से श्रेष्ठ और स्वायत्त इकाई नहीं है । उनके अनुसार "आदिवासी कला परंपराओं में लेखक-गीतकार, संगीतकार, नर्तक और गायक अलग-अलग स्वतंत्र इकाइयां न पहले थीं, न आज हैं । मुख्यत: आदिवासी कला परंपरा विविध कला रूपों का एक समुच्चय है, जिसमें सभी कला विधाओं के साथ-साथ प्रकृति की भी एक प्रमुख और सुनिश्चित भूमिका होती है ।"[45] यानी वहाँ एक कला रूप का दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध होता है । सहअस्तित्व और सहभागिता के बिना किसी एक रूप का उद्घाटन संभव नहीं है । इसीलिए वंदना टेटे जोर देकर रेखांकित करती हैं कि हर समाज के पास अपनी कलात्मक अभिव्यक्तियां होती हैं, अपने प्रतिमान होते हैं, इसलिए अन्य समाजों की अभिव्यक्तियों और प्रतिमानों के आधार पर उनका मूल्यांकन नहीं होना चाहिए।

इसके अलावा वंदना टेटे की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य दलित साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है । वह तर्क देती हुई लिखती हैं ''आदिवासी साहित्य मूलत: सृजनात्मकता का साहित्य है । यह इन्सान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है, जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है...वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है ।''[46] वंदना टेटे का मानना है कि प्रतिरोध का साहित्य वर्मान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं दिखाई देती है । मैं वंदना टेटे की इस बात से पूर्णत: तो सहमत नहीं हूँ क्योंकि प्रतिरोध भी तमाम तरह के होते हैं जैसे ऐतिहासिक प्रतिरोध में तो यही होता है जो वंदना टेटे ने लिखा है लेकिन तात्कालिक प्रतिरोध भी तो होता है जो अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को तुरन्त रोकने के लिए होता है वह अपनी सत्ता कायम करने के लिए ही नहीं होता है । हालाँकि वंटना टेटे की यह मान्यता वाल्टर भेंगरा 'तरुण' के उपन्यास में जरूर निकलकर सामने आयी है । यह सच है कि उनके उपन्यास में प्रतिरोध की चेतना उस रूप में नहीं दिखाई देती है जैसे अन्य अस्मितामूलक उपन्यासों में दिखाई देती है । एक से उदाहरण यह देखा जा सकता है । जब सलोमी के साथ मिस्टर सिंह के यहाँ सामूहिक बलात्कार की

घटना घटती है, जिसे सुनकर ही इंसान अन्दर तक हिल सकता है। तब आधुनिक परिवार की मालिक और मालकिन को इस भयावह घटना के बाद सलोमी की चिंता कम थी बजाय इसके कि कहीं इस घटना की बात खुल जाने पर उनकी इज्जत अपने 'तथाकथित हाई-फाई सोसायटी' में मिट्टी न मिल जाए। उपन्यासकार इस प्रसंग को कुछ ऐसे बयां करता है ''अगर राकेश के दोस्तों ने ये हरकत की है तो और भी बुरा होगा। हम तो बदनाम होंगे ही, साथ में उनके परिवार वालों को भी लज्जित होना पड़ेगा। अब तो कई परिवार वालों की इज्जत का सवाल उठ रहा है। आप कुछ कीजिए इस मामले को लेकर।...देखो सलोमी, हम बहुत ही शर्मिंदा हैं।...हम तुम्हें भी अपनी बेटी की तरह ही मानते हैं।...अब तो तुम्हारे हाथों ही हमारे परिवार की इज्जत रह गयी है। सुरेश साहब ने सिर झुका कर धीरे से कहा।''[47] तथाकथित मुख्यधारा या सभ्य लोगों को अपनी इज्जत या छवि बहुत प्यारी है फिर उसके लिए अगर किसी की जिंदगी तबाह होती है तो हो, उससे उनको कोई फर्क नहीं पड़ता। यह है दोहर चेहरा तथाथिक मुख्यधारा के लोगों का लेकिन ताज्जुब की बात यह है इसके खिलाफ में कुछ बोलने या करने के बजाए सलोमी अपने घर का रास्ता लेती है। वाल्टर भेंगरा 'तरुण' ने उपन्यास के माध्यम से स्त्री के तिहरे शोषण को उजागर करते हुए उसकी समस्याओं को भी हमारे सामने रखा है। आदिवासी स्त्रियों के भोले एवं सीधेपन का तथाकथित मुख्यधारा के खन्ना जैसे लोग फायदा उठाते हैं। वह आदिवासी समाज से छल करते हैं। इसीलिए उपन्यासकार ने उनसे सवाल किया है कि आखिर स्त्रियों का ही इतना शोषण क्यों ? आखिर क्यों उनके ही साथ यह अत्याचार होता है ? और जब एक स्त्री आदिवासी तथा गरीब दोनों हो तो यह प्रताड़ना और भी ज्यादा भयावह हो जाती है। यही कारण है कि निरक्षर सालो को कदम-कदम पर शोषित होना पड़ता है, उसे तथाकथित मुख्यधारा के पुरुषों के हवस का शिकार भी होना पड़ता है। साथ ही उपन्याकार ने परोक्ष रूप से यह सवाल भी उठाया है कि वर्तमान समय में स्त्री शिक्षा कितनी महत्वपूर्ण है। इस तरह आदिवासियों की समस्याएं दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही हैं और सरकार अब भी अपने हाथों पर हाथ धरे बैठी हुई है।

(5.4) अन्य उत्पीड़ित अस्मितामूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के अन्तर्गत ट्रांसजेंडर अस्मिता को रखा गया है। 21वीं सदी में ट्रांसजेंडर को केन्द्र में रखकर तमाम उपन्यास लिखे गए हैं उनमें से एक है चित्रा मुद्गल का 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' जो बहुत ही चर्चित रहा है। यह उपन्यास ट्रांसजेंडर की समस्याओं पर केन्द्रित है। चित्रा मुद्गल ने अनेक प्रकार के विमर्शों के बीच विनोद उर्फ बिन्नी उर्फ विमली के बहाने से समाज के अन्दर में घर कर गई मानसिकता के तहत मनुष्य को मनुष्य न समझना, बल्कि उसे श्रेणी में बांटना, इस तरह की विचारधारा या जो एक सोच बन गई है जो हमें सामाजिक होने के बजाए असामाजिक करार करती है तथा तमाम सवाल खड़े करती है, इस पर चोट किया है। जिन्हें अक्सर लोग देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। इसके अलावा उन्होंने यह सवाल उठाया है कि अपने घर, परिवार से लेकर पूरे समाज की

दुत्कार तथा प्रताड़ना को सहते हुए जीवन जीने पर मजबूर ट्रांसजेंडर आखिर क्यों मनुष्य नहीं हैं ? आखिर क्यों उन्हें दूसरे मनुष्यों की तरह अपने घर, परिवार, रिश्तेदारी और समाज में इज्जत और सम्मान नहीं मिलता ? एक ट्रांसजेंडर को उसके शरीर की अपंगता उन्हें मनुष्य होने से कहीं भी वंचित नहीं करती जबकि जो लोग सम्पूर्ण हैं और तथाकथित विवेकधारी भी हैं, वे लोग इन अपंगों, किन्नरों के साथ असामाजिक व्यवहार क्यों करते हैं ? आदि-आदि। इसके साथ ही उन्होंने थर्ड जेंडर, जीरो, ट्रांसजेंडर, अन्य या हिजड़े श्रेणी में रखे जाने वाली अस्मिताओं की समस्याओं का एक विशिष्ट निराकरण देने की भी कोशिश की है। इस उपन्यास की एक और खासियत यह है कि यह पूरा उपन्यास पत्र-शैली में इस तरह से लिखा गया है कि अपने आप में अनूठा बन पड़ा है। इसलिए यह एकतरफा सवांद होते हुए भी अनेक चरित्र और अनेक लोगों के संवादों से घिरा हुआ दिखाई देता है।

अब सवाल यह उठता है कि इतने महत्वपूर्ण मुद्दे पर लिखे गये उपन्यास की जाँच-पड़ताल कैसे हो ? ऐसी कौन-सी उपन्यास आलोचना पद्धति है जो ऐसे उपन्यासों को सम्पूर्णता में अध्ययन कर मूल्यांकित कर सकती है ? इन सवालों को ध्यान में रखकर अगर हम इसे देखने की कोशिश करें तो बात सामने आती है वह यह कि उपन्यास आलोचना के रूप में हमारे सामने पद्धतियाँ तो तमाम हैं जैसे – आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर संरचनावादी, रूसी रूपवादी, शैलीविज्ञान, नई समीक्षा, विखंडनवादी आदि। लेकिन विडम्बना यह है कि ये पद्धतियाँ इस उपन्यास को मूल्यांकित करने में अक्षम हैं क्योंकि यह पद्धतियाँ भाषा एवं उसके संरचनात्मक ढाँचे को यथार्थ तथा समय, परिवेश, मूल्यों से काटकर देखती हैं। अगर हम भाषा की ही बात करें तो पता चलता है कि ट्रांसजेंडर की भाषा कुलीन वर्ग से बहुत अलग होती और अगर इसे यथार्थ से अलगकर इसका अध्ययन मूल्यांकन करेंगे तो गलत नतीजे तक पहुँच जाएंगे और इस स्थिति में उपन्यास को सतही और अप्रसांगिक घोषित कर देंगे। जबकि इस उपन्यास की सबसे विशिष्ट बात यह है कि यह ट्रांसजेंडर के जीवन की समस्याओं पर आधारित होने के बावजूद इसमें गालियों का प्रयोग कहीं नहीं किया गया है। लेकिन फिर भी जब इसे पाठक पढ़ता है तो उसे यह कहीं नहीं लगता है कि यह एक ट्रांसजेंडर या विनोद की भाषा नहीं है। यह सच है कि सामान्य बोलचाल में ट्रांसजेंडर गालियों का प्रयोग करते हैं लेकिन लेखिका ने अपने उपन्यास को बिना गाली के ही संवाद के उस स्थिति को यथार्थ बना दिया है। इस तरह अगर हम इस उपन्यास को उसमें अभिव्यक्त यथार्थ, समय, परिवेश, लेखिका की विचारधारा से काटकर देखेंगे तो हम उसके संरचनात्मक ढ़ांचे का भी ठीक तरह से अध्ययन, मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे।

इसके अतिरिक्त अब अगर हम सबाल्टर्न इतिहासवादी उपन्यास आलोचना सिद्धांत को लें और उपन्यास को इस पर कसकर देखने की कोशिश करें तो पता चलता है कि यह पद्धति हाशिए के लोगों को केन्द्र में रखकर अध्ययन-मूल्यांकन करने का दावा तो जरूर करती है लेकिन इसका कोई एक पैटर्न नहीं है। जिसके चलते यह उपन्यास में अभिव्यक्त जीवन की जटिलताओं के तह तक जाने में असमर्थ दिखने लगती है। यह पद्धति कार्य-कारण संबंधों के साथ किसी ऐतिहासिकता की तलाश नहीं करती। कुल मिलाकर इसका आधार बहुत कमजोर है इससे तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक ढंग से तो पहले ही मार्क्वादी

सिद्धांत में विवेचना हो चुकी है। इसके साथ ही मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास आलोचना पद्धति की बात करें तो पाते हैं कि यह पद्धति कुछ दूर तक तो हमारा साथ देती है लेकिन अंत तक नहीं दे पाती क्योंकि उपन्यास में विनोद की वैयक्तिकता तथा उसकी केवल मन:स्थिति की ही अभिव्यक्ति नहीं हुई है बल्कि उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिवेश की भी अभिव्यक्ति चित्रा मुद्गल ने की है। क्या कभी यह पद्धति समाज के द्वारा किये गए विनोद के प्रति सामाजिक भेदभाव, प्रताड़ना का अध्ययन मूल्यांकन कर पायेगी ? जिस प्रताड़ना सहते हुए विनोद ने अपनी माँ से शिकायत की है क्या उसे यह पद्धति रेखांकित कर पायेगी ? चित्रा मुद्गल लिखती हैं ''बा वह अनर्थ हो जाने दिया तूने, जिसके लिए मैं दोषी नहीं था! पढ़ने में अपनी कक्षा में सदैव अव्वल आने वाला। डरते थे लड़के मुझसे। कहते थे, जिस खेल की प्रतियोगिता में खड़ा हो जाता है तू विनोद, पुरस्कार लेकर ही दम लेता है। कुछ पुरस्कार हमारे लिए छोड़ दे न! और अगर मान लो बा, मैं अव्वल नहीं आता, तब भी क्या सामान्य लोगों की तरह जीवन जीने का अधिकार नहीं होता मेरा ?''[48] यह निश्चित रूप से एक सामाजिक प्राणी के रूप में विडम्बना हैं, यह हमारे विकास के विकसित पैमाने के मद में चूर तकनीकि के बढ़ते कदमों के ऊपर तमाचा है। शरीर के किसी अंग का अपंग होना या उस अंग में किसी तरह का विकार होना, यह किसी भी रूप से किसी भी मनुष्य को उसके अधिकार से वंचित नहीं करता। विनोद एक संपन्न परिवार में जन्म लेता है, किन्तु वह जब बड़ा होता है और स्कूल जाने लगता है तो उसकी मां, उसके पिता जी तथा उसके परिवार को धीरे-धीरे पता लगता है कि उसका जननांग पुरुष जैसा नहीं है अर्थात यह एक पूर्ण पुरुष नहीं है। पूर्ण पुरुष न होने के कारण, सामाजिक बंधनों तथा डर के कारण उसे घर से बाहर निकाल दिया जाता है। उसे ट्रांसजेंडर को सौंप दिया जाता है और परिचितों को यह खबर पहुँचा दी जाती है कि उसकी एक बस एक्सीडेंट में मृत्यु हो गई। इस तरह एक ट्रांसजेंडर के जीवन की सामाजिक समस्याओं की इतनी बड़ी विडम्बना को मूल्यांकित करने में यह पद्धति अक्षम है । यही हाल मार्क्सवादी या ऐतिहासिक भौतिकवादी आलोचना सिद्धांत का है। वह भी ट्रांसजेंडर पर आधारित उपन्यासों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करने में अक्षम जान है। क्योंकि यह पद्धति समाज की आर्थिक गैर-बराबरी के चलते वर्ग संघर्ष को ही महत्व देती है। चूँकि यह पद्धति समाज की सभी समस्याओं के मूल में आर्थिक कारक को मानती है न कि सामाजिक, सांस्कृति, धार्मिक आदि को। इसीलिए यह अस्मिताओं को अलग से महत्व नहीं देता। इस तरह इस पद्धति की सीमाएं दिख जाती हैं।

इसी तरह से अब अगर हम समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति बात करें तो इसकी सीमाएं भी किसी से छिपी नहीं हैं। ऐसे में क्या यह पद्धति ट्रांसजेंडर पर आधारित उपन्यास का अध्ययन-मूल्यांकन कर पायेगी ? जिस पद्धति का कोई एक पैटर्न न हो क्या वह ट्रांसजेंडर के ऊपर हो रहे सामाजिक उत्पीड़न, अत्याचार और शोषण के स्तर को रेखांकित कर पायेगी ? जब चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' का विनोद अपने दर्द को पत्र में अभिव्यक्त कर अपनी बा को लिखता है ''मेरी सुरक्षा के लिए कानूनी कार्रवाई क्यों नहीं की तूने, मेरी बा, तूने और पप्पा ने मिलकर मुझे कसाइयों के हाथ मासूम बकरी सा सौंप दिया, जिस नरक में तूने और पप्पा ने धकेला है मुझे, वह एक अंधा कुआं है, जिसमें सिर्फ सांप-बिच्छू रहते हैं। सांप-बिच्छू बनकर पैदा नहीं हुए होंगे। बस, इस कुएं ने उन्हें आदमी नहीं रहने दिया।''[49] इसके साथ ही विनोद के साथ-साथ तमाम ट्रंसजेंडर की जिंदगी पोस्ट बॉक्स नं. की

तरह है जिसका न कोई एक निश्चित ठिकाना है और न ही उनका कोई निश्चित घर और परिवार ही, बल्कि उनका कोई अपना है ही नहीं इस समाज में जो उनके साथ में खड़ा हो। उनकी जिन्दगी एक पोस्ट बॉक्स नम्बर की तरह है, जिसे देखते तो सब हैं लेकिन अपनाता कोई नहीं है। ट्रांसजेंडर की इस दर्द भरी कराह को क्या यह पद्धति विश्लेषित कर पायेगी ? यह सवाल अब भी इस पद्धति की तरफ अपना मुँह बाये खड़ा है।

(5.5) नए अंतर्वैयक्तिक संबंधों पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

नए अंतर्वैयक्तिक संबंधों के तहत समलैंगिकता और सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप) या स्त्री-पुरुष के सहजीवन को रखा गया है। चूँकि पुरुष समलैंगिकता (गे) पर आधारित कोई उपन्यास सामने नहीं आया। हाँ, प्रदीप सौरभ का एक उपन्यास 'तीसरी ताली' की कहानी में पुरुष समलैंगिक (गे) संबंध का जिक्र जरूर आया है जबकि यह उपन्यास पूर्णत: एल.जी.बी.टी. यानि स्त्री समलैंगिकता, पुरुष समलैंगिकता, उभयलिंगी कामी और ट्रांसजेंडर पर आधारित है। दूसरी जो बहुत महत्वपूर्ण बात वह यह कि स्वयं की इच्छा से चुने गए पुरुष समलैंगिक जीवन भी इसमें नहीं आ पाया है, बल्कि इसमें अमीर पूँजीपति के विकृत व्यवहार को दिखाने के लिए प्रसंगवश पुरुष समलैंगिक (गे) संबंध के बारे में जिक्र किया गया है। दूसरी तरफ गीतांजलि श्री का उपन्यास 'तिरोहित' है जो अपने मूल कथ्य के रूप में ही स्त्री समलैंगिक (लेस्बियन) संबंध को उकेरता है। इसलिए यहाँ पर समलैंगिक संबंध की जटिलताओं, समस्याओं का अध्ययन, मूल्यांकन करने हेतु केवल स्त्री समलैंगिक (लेस्बियन) संबंध को आधार बनाया गया है। साथ ही सहजीवन (लिव इन रिलेशन) पर आधारित उपन्यासों को भी पूर्व प्रचलित पद्धतियों पर कसकर देखा गया है।

(5.5.1) समलैंगिकता

गीतांजलि श्री का उपन्यास 'तिरोहित' समलैंगिकता के अन्तर्गत आये स्त्री संबंधों या लेस्बियनिटी पर लिखा गया है। लेखिका ने 'तिरोहित' में सबकुछ अप्रकट ढंग से घटाया है ताकि पाठक ठहर-सा जाए। इसमें जो भी कुछ अच्छा है, जिंदगी को बदल देने वाला है, वह उपन्यास के फ्रेम से बाहर घटता हुआ दिखाई देता है। इस उपन्यास में जिंदगियाँ चलती-बदलती हैं, नए-नए राग-द्वेष उभरते हैं, प्रतिमान और प्रतिशोध होते हैं मगर सबकुछ चुपके-चुपके से। यह बात दीगर है कि व्यक्त से अधिक मुखर अव्यक्त या अनकहा होता है जो इस कृति में भी दिखाई देता है। साथ ही इसमें घटनाक्रम के बजाये केन्द्र में रहती हैं चरित्र-चित्रण व पात्रों के आपसी रिश्तों की बारिकियाँ। इसके साथ ही यह भी सच है कि गीतांजलि श्री के उपन्यास 'तिरोहित' की मूल कथा में स्त्री चेतना के नए आयाम देखने को मिलते हैं। यह उपन्यास स्त्री में अनुराग की अकुंठित अभिव्यक्ति को कुंठित सामाजिकता के दायरों में उठाता है, जो मनुष्य और उसमें भी स्त्री जीवन की मुक्त अभिव्यक्ति को तिरोहित करने में ही सशक्त पहचान बना पाते हैं

। इस उपन्यास की पूरी कहानी दो स्त्रियों ललना और चच्चो के अंतरंग संबंधों की है। ललना भतीजे की स्मृति के परस्पर टकराते प्रवाह में अन्य सामाजिक संबंधों और व्यक्तियों के समान्तर रची गई है। एक मोहल्ला है और उसमें स्थित सभी घरों को जोड़ती एक बड़ी एवं खुली छत है जो ललना और चच्चो की इच्छाओं तथा उनकी जिन्दगी की परिस्थितियों के बीच कभी न खत्म होने वाली दूरी को दर्शाती है। इसकी वजह यही है कि इस छत पर ही वे अपने सुख-दुख, आशा-निराशा आदि को भुलाकर अपने प्रगाढ़ निजी दायरे में मुक्त हो पाती हैं। उन दोनों की नजर में यह छत उनकी होती है या यों कहें कि यह छत उनकी मुक्तिकामी चेतना को व्यक्त करने की उचित जगह बनती है। गीतांजलि श्री लिखती हैं ''यह उनकी दुनिया है। वे कसके एक-दूसरे को थाम लेती हैं कि वहीं अपनी दोनों की बस, निर्बन्ध सल्तनत में खुश हो के गिर न पड़ें। छत हँस देती है और लड़कियाँ अपने पैरों में पड़ती जुम्बिश पर थोड़ा डर जाती हैं।''[50] इसके साथ ही चच्चो और ललना के इस अंतरंग जिंदगी का अहम् हिस्सा वह भतीजा भी होता है। और तो और वह अपनी अस्मिता को उनके बीच में खुला हुआ महसूस करता है। इस तरह से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गीतांजलि श्री का यह उपन्यास स्त्री चेतना में निहित सामाजिक मुक्ति के सवाल को समकालीन परिवेश और संबंध भावनाओं के दायरे में बहुत ही जीवंत और ज्वलंत रूप में उठाता है या यों कहें कि समकालीन परिवेश में स्त्री लेस्बियनिटी को उकेरा है। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच के अंतरंग और अंतर्विरोधों की मानसिकता में निहित संवेदनशीलता और संवेदनहीनता साथ ही दाम्पत्येतर संबंधों को प्रमुख विषय के रूप में उठाया गया है। अब देखना यह है कि इतने महत्वपूर्ण उपन्यास को विश्लेषित कर मूल्यांकन करने के लिए कौन-सी उपन्यास आलोचना पद्धति उचित रहेगी तथा इसका सम्पूर्णता में मूल्यांकन कर सकेगी ?

उपरोक्त सवालों को ध्यान में रखते हुए अब अगर हम इसके आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, रूसी रूपवादी, शैलीविज्ञान, नई समीक्षा, विखंडनवादी जैसी पद्धतियाँ को लें तो पाते हैं कि यह पद्धतियाँ बहुत दूर तक हमारा साथ नहीं दे पाती हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पद्धतियाँ रचना को स्वतंत्र मानकर उसके पाठ को टुकड़ों-टुकड़ों में बांकर देखने की आग्रही हैं। साथ ही उपन्यास के रूप-विन्यास, भाषा, वाक्य संरचना पर ज्यादा बल देती हैं बजाए उसमें अभिव्यक्त लेखक के निजी अनुभवों, समाज की वास्तविकता, जीवन के संघर्षों, विरोध एवं रचना के संपूर्ण कथ्य के शैलीविज्ञान तो भाषाविज्ञान से होते हुए रचना या उपन्यास के मर्म तक जाता है। माना कि उपन्यास का फार्म, उसकी धारदार तराशी हुई गद्यशैली, विलक्षण बिम्बसृष्टि भी बहुत महत्वपूर्ण होती है लेकिन उसके कथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती क्योंकि किसी कृति को कथ्य और शिल्प यह मिलकर ही कालजयी बनाती हैं और जिसके बिना उपन्यास को उसकी पूरी सम्पूर्णता में अध्ययन मूल्यांकन कर पाना असंभव हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अगर हम मनेविश्लेषणात्मक पद्धति को लें और उस पर गीतांजलि श्री के उपन्यास 'तिरोहित' को कसकर देखें तो पाते हैं कि यह पद्धति चच्चो और ललना के भीतर उठने वाले अंतर्द्वंद्वों और मन:स्थित को तो विश्लेषित एवं मूल्यांकित करने में सक्षम है लेकिन क्या उनके इस अनकहे

दर्द को भी अध्ययन कर रेखांकित कर पायेगी। 'तिरोहित' की चच्चो कहती है ''ये वह बाते हैं, जिनका स्पन्दन स्त्रोत भीतर है किन्ही के, जहाँ से नामालूम-सा एक स्फुरण उठकर धीरे-धीरे हाहाकार कर बैठता है और घेर लेता है दो लड़कियों को, जो साथ-साथ जवान हुई हैं और बच्चियाँ हुई हैं और बूढ़ी हुई हैं पर जिन्हें देखने वाला उन्हें साथ देखकर भी साथ नहीं देख पाए हैं।''[51] इस तरह चच्चो और ललना दोनों निरन्तर तिरोहित होती रहती हैं समाज के देखे जाने में। इस तरह यह पद्धति दोनों स्त्रियों के लेस्बियनिटी के इतिहास एवं संघर्ष के साथ-साथ समाज के द्वारा दिये जा रहे भय को विश्लेषित कर पाने में असमर्थ दिखाई देती है।

इसके अलावा अगर हम मार्क्सवादी पद्धति को केन्द्र में रखकर उस पर गीतांजलि श्री के उपन्यास को कस कर देखने की कोशिश करें तो चूँकि हमें यह पता है कि यह पद्धति अलग-अलग अस्मिताओं को तरजीह न देकर सर्वहारा वर्ग को देता है जिसके मूल में आर्थिक कारण है। इसके अलावा यह पद्धति किसी अन्य अस्मिता को नहीं मानती तो यह उनके ऊपर हो रहे सामाजिक, सांस्कृतिक, लिंगीय उत्पीड़न को कैसे विश्लेषित कर सकती है। जबकि अस्मिताओं का अध्ययन 'तिरोहित' जैसे उपन्यास के लिए तो और जरूरी हो जाता है कि बिना इसके इस उपन्यास को मूल्यांकित करना असंभव की कौड़ी ही जान पड़ती है। क्योंकि यह उपन्यास दो स्त्रियों के आपसी प्रेम संबंध या 'स्त्री समलैंगिक (लेस्बियन)' संबंध पर आधारित है। इसमें अभिव्यक्त 'स्त्री समलैंगिकता' स्त्री की मुक्ति चेतना को क्या यह पद्धति रेखांकित कर सकती है। इस उपन्यास में लेबरनम हॉउस की विशाल छत है जो स्त्री मुक्ति से जुड़ी हुई है क्योंकि चच्चो की नजर में ''लाँघना! एक ऐसी क्रिया है जिसमें खुशी की छलछलाहट है। लाँघो तो तन अलग, दिल अलग फड़कता है। लाँघी जाती है दीवार, झाड़ी, छत, दहलीज, सीमा, चन्द्रमा...। लाँघते ही छूटती है खिलखिल हँसी बुरके के अंदर से, जो दबाए न दबे, डर जाए पर छिटके।''[52] इससे भी आगे बढ़कर चच्चो लेस्बियन स्त्री चेतना की उस गहरी अनुभूति को अभिव्यक्त करती है, जो स्त्री के अंदर सामाजिक सांस्कृतिक कुंठित पहलुओं से निर्मित होती है। जो पुरुष की दृष्टि में स्त्री की अस्मिता को गंभीरपूर्वक उपेक्षा के लिए प्रेरित करती है। इसकी वजह को गहरे और गंभीर अनुभवों के आधार पर इस उपन्यास में चच्चो के माध्यम से लेखिका ने विश्लेषित किया है और साथ ही उनके दर्द को भी। हाँ, लेकिन यह भी सच है कि ये दोनों अपने अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों का सामना भी करती हैं, अपने अपार सीधे-सच्चे साहस से जो सामान्य जिन्दगियों का स्वभाव बन जाता है। गीतांजलिश्री ने इन दोनों स्त्रियों के घरेलू जिन्दगी की अनुभूतियों व रोजमर्रा के स्वाद, स्पर्श, महक, दृश्य को इसी तरह बड़ी बारीकी से उनकी पूरी यौनिकता में उकेरा है। इतने महत्वपूर्ण उपन्यास को मार्क्सवादी उपन्यास आलोचना सिद्धांत मूल्यांकन करने में चूक ही जाता है।

इसके साथ ही समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति के बारे में बात करें तो चूँकि यह पद्धति अपने अंदर मार्क्सवादी तथा संरचनावादी पद्धति जो दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं को भी ले लेता है जिसके चलते इसके अध्ययन, मूल्यांकन का पैटर्न कोई एक नहीं रह जाता यहीं पर इसकी कमजोरी सामने आ जाती है। इसके अतिरिक्त अब अगर हम बात करें सबाल्टर्न इतिहासवादी आलोचना पद्धति की तो

अध्ययन, मूल्यांकन करने का आधार ही बहुत कमजोर दिखाई देता है फिर वह कैसे इस उपन्यास में अभिव्यक्त चच्चो और ललना के मध्य पनपे लेस्बियनिटी के संबंध का अध्ययन मूल्यांकन करेगी ? हालांकि आलोचक वीरेन्द्र यादव ने इसका अध्ययन सबाल्टर्न इतिहासवादी आलोचना पद्धति से करते हुए इसे स्त्री अस्मिता के अन्तर्गत ही समेट लिया है लेकिन लेस्बियन स्त्रियों के बारे में जगदीश्वर चतुर्वेदी का कहना है ''यह सच है कि लिंग को आधार बनाकर व्यक्ति की पहचान निश्चित करने की परंपरा हमारी जिंदगी में गहरे तक जड़ें जमाए हुए है। लिंगाधारित कार्यों को प्राथमिकता के साथ निर्धारित किया गया है। किंतु लेस्बियन की स्त्री-पुरुष से भिन्न लिंगीय पहचान को भारतीय चिंतकों ने स्वीकार ही नहीं किया। लेस्बियन को स्त्री के लिंग के तहत ही विश्लेषित किया गया है। जबकि लेस्बियन स्त्री है, लेकिन उसका पूरा रवैया स्त्री से भिन्न होता है। यह स्त्री के प्रति परंपरागत तौर पर निर्धारित सामाजिक भूमिका के अस्वीकार के गर्भ से उपजी नई अस्मिता के रूप में दिखाई देती है। इसकी संवेदनाएं, मिजाज, मूल्यबोध, सामाजिक बोध भिन्न होता है। समलैंगिक स्त्री पुरुष के साथ शारीरिक संबंधों, संवेदनात्मक और भावुक रिश्ते के अभाव, शादी से स्वतंत्रता या अस्वीकार, पुरुष पर किसी तरह का निर्भरता का निषेध करती है। लेस्बियन दृष्टिकोण उस अवस्था का द्योतक है जब स्त्री अपनी काम संबंधी भूमिका का अतिक्रमण कर जाती है। ये वे औरतें है जो पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती हैं। वे अपनी जरूरतों और अधिकारों को रेखांकित करती हैं और साथ ही अपने अधिकारों के लिए लड़ती भी हैं। इसलिए इसे देखने के लिए विशिष्ट दृष्टिकोण चाहिए।''[53] जगदीश चतुर्वेदी कि यह बात बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि लेस्बियन संबंध को पुरुषवादी निर्मित आलोचना दृष्टि से पढ़ना संभव नहीं है। जबकि स्त्री समलैंगिक दृष्टिकोण पितृसत्तात्मक व्यवस्था एवं पुरुष वर्चस्व की मुखालफत करना है।

समलैंगिक स्त्रीवादी साहित्य आलोचना के सिद्धांतों के निर्माण की परंपरा पाश्चात्य जगत में बड़ी पुरानी रही है। इन सिद्धांतकारों व समीक्षिकाओं में बानी जीमिरमैन, बारबरा स्मिथ, एड्रीनी रीच, जीनेट रुले, मोनिका वीटिंग, वर्जीनिया वुल्फ, लीविसरीना, डायना फूज, संडे बूचर, इली बुल्किन, लिलियन फेडरमैन, जीनित फोस्टर, डोलोर क्लिशे, एलिनी मार्क्स, मेरीलीवर्टिन, जनी गुर्को, वार्था हेरिस, वी. हावगीज, मारग्रेट हाक्स, एलिजावेथ एडिल आदि का कार्य महत्वपूर्ण माना जाता है। लेस्बियन स्त्रीवादी चिंतन की मान्यता है कि सामाजिक व्यवस्था में स्त्री सबसे ज्यादा उत्पीड़ित है तो स्त्रियों में लेस्बियन स्त्री को उससे भी ज्यादा दमन, उत्पीड़न एवं उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। लेस्बियन पदबंध स्त्री की स्त्री के प्रति काम-दशा का प्रतीक मात्र नहीं माना जाता था किंतु इसके अर्थ को विगत पचास वर्षों में विस्तार मिला है। उसमें नए आयाम जुड़े हैं। और तो और दो दशक पहले शैली मांट ने लेस्बियन विमर्श को संकलित करके उत्तर-संरचनावादी परिप्रेक्ष्य में 'न्यू लेस्बियन क्रिटिसिज्म' (1992) शीर्षक कृति प्रकाशित की। जिसमें रीना लीविस ने लिखा है कि सामयिक लेस्बियन की बहादुराना आत्मछवि और इच्छाओं को सुसंगत ढंग से पेश किया जाए।

समलैंगिक स्त्रीवादी आलोचना के अन्तर्गत उपन्यास में उसके बदलते अर्थ, व्यक्तिनिष्ठता और बदलती आत्मप्रस्तुति को भी देखा जाता है, क्योंकि स्त्री समलैंगिक (लेस्बियन) उपन्यास एक गतिशील

पाठ होता है इसलिए उसका अर्थ भी गतिशील है। हमारे पास स्त्रियों के व्यापक अनुभव हैं लेकिन उन अनुभवों में स्त्री समलैंगिक स्त्री का अनुभव एकदम नया एवं अतिरिक्त है। यह एक असामान्य जीवन की तरफ हमें ले जाता है। इसीलिए जगदीश्वर चतुर्वेदी एड्रीनी रीच की अवधारणाओं के बारे में लिखते हैं ''लेस्बियन स्त्रीवादी आलोचना के अन्तर्गत एड्रीनी रीच की अवधारणाओं को बहुत गंभीरतापूर्वक लिया जाता है। क्योंकि उन्होंने लेस्बियन परंपरा और निरंतरता की अवधारणा दी है। उनकी मान्यता है कि इसमें प्रत्येक औरत के जीवन, इतिहास और अनुभवों को शामिल किया जाना चाहिए। सिर्फ लिंगीय अनुभव ही नहीं बल्कि एक स्त्री के दूसरी स्त्री के बीच के समृद्ध आंतरिक जीवन, उसमें हिस्सेदारी, पुरुष के जुल्मों के खिलाफ स्त्रियों की एकजुटता और राजनीतिक रवैए को भी शामिल किया जाना चाहिए।''[54] इस प्रकार समलैंगिक स्त्री उपन्यास में स्त्रीत्व, स्त्री के शरीर और स्त्री की कामुकता का स्त्री की भाषा में रूपायन मिलता है। आम तौर पर स्त्री समलैंगिक साहित्य में स्त्री कामुकता का जो मॉडल मिलेगा वह पितृसत्ता विरोधी होता है। स्त्री समलैंगिकता (लेस्बियन) एक प्रकार का नजरिया है, जीवन शैली है। इसके आधार पर ही लेस्बियन अपनी चेतना निर्मित करती है। इन लेखिकाओं मे पार्थक्य मूल्य महत्व रखता है। इसी के आधार पर लेस्बियन विचारधारा निर्मित होती है। कुल मिलाकर लेस्बियन स्त्रीवादी आलोचकों ने यह सवाल उठाया कि लेस्बियन पाठ आखिर कहें किसे ? वैसे इसे सुनिश्चित करना जरूरी भी है क्योंकि तभी हम उसके मूल्यांकन के लिए मानदंडों को बना पायेंगे। इसके बारे में जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं ''मेरी राय में स्त्री द्वारा लेस्बियन पर लिखा गया, उसके विजन को व्यक्त करने वाला पाठ ही लेस्बियन पाठ है। इस तरह के पाठ को विश्लेषित करने के लिए स्थापित समीक्षा मानदंडों की अवहेलना अनिवार्य है तभी ही लेस्बियन आलोचना के लिए नई दिशाएं, नए मानदंड बन पाएंगे। (जीमिरमन, वानी / 1985/188) लेस्बियन पाठ को विश्लेषित करते हुए समय प्रतीकों के प्रयोगों और उनकी अभिव्यक्ति शैली पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए।''[55] मेरी समझ से इसी के परिप्रेक्ष्य में गीतांजलि श्री का उपन्यास 'तिरोहित' देखा जाना चाहिए।

(5.5.2) सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप)

यह सच है कि समाज की रूढ़ियों को नकारने का चलन आज जोरों पर है। विवाह भी एक बंधन ही है उनके हिसाब से युगल का प्रेम कहीं गुम हो जाता है। इसलिए युवा पीढ़ी बिना विवाह किये एक साथ सहजीवन या लिव इन रिलेशन में रहने लगते हैं। कम से कम महानगरों में सहजीवन का चलन बहुत तेजी से बढ़ रहा है। शरद सिंह ने अपना उपन्यास 'कस्बाई सिमोन' इसी को आधार बनाकर लिखा है। इसमें नायिका सुगंधा के लिव इन रिलेशन के तहत जी गई जिन्दगी के अनुभव को व्यक्त किया है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो यह कहा जा सकता है कि उपन्यास में नायिका ने जो कुछ भी झेला है इस रिश्ते में रहते हुए, उसने जो कुछ भी महसूस किया है, उसका चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के बारे में अगर मैं यह कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह एक वर्कशॉप है जो आने वाली पीढ़ी को इस संबंध का फीचर उनके सामने प्रस्तुत करता है। साथ ही उसके चुनौतियों को भी सामने रखता है। यह उपन्यास

अपने तर्क-वितर्क से सहजीवन की जिन्दगी जीने वाले लोगों को सचेत करता है। साथ ही इसमें लेखिका ने बताया है कि शहरी संस्कृति में यह 'सहजीवन' का बीज न केवल रोपित हुआ है वरन पुष्पित और पल्लवित भी हो चुका है लेकिन कस्बों में जहाँ आज भी लोग एक-दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप करते हैं वहाँ इस तरह की जीवन शैली अपनाने वालों को तमाम तरह की समस्याओं से गुजरना पड़ता है। उनके लिए यह इतना आसान नहीं होता है, क्योंकि उपन्यास में सुगंधा से दफ्तर के ही एकाउंडेट सिकरवार कहता है कि तुम कोई नीना गुप्ता, सुष्मिता सेन या करीना कपूर नहीं हो बल्कि तुम एक कस्बे की और मध्यमवर्ग की लड़की हो, ये सब पैसों वाले और महानगरों के जीने के तरीके हैं तुम जैसी लड़कियां दुख ही पाती हैं, चैन, सुकून, अधिकार और सम्मान नहीं, आगे तुम समझदार हो। लेकिन सुगंधा ने अपना जीवन जीने का तरीका आदर्श फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार को चुन लिया था जो बिना शादी के अपने प्रेमी के साथ रहीं, उनके साथ रहते हुए भी अन्य पुरुष से दैहिक संबंध बनाए। हाँ लेकिन यहां परिवेश की भिन्नता है। लेखिका लिखती है ''यहाँ तो बंद दरवाजे के पीछे बनने वाले रिश्ते प्रतिकूल मान्य होते हैं, खुली सड़क पर बनने वाले अनुकूल रिश्ते नहीं।''[56] लेखिका ने यही सोचकर इस उपन्यास का नाम 'कस्बाई सिमोन' रखा है। अब सवाल यह है कि इतने प्रासंगिक महत्वपूर्ण उपन्यास को आखिर कौन-सी अध्ययन पद्धति से जाँचा-परखा जाए ? जो सम्पूर्णता में इसका अध्ययन मूल्यांकन कर सके ?

उपरोक्त सवालों को देखते हुए अगर हम आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, रूसी रूपवादी, शैलीविज्ञान, नई समीक्षा, विखंडनवादी जैसी पद्धतियाँ पर इस उपन्यास को कसकर देखें तो पता चलता है कि यह पद्धतियाँ बहुत दूर तक हमारा साथ नहीं दे पाती हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पद्धतियाँ उपन्यास या रचना को स्वतंत्र मानकर उसके पाठ को टुकड़ों-टुकड़ों में बांकर देखने की आग्रही हैं। साथ ही यह पद्धतियाँ उपन्यास के शिल्प-विधान पर ज्यादा जोर देती हैं, इन पद्धतियों के लिए भाषा ही अधिक महत्वपूर्ण होती है। अधिकतर पद्धतियाँ उपन्यास के समय, परिवेश, लेखक की विचारधारा, यथार्थ आदि से काट कर देखती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि यह पद्धतियाँ उसमें अभिव्यक्त जीवन की जटिल समस्याओं, इतिहास तथा संघर्ष को मूल्यांकित करने में असमर्थ हो जाती हैं। क्या यह पद्धतियाँ 'कस्बाई सिमोन' की इन पंक्तियों का अध्ययन कर रेखांकित कर पायेंगी ? उपन्यास में सुगंधा एक जगह कहती है ''स्त्री वेश्या बनती है क्योंकि पुरुष उसकी देह के बदले उसे पैसे देने को तैयार है, स्त्री दासी बनकर रहती है क्योंकि पुरुष बदले में दूसरे पुरुषों से उसकी रक्षा करता है। पुरुष जो बनाता है स्त्री बनने को तैयार हो जाती है क्योंकि वह जीना चाही है। दुख की बात तो यह है कि समाज के रूप में उपस्थित पुरुष और पुरुषों की दृष्टि में स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की होड़ में हर उस स्त्री को सार्वजनिक रूप से अपमानित किया जाता है जो पुरुष की दासी या वेश्या बने बिना जीना चाहती है।''[57] इस तरह इन पंक्तियों को संदर्भ से काट कर सिर्फ उसकी भाषा, वाक्य विन्यास, उसकी संरचना आदि को देखने पर क्या इसका उचित मूल्यांकन हो पायेगा। मेरी समझ से नहीं।

इसके साथ ही अगर हम मनोविश्लेषणवादी पद्धति को लें और उस पर इस उपन्यास को कसकर देखें तो कुछ बातें सामने निकल कर आती है कि यह पद्धति सुगंधा के अंदर उपजे द्वंद्व को

रेखांकित कर लेती है कि आखिर क्यों वह सहजीवन (लिव इन रिलेशन) में रहते हुए व्यवहार कुछ-कुछ पत्नी जैसा ही करती है। एक पत्नी की तरह ही वह खुद ऋतिक के अनुसार ढलती रहती है। कुल मिलाकर सुगंधा एक प्रकार के द्वंद्व से गुजरती रहती है वह द्वंद्व है पारंपरिकता और आधुनिकता का। सुगंधा का यह द्वंद्व उपन्यास के बहुत सारे पृष्ठों पर पसरा हुआ दिखाई देता है। चूँकि वह परंपरागत स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी के रिश्ते को न तो पूरी तरह छोड़ ही पा पाती है और न ही सहजीवन को पूर्णत: अपना पाती है। कुल मिलाकर ऐसी तमाम चुनौतियाँ और द्वंद्व स्त्री के सामने मुँह बाये खड़े हैं। लेकिन क्या यह पद्धति उसके इतिहास तथा जीवन के तमाम संघर्षों, चुनौतियों को रेखांकित कर पायेगी ?

इसके अतिरिक्त अगर हम मार्क्सवादी पद्धति को लें जो समाज का अध्ययन मूल्यांकन करने के लिए आर्थिक कारण को महत्वपूर्ण मानता है। क्या यह सच नहीं कि आर्थिक के अलावा भी रोजमर्रा की जिंदगी में सामाजिक, सांस्कृति, धार्मिक, जाति, लिंग, नस्ल आदि आधार पर भी शोषण झेलना पड़ता है। कमल कुमार के उपन्यास 'कस्बाई सिमोन' की सुगंधा भी सोचती थी लेकिन हुआ इसके विपरीत ही। उसने बचपन से ही देखा था कि स्त्री को आर्थिक आधार पुरुषों के बराबर न होने के कारण विवाहिताएं अपने पति द्वारा छोड़ दिए जाने से भयभीत रहती हैं और दूसरे परित्यक्ता को समाज सम्मान की दृष्टि से भी नहीं देखता। अत: पुरुष वर्चस्वता या पितृसत्तात्मक व्यवस्था से निजात पाने के लिए उसने स्त्री की आर्थिक सक्षमता पाया। इसीलिए आर्थिक स्वावलंबन सुगंधा का मुख्य लक्ष्य बना। और फिर उसने खुद की स्वतंत्रता और सुरक्षाबोध के लिए सहजीवन (लिव इन रिलेशन) अपनाया और लाँघ गयी वह विवाह की रेखा रितिक के भरोसे मगर क्या वह भरोसा मजबूत निकला ? लेकिन बाद में उसे क्या मिला ? रितिक से 'रखैल, खेली खाई' की उपमा। चरित्र पर संदेह स्वावलंबी सुगंधा पर नागवार गुजरा, उसके मन में हमेशा यह बात एक टीस बनकर चुभती रही। कुल मिलाकर उसे यहाँ भी पुरुषवादी वर्चस्व को सहना पड़ा, जब लिब इन में दोनों रह रहे थे तो फिर चरित्रहीनता की उंगली केवल सुगंधा पर ही क्यों उठायी गयी ? क्यों रितिक के अंदर सोया पुरुष जागकर बोल उठआ ''मैं जानता था तुम यही कहोगी ! तुम पैसे के पीछे दुम हिलाने वाली बिच हो...पैसों के लिए तुम किसी के साथ भी...''[58] पते की बात यह है कि उपन्यास की नायिका सुगंधा ने पारंपरिक व्याहता स्त्री के चरित्र तथा उसके शोषण से मुक्ति के लिए यह रास्ता अपनाया था लेकिन क्या वह उन चरित्रहनन, लांछना तथा शोषण से मुक्त रह पाई ? नहीं। आखिर वह भी तो कदम-कदम पर रितिक के साथ समझौता ही करती रही और बाद में अंदर तक छलनी कर देने वाली तमाम लांछनाओं को सहा भी। कुल मिलाकर स्त्री के लिए सहजीवन हो या वैवाहिक रिश्ता इन दोनों में उसको ही चरित्रहीन, लांछना, शोषण तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मार झेलनी पड़ती है। कुल मिलाकर यहाँ पर सुगंधा के शोषण का मूल कारण आर्थिक नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। क्या मार्क्सवादी पद्धति पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मार खायी स्त्री के दर्द, उत्पीड़न को मूल्यांकित कर सकेगी ?

इसके अलावा अगर सबाल्टर्न पद्धति को देखें तो इसका कोई निश्चित पैटर्न नहीं है और न ही वृत्तांतों को महत्व देती है। जिसके चलते यह कार्य-कारण संबंधों के साथ किसी ऐतिहासिकता की

तलाश ही नहीं कर पाती है। दूसरी पद्धति के रूप में समाजशास्त्रीय उपन्यास आलोचना पद्धति को लें तो इसकी भी सीमाएं दिख जाती हैं । वह यह पद्धति अपने अंदर एक तरफ तो मार्क्सवादी पद्धति को अपनाती है तो दूसरी तरफ संरचनावादी सिद्धातं को भी समेट लेती है। जबकि यह दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे के विपरीत ठहरती हैं। अत: यह एक खिचड़ी सिद्धांत है, इसका कोई एक पैटर्न नहीं है, जिसे आधार बनाकर यह उपन्यास साहित्य का अध्ययन-मूल्यांकन करती हो। इसलिए यह स्वाभाविक भी नहीं प्रतीत होती क्योंकि जिस पद्धति का अपना कोई एक पैटर्न न हो वह सहजीवन (लिव इन रिलेशन) जैसे महत्वपूर्ण एवं ज्वलंत मुद्दे को अपने में समेटे हुए उपन्यास का क्या ही संपूर्णता में अध्ययन, मूल्यांकन करेगी ? क्या यह पद्धति विवाह संस्था के अंदर सदियों से हो रहे शोषण को रेखांकित कर पायेगी, जिसके चलते सुगंधा सहजीवन जैसा बड़ा कदम उठाती है ? क्या यह पद्धति वैवाहिक जीवन के इस नकार को समझ पायेगी ? जब सुंगधा रितिक से यह कहती है ''मुझे पति चाहिए भी नहीं, घुटन होती है इस शब्द को सुनकर, मुझे स्पेस चाहिए और प्यार भी, साथ भी, बहुत कठिन बात है न यह।' नहीं बल्कुल नहीं, बहुत सरल है, बस एक कदम उठाओ और लाँघ जाओ दुनिया के सारे नियम कायदे।''[59] हालांकि यह बात और है कि उसे सहजीवन (लिव इन रिलेशन) में भी तमाम लांछनाएं सहनी पड़ती हैं।

(5.6) सूचना क्रांति पर आधारित उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

मुन्नी मोबाइल उपन्यास प्रदीप सौरभ का बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा देश की राजधानी क्षेत्र (एन.सी.आर.) जिसे लेखक 'गोबर पट्टी' भी कहता है, के साहिबाद से शुरू होकर अहमदाबाद, गोधरा-इसके माध्यम से गोधरा कांड, नरेन्द्र मोदी के तत्कालीन सुलगते गुजरात, फिर इलाहाबाद, बिहार प्रदेश, लन्दन, लखनऊ, इलाहाबाद, अमेरिका, गुड़गांव के कॉल-सेंटरों आदि पर घूमती हुई फिर साहिबाबाद पर आ टिकती है। सुधा पांडेय के बहाने कलकत्ता और वहाँ के नक्सलवाद के विवरण भी उपन्यास में आ जाते हैं और आनंद भारती जिन-जिन स्थानों पर गये हैं वहाँ की विस्तृत रिपोर्टिंग पत्रकारिता शैली में की है। साथ ही आनंद भारती की साहिबाबाद में मुलाकात होती है बिहार से आई घरों का कामकाज करने वाली मुन्नी से। जो जल्दी ही दिल्ली की चकाचौंध और उपभोक्तावादी प्रभाव में मुन्नी से मुन्नी मोबाइल हो जाती है। आगे जाकर यह मोबाइल ही वह साधन बनता है जिससे मुन्नी दुनिया को अपनी मुट्ठी में कर लेने का सपना साधती है। यहीं वह झोलाछाप अवैध गर्भपात कराने वाली डॉक्टरनी शशि खोखरा से मिलती है। इसी मोड़ से आगे बढ़ मुन्नी उस उपभोक्तावाद में पड़ जाती है, जिसमें येन-केन प्रकारेण 'हाय पैसा, हाय पैसा' ही प्रमुख रह जाता है यानि कि बस के ठेकेदारी से लेकर कॉलगर्ल रैकेट चलाने और अपनी बेटी रेखा चितकबरी को इस दलदल में डाल देना ही उसकी नियति बन जाती है। इसीलिए मुन्नी का मर्डर हो जाने के बाद 'कॉलगर्ल रैकेट' की नई अवतार रेखा चितकबरी बन जाती है। इस विरासत के बारे में लेखक को पूरा यकीन भी था कि मुन्नी मोबाइल की लड़की की नियति यही होनी है। अब रेखा चितकबरी अपने लैपटॉप, इंटरनेट, अपने ब्लॉग आदि से मुन्नी के द्वारा बनाए गए देह-व्यापार को बड़ी ही हाईफाई तरीके से चलाने लगती है। वह अपराध जगत

का नई प्रविधियों, जुगुतों का नया चेहरा है । कुल मिलाकर यह उपन्यास संचार के माध्यम से मुन्नी मोबाइल से लेकर रेखा चितकबरी की कहानी बयां करता है । अब सवाल यह उठता है कि इतने व्यापक और महत्वपूर्ण विषय पर लिखे गये उपन्यास का संपूर्णता में जाँच-पड़ताल कर मूल्यांकन कैसे हो ? ऐसी कौन-सी उपन्यास आलोचना पद्धति है जो इस महत्वपूर्ण उपन्यास का उचित एवं सम्पूर्णता में मूल्यांकन कर सके ?

वैसे तो उपन्यास आलोचना की पद्धतियों के रूप में जो पद्धतियाँ सामने आती हैं उनमें मनोविश्लेषणात्मक, आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, नई समीक्षा, रूसी-रूपवादी, विखंडवादी, शैलीविज्ञान आदि । इन पद्धतियों पर अगर हम प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' को कसकरर देखने की कोशिश करें तो चूँकि इसमें से कुछ पद्धतियाँ उपन्यास या रचना को खंड-खंडकर समाज, परिवेश, मूल्य, यथार्थ और रचनाकार से काटकर अध्ययन करने पर जौर देती हैं । साथ ही उसके संरचनात्मक ढाँचे, भाषा, वाक्य-संरचना, कहन-शैली, ध्वनि संकेत आदि तत्वों को महत्वपूर्ण मानते हुए उपन्यास का अध्ययन, मूल्यांकन करने को आग्रही होती हैं जिसके चलते उपन्यास में अभिव्यक्त समाज के इतिहास, यथार्थ तथा उसके संघर्ष को रेखांकित नहीं कर पाती हैं । तो वहीं मनोवैज्ञानिक पद्धति रचना को वैयक्तिक मानकर उसमें आये पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करती हैं । और कुछ ऐसी पद्धतियाँ भी हैं जो सिर्फ रचना या पाठ को महत्व देते हुए उसकी संरचना पर ही बात करती हैं । इसके अतिरिक्त सबाल्टर्न आध्ययन पद्धति अपने अंतर्गत हाशिए की तमाम अस्मिताओं का अध्ययन कर उनके शोषण, संघर्ष और मुक्ति को रेखांकन करने का दावा तो करती है लेकिन उसे मूल्यांकित करने के लिए कोई एक पैटर्न नहीं अपनाती है और न ही वह वृत्तांत को सही मानती है । जिसके चलते कार्य-कारण संबंधों के साथ किसी ऐतिहासिकता की तलाश नहीं कर पाती । इस तरह यह पद्धतियाँ अपने-अपने प्राथमिकता के अनुसार उपन्यास के अध्ययन करने में उन तत्वों के आधार पर उसमें मूल तत्व को खोजने में जुट जाती हैं और निराशा हाथ लगने पर उपन्यास को या तो अप्रासांगिक घोषित कर देती हैं या फिर सतही । वहीं समाजशास्त्रीय उपन्यास आलोचना पद्धति है जिसका सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति की तरह कोई एक पैटर्न नहीं है जिससे उपन्यास की पूर्णता में उसका अध्ययन, मूल्यांकन कर सके । यह कहीं तो मार्क्सवादी पद्धति के टूल्स को अपनाती है तो कहीं संरचनावादी पद्धति के टूल्स को । अब मूल सवाल यह है जिस पद्धति का अपना कोई पैटर्न न हो वह कैसे 'मुन्नी मोबाइल' जैसे उपन्यास जो अपने अंदर नए एवं जटिल यथार्थ को समेटे हुए है, को संपूर्णता में मूल्यांकित कर सकती है ।

अब अगर हम मार्क्सवादी पद्धति को लें तो देखते हैं कि यह पद्धति वर्ग संघर्ष को तरजीह देते हुए आर्थिक कारक को महत्वपूर्ण मानता है । द्वंद्वात्मक भौतिकवादी प्रक्रिया समाज में उत्पादन के नए विकसित साधनों को महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि इसकी अवधारणा के अनुसार सामाजिक संबंध भी इसी के चलते बदलते हैं । इस तरह यह सिद्धांत उपन्यास में अभिव्यक्त उत्पादन के नए विकसित साधनों के जरिए सामाजिक संबंधों का विश्लेषण करता है । वैसे भी यह सारी पद्धतियों से सबसे वैज्ञानिक पद्धति है । अब 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास को इस पद्धति पर कसते हैं तो कुछ महत्वपूर्ण बिंदु सामने आते हैं । चूँकि

प्रदीप सौरभ ने उपन्यास में पूँजीवादी समाज में भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप विकसित उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, बाजारवाद के विभिन्न पहलुओं को तथ्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि किस तरह से पूँजीवादी समाज में नए आर्थिक संबंध विकसित हो रहे हैं। सूचना क्रांति के चलते नई नौकरियाँ विकसित हो रही हैं। जिसके कारण मानवीय संबंधों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा है और लोगों की जीवन शैली भी बदल जा रही है। उपन्यासकार अपने उपन्यास में एक जगह कॉल सेंटरों के खुल जाने का विवरण देते हुए उससे लोग कैसे प्रभावित हो रहे हैं इसकी अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है। ''कॉल सेंटरों में आने वाला हर नया युवा कॉल सेंटर की चमक से बच नहीं पाता है।...कॉल सेंटरों में काम करने के लिए बहुत बड़ा ज्ञानी होने की कोई जरूरत नहीं है। बारहवीं पास कर परसूईंग ग्रेजुएशन का बायोडाटा देकर नौकरी मिल जाती है। योग्यता सिर्फ अंग्रेजी जानना है। बाकी पंन्द्रह दिन की ट्रेनिंग में सब सिखा दिया जाता है। कॉलिंग यानि अच्छा बातूनी होना।...यदि कस्टमर सन्तुष्ट हो जाता है तो कॉल सेंटर की भाषा में इसे अच्छी कॉलिंग कहा जाता है।...पढ़ाई करते हुए जेबों को मालामाल करने का आसान रास्ता है कॉल सेंटर। लेकिन जिंदगी की बड़ी कीमत पर...जिंदगी के चक्र में बदलाव।...जिंदगी बंध सी जाती है। सोशल लाइफ का मतलब सिर्फ आफिस और डिस्को में धमाल। इनकी जिंदगी का अर्थ यही रह जाता है।''[60] इस तरह पूँजीवादी समाज में नई नौकरियों के विकसित हो जाने पर जीवन शैली तथा उसके मूल्यों में भी बहुत बदलाव आया है।

इसी तरह यह पद्धति उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्र मुन्नी के जीवन में मोबाइल के आ जाने से तब्दीलियों को भी उजागर करती है। यह सच है कि मुन्नी ने अपनी कुशाग्रता से जिन ऊंचाइयों को छुआ है उसके पीछे बाजार तथा सूचना क्रंति किसी न किसी रूप में उपस्थिति रहा है। मुन्नी मोबाइल की यात्रा जो मोबाइल के मांग से लेकर हस्ताक्षर करने तक का सफर, बच्चों की पढ़ाई से लेकर बेटी रेखा के लिए आनंद भारती से कंप्यूटर लेने की हसरत और फिर नौकरियों की सप्लाई से लेकर कॉल गर्ल की सप्लाई तक मुन्नी के संघर्ष से लेकर सफल होने तक की इंद्रधनुषी यात्रा बदरंग होने तक चलती रहती है। और फिर उसकी विरासत के रूप में सामने आती है रेखा चितकबरी। जिसके बारे में उपन्यासकार लिखता है ''कॉलगर्ल वर्ल्ड में मुन्नी मोबाइल की जगह रेखा चितकबरी ने ले ली थी। आनन्द भारती को इस बार हैरानी नहीं हुई थी बल्कि मन ही मन वह रेखा की यही तस्वीर अपने मन में बना चुके थे। इसके अलावा रेखा के रास्ते किसी और दिशा में भला जाते भी कैसे ? मुन्नी ने जो रास्ता चुना था, रेखा के लिए वही उसकी विरासत थी। रैकेट के कस्टमरों और लड़कियों का लेखाजोखा भी अपने लैपटॉप पर रखती थी। उसने अपना नया नम्बर अपनी मम्मी के पक्के कस्टमरों को एसएमएस कर दिया था। मोबाइल पर वह पक्के कस्टमरों से ही डील करती थी। इंटरनेट के जरिए वह नए कस्टमर बनाती। लड़कियों की तस्वीरें उसने अपने ब्लॉग में डाल दी थीं। हाईफाई तरीके से वह धंधा करने लगी थी।''[61] इस तरह सूचना क्रांति के आने से मुन्नी मोबाइल ही नहीं समाज के आपसी रिश्तों के साथ-साथ मानवीय संवेदनाएं कैसे बदल रही हैं, इसे भी कुछ हत तक पद्धति रेखांकित करती है।

(5.7) विज्ञानमूलक उपन्यास और आलोचना सिद्धांत

यह बात दीगर है कि जैस-जैसे समाज बदलता है, जीवन-शैली बदलती है, मूल्य बदलते हैं वैसे-वैसे साहित्य भी बदलता है क्योंकि साहित्य अपने समाज को तथा उसके बदलावों को ही दर्शाता है । आधुनिक युग में वैज्ञानिक तकनीक, सूचना क्रांति का दौर आया तो साहित्य में भी इसका प्रभाव पड़ा । और हिंदी साहित्य में भी विज्ञान लेखन शुरू हुआ । हालांकि दूसरी भाषाओं को देखते हुए हिंदी साहित्य में इसकी शुरूआत बहुत बाद में हुई । आज इस प्रवृत्ति का विस्तार उपन्यास में भी होता दिखाई दे रहा है । प्रसिद्ध उपन्यासकार संजीव का उपन्यास 'रह गईं दिशाएं इसी पार' जीव-वैज्ञानिक उपन्यास है । राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहें तो यह ''उपन्यास एक ऐसी प्रयोगशाला है जहां निरंतर परीक्षण चल रहे हैं ।''[62] कहना न होगा कि इसीलिए संजीव अपना यह उपन्यास दुनिया के उन तमाम वैज्ञानिकों को समर्पित किया है जिन्होंने मनुष्यों की बेहतरी के लिए अपना सारा जीवन कुर्बान कर दिया । इसमें टेस्ट ट्यूब-बेबी बहाने से जन्म, मृत्यु, मरण, जेंडर, ईश्वर और अनंत के रहस्यों पर एक वैज्ञानिक की तरह बात की गई है । संजीव ने प्रेम, सेक्स के सारे रहस्यों और उनके साथ जुड़े आध्यात्म को ध्वस्त कर इन पर खुलकर बहस की है । साथ ही जीवन, समाज और पूंजी के घिनौने सम्बंधों को बड़े ही बेबाकी से उधेड़ा है । साथ ही एक तरफ जहां विज्ञान ने मनुष्य के जीवन को बेहतरी की ओर ले जाने को रास्ता सरल बनाया है वहीं दूसरी ओर हमारे मनुष्य के पारस्परिक संबंधों को और उलझाकर रख दिया है । इसका एक उदाहरण टेस्ट ट्यूब-बेबी जिमी तथा उसके परिवार वालों के रिश्ते को देखा जा सकता है और दूसरे उदाहरण के रूप में शुद्धता के प्रबल समर्थक डॉ. बलविंदर समलैंगिकता के समर्थक क्यों बने नामक प्रसंग को भी देख सकते हैं । जिसमें डॉ. ने किसी बाहुबली के लिए ग्यारह साल की बच्ची को सोलह साल की बनाने का उपक्रम किया । हारमोन ट्रीटमेंट से उसके मूंछ-दाढ़ी उग आए और वह फातिमा से फत्ते खां बन गई, और डॉ. सिंह को जा पकड़ा । ऐसे तमाम प्रसंग इस उपन्यास में भरे पड़े हैं । जिन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास में भी विज्ञान लेखन की प्रवृत्ति का विकास होने लगा है, भले ही उपन्यासों की गिनती अभी कम हो ।

अब सवाल यह उठता है कि क्या इतने गंभीर एवं महत्वपूर्ण उपन्यास को जाँचने-परखने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए कोई सिद्धांत बनाया गया है ? या फिर कोई सिद्धांत पहले से ही मौजूद है जिसके आलोक में ऐसे उपन्यासों का परीक्षण एवं मूल्यांकन किया जा सकता है ? इन सवालों से टकराते हुए उपन्यास आलोचना की जो पद्धतियाँ सामने दिखाई देती हैं वे हैं – आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, नई समीक्षा, रूसी-रूपवादी, विखंडवादी, शैलीविज्ञान, आदि । चूँकि यह पद्धतियाँ रचना या उपन्यास को स्वायत्त मानकर उसके फॉर्म पर ज्यादा जोर देती हैं । जबकि यह उपन्यास 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' एक विज्ञानपरक उपन्यास है । जिसके बारे में उपन्यास के आवरण पेपर के अन्तिम पेज पर लिखा है ''संजीव का यह उपन्यास हिंदी साहित्य में जैविकी पर रचा गया पहला उपन्यास है ।...मिथ, इतिहास, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नए से नए विषय

तथा चिंतन की प्रयोग भूमि है यह उपन्यास और यह जीवन और मृत्यु के दोनों छोरों के आर-पार तक ढलकता ही चला गया है, जहाँ काल अनंत है, जहाँ दिशाएं छोटी पड़ जाती है, जहां गहराइयां अगम हो जाती हैं और व्याप्तियां अगोचर...!''[63] अत: जब तक इसके कथ्य और शिल्प का एक साथ अध्ययन व मूल्यांकन नहीं किया जाएगा तब तक इस उपन्यास का पूर्ण मूल्यांकन दूर की कौड़ी ही नजर आएगा। इसकी ठोस वजह यह है कि इस उपन्यास में जिस तरह की भाषा आयी है या यों कहे कि इसकी भाषा उपन्यास के मूल कथानक पर निर्भर है उदाहरण के तौर पर इसमें खोजने से विज्ञानपरक तमाम शब्दावलियाँ मिल जाएंगी जिनका अध्ययन संदर्भों से काटकर नहीं किया जा सकता। साथ ही विज्ञानपरक कथानक को अभिव्यक्त करने में भाषा का भी बड़ा रोल होता है। वैसे भी भाषा की संरचना एवं शब्दों के चुनाव में बदलाव भी विषयवस्तु के कारण से होता रहा है। अत: संजीव के यहाँ पर उपन्यास का कथानक और अभिव्यक्ति का माध्यम मानी जाने वाली भाषा का सबंध अन्योन्याश्रित देखने को मिलता है। इसीलिए इस उपन्यास में संजीव कथानक के भीतर स्थितियों के बोध भावों की गहराई और संवेदनाओं की सूक्ष्मता तक पहुँचने के लिए संस्कृत, अंग्रेजी, हिंदी, बांग्ला और उर्दू के काव्यांशों का प्रयोग करते हैं। उपन्यास की भाषा की बहुलता पर आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं '''इस उपन्यास में अंग्रेजी का प्रयोग बहुत है। उसका कारण यह है कि उपन्यास जिस विज्ञान के अनुसंधानों और प्रयोगों पर केन्द्रित है उसके पारिभाषिक शब्द अधिकांशत: अंग्रेजी में ही उपलब्ध हैं। लेकिन उपन्यास के अध्यायों के शीर्षक के रूप में अंग्रेजी की उपस्थिति चकित करती है। उपन्यास के सात अध्यायों के शीर्षक अंग्रेजी में हैं।''[64] इसलिए कहा जा सकता है कि इतने महत्वपूर्ण और वृहत उपन्यास के कथ्य और शिल्प दोनों अलग-अलग कर देखने से निराशा ही हाथ आएगी। इसके अलावा जो इस उपन्यास की विशेषता है वह यह कि इस उपन्यास के आख्यान में कथा और कविता दोनों को मिलाया गया है। उपन्यास का नाम कविता की एक पंक्ति से जुड़ा है। यही नहीं इसके अध्यायों के अधिकांश शीर्षक कविता में ही हैं। जैसे – माया मरी न मन मरा, मर मर गया शरीर, कुछ ना मेरा ना कछु तेरा, वहाँ कौन है तेरा, गंगा आए कहाँ से गंगा जाए कहाँ रे, जल भीतर एक बिरछा उपजे तामे अगिन जरे, ये न थी हमारी किस्मत आदि। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में कविता की भी संवेदना मौजूद है, मतलब कि एक विधा भीतर दूसरी विधा को भी समेट लेना। इसीलिए शायद मैनेजर पाण्डेय कहते हैं ''मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में उपन्यास की संवेदना मौजूद है और संजीव के इस उपन्यास में कविता की संवेदना।''[65] इस तरह अपने भीतर अन्य विधाओं को समेटे हुए उपन्यास का अध्ययन, मूल्यांकन विषय, संदर्भ, विचारधारा तथा कथ्य से अलग कर देखेंगे तो बहुत हद तक यह संभव हैअध्ययन के नतीजे उपन्यास को सतही और अप्रासांगिक घोषित कर दें। इसी तरह सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति और समाजशास्त्रीय पद्धति के बारे में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने बावजूद इनके अध्ययन, मूल्यांकन करने के पैटर्न एक नहीं हैं जिसके चलते ऐसे वृहत एवं विज्ञानपरक उपन्यास को पूर्ण तथा उचित ढंग से नहीं जाँचा-परखा जा सकता।

इसके अलावा अब हम मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर इस उपन्यास को कसकर देखने की कोशिश करें तो पता चलता है कि यह पद्धति कुछ दूर तक हमारा साथ जरूर देती है। यह पद्धति उपन्यास में टेस्ट ट्यूब से जन्में बेबी जिमी के मानसिक बदलावों, द्वंद्वों आदि का तो अध्ययन कर मूल्याकिंत कर सकती है लेकिन उपन्यास में आये जैविकी, मिथ, इतिहास, प्रौद्योगिकी के प्रसंगों को मूल्यांकित नहीं कर सकती। उदाहरण के तौर पर उपन्यास में वर्णित स्टेम कोशिका के प्रोजेक्ट के प्रसंग को देखा जा सकता है। संजीव लिखते हैं ''स्टेम कोशिका के विकास के ब्लूप्रिंट के हिसाब से शुरू हुआ यह प्रोजेक्ट धीरे-धीरे एक मुकम्मिल सेलयूलर मोलेक्यूलर बायालोजी रिसर्च में विकसित हो गया। पचासों वैज्ञानिक, तकनीशियन और दूसरे कर्मचारी अपने-अपने काम में लगे हैं। अजय और डॉ. जिया भी इन्हीं में शामिल हैं। प्रोजेक्ट डायरेक्टर के रूप में विशाल का पहला आगमन है।''[66] इस प्रकार उपन्यास में वर्णित इन पंक्तियों का मनोविश्लेषणात्मक पद्धति अध्ययन, मूल्यांकन कर पाने में अक्षम है।

अब बात करें मार्क्सवादी पद्धति की जो अब तक सारी पद्धतियों में सबसे वैज्ञानिक पद्धति मानी जाती है। एक बार मार्क्स ने 1843 ई. में अपने मित्र आर्नोल्ड रूज को एक पत्र में लिखा था, जिसे आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास और लोकतंत्र' में उद्धृत किया है ''हमारा उद्देश्य न भविष्य की रूपरेखा निर्मित करना है और न ही हर सवाल का अन्तिम उत्तर देना है। हमें जो पूरा करना है वह है, जो कुछ है उसकी निर्मम आलोचना करना। निर्मम दो अर्थों में। एक तो उस आलोचना के निष्कर्षों से भयभीत न होना और दूसरे सत्ता से टकराहट से भी न डरना।''[67] इस तरह संजीव ने अपने इस उपन्यास में समकालीन पूँजीवाद की जीव-विज्ञान संबंधी अतियों और विकृतियों की जो निर्मम आलोचना की है, उसमें वे न तो अपने निष्कर्षों के बारे में चिंतित हैं और वर्तमान पूँजीवाद की सत्ता से संघर्ष से डरे हैं। वे एक वैज्ञानिक की तरह जीव-विज्ञान के नवीनतम अनुसंधानों, उपलब्धियों और प्रयोगों का ब्योरेवार विश्लेषण करते हुए एक कथाकार की तरह प्रकृति, संस्कृति और मनुष्य के जीवन के संदर्भों में उसे सबके प्रभावों, परिणामों और परिणतियों को अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है।

यह सच है कि पिछले कुछ दशकों में जीव-विज्ञान में अपूर्व अनुसंधान और प्रयोग हुए हैं और उनकी उपलब्धियाँ भी अपूर्व ही हैं। इस प्रक्रिया में लिंग परिवर्तन, उधार की कोख, हार्मोन थिरैपी, क्लोनिंग, टैस्ट ट्यूब बेबी. कृत्रिम गर्भाधान, टिश्यु कल्चर आदि का वर्तमान पूँजीवाद में व्यापार करने और लाभ कमाने के लिए कितना और कैसा वीभत्स दुरुपयोग किया है, इन सबका संजीव ने अपने उपन्यास 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' में वर्णन किया है। इस उपन्यास का एक पात्र विशाल एक जगह कहता है ''ये पैसे वाले ज्ञान-विज्ञान की सारी बौद्धिक सम्पदा को हथिया लेना चाहते हैं – अब तक सुनता ही आया था आज प्रत्यक्ष हो गया।''[68] इसके अलावा उपन्यास में संजीव का जीव-विज्ञान का ज्ञान एकदम चकित कर देने वाला लगता है। वह लिखते हैं ''वैज्ञानिक कहते हैं कि करोड़ों-करोड़ों वर्ष पहले एक ही कोशिका में समाये थे डिम्ब और शुक्राणु। फिर वे अलग हुए। बड़ा अंश डिम्ब बना, छोटे-छोटे अंश शुक्राणु। फिर वे अलग हुए। पुरानी स्मृतियाँ उन्हें मिलन के लिए खींचती हैं। प्राय: दो अरब वर्ष पहले कुछ विकसित जीवों में काम-क्रिया का विकास होता है। बड़े से डिम्ब के लाखों शुक्राणुओं

को असेचित करने का संघर्ष। जैसे दो प्यासी आत्माएँ...ये दो 'दो' नहीं 'एक' हैं। शोधित होती रही यह प्रक्रिया। हर संयोग के साथ बदलते रहे जीन। जीन्स के आदान-प्रदान से धरती भर गयी स्पीसिस से। वे ही बाधित रहे जो निषेधवादी या कुंठित थे।''[69] इसके अलावा पूँजी कैसे विज्ञान को अपने वश में करती और रखती है, इसकी ओर भी संजीव इशारा करते हैं ''वैज्ञानिक के पास प्रतिभा होती है लेकिन पैसा... ? पैसा तो पूँजीपति के पास होता है या फिर शासक या सरकारों के पास। ये सेठ और सरकारें उन्हें खिलाती-पिलाती हैं, पैसे देती हैं, पालतू बनाती हैं। कभी कहती हैं ऐसा करो, कभी कहती हैं वैसा और कभी-कभी कुछ कहती नहीं, ये उसकी इच्छा को अच्छे स्वामिभक्ति की तरह स्वयं ही समझ लेते हैं।''[70] इस तरह यह पद्धति कुछ दूर तक साथ देती हुई नजर आती है।

(5.8) उपन्यासों में शिल्पगत बदलाव और आलोचना सिद्धांत

हिंदी उपन्यास के शिल्प पर बहुत कम बात हुई है, हुई भी है तो बहुत सरसरी तौर पर होकर रह गई है। कुछ पुस्तकों और गोष्ठियों में यदि इस विषय पर यत्किंचित् कुछ कही भी गयी है तो बात हिंदी उपन्यास पर न होकर कुछ दिग्गज विदेशी विचारकों-आलोचकों के संदर्भ से अंग्रेजी के कुछ उपन्यासों पर आकर रुक जाती है, हिंदी की ओर वे बढ़े ही नहीं। कुछ आलोचक 1975 ई. में प्रकाशित मैक्सिको के प्रसिद्ध कथाकार कार्ल्स फुंटेश का 'टेरोनोस्ट्रा' का उदाहरण देते हैं। इसी तरह से उपन्यास के 'स्थापत्य' पर बात करते हुए डी.एच. लारेंस, डब्ल्यू.जे.हार्वे, इवो आन्द्रिच, एलेन फ्रिडमैन, आदि के नाम से लेकर शिल्प-चर्चा को यथार्थ-चित्रण और आदर्श तक ही सीमित कर कर्तव्य की इतिश्री कर ली जाती है। बच्चन सिंह भी अपनी पुस्तक 'उपन्यास का काव्यशास्त्र' में उपन्यास-शिल्प पर बहुत कम बात करते हैं हालांकि वे पश्चिम में औपन्यासिक सिद्धांतों पर महत्वपूर्ण पुस्तकों के लेखकों के नाम अवश्य गिनाते हैं – जैसे हेनरी जेम्स, परसील्यूबक, वर्जीनिया वुल्फ, रोलाँ बार्थ, ऑयन वाट, डेविड लाज, कमरोड आदि वे एक लम्बी फेहरिस्त सामने रखते हैं और कहते हैं ''हिंदी में एक भी ठीक-ठिकाने की पुस्तक उपन्यास के आलोचना सिद्धांत पर नहीं है।''[71] यद्यपि बच्चन सिंह की पुस्तक भी इस अभाव की पूर्ति नहीं करती दिखाई देती, बस यह कुछ उपन्यासों और कहानियों की सामान्य सी आलोचना पुस्तक बनकर रह गयी है। इस फेहरिस्त को और लम्बा न कर, अब मैं सीधे-सीधे 21वीं सदी के हिंदी उपन्यास की विस्मयकारी समृद्ध शैल्पिक संरचना पर आते हैं।

यह सर्वविदित है कि रचना में अन्तर्वस्तु ही उसकी प्रस्तुति का स्वरूप निर्धारित करती है। उपन्यासकार के मानस पटल पर साहित्य और अपने समाज के परिवेश, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि स्थितियों के संघात जिस रूप में आलोड़ित-विलोड़ित किए रहते हैं, वे ही उसकी कृति में विभिन्न रूपों में देखने को मिलते हैं। रचनाकार का यही मानसिक आलोड़न-विलोड़न जितना तीव्र होता है, उतने ही वेग से उसकी कृति में उसका विस्फोट होता है। इस तीव्र वैचारिक विस्फोट को ढोने की क्षमता विधा के प्रचलित ढाँचे में नहीं होती है अत: वह प्रचलित रूपबंध या फार्म को तोड़ती हुई उसे विकास की एक नई मंजिल की राह पर ले जाकर खड़ा कर देती है। 21वीं सदी के उपन्यास के

शैल्पिक ढाँचे में भी इसी रूप में निरन्तर विस्फोटक परिवर्तन होते रहे हैं। ऐसा ही एक उपन्यास है कमल कुमार का 'पासवर्ड'। इस उपन्यास ने 'उपन्यास विधा' के रूप को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। इसमें कहीं आत्मकथा विधा है तो कहीं डायरी शैली, कहीं यात्रावृत्तांत है तो कहीं निबंध तथा समीक्षात्मक टिप्पणियाँ। और यह अनूठा प्रयोग हमें देखने को मिलता है उपन्यासकार की नई कथा-युक्ति के प्रयोग में, जो है ई-मेल कथा-युक्ति। इतना ही नहीं यह उपन्यास अपने कथ्य में दुनिया-जहान की बातें करता, महान देशी-विदेशी विचारकों पर टिप्पणी रचता हुआ, साहित्यिक कृतियों, फिल्मों, संगीतों, महान चित्रकारों की कला-कृतियों पर एक बौद्धिक विमर्श, प्रेम की विभिन्न स्थितियों-विवाहपूर्व प्रेम, विवाहेतर प्रेम, प्रेम में शरीर की स्थिति, स्त्री यौनिकता को अपने में समेटे हुए है। जो मूलत: प्रेम कहानी में एक बौद्धिक विमर्श को जन्म देता है। अब सवाल यह उठता है कि शिल्पात्मक रूप में इतना कुछ समेटे हुए उपन्यास को कैसे जाँचा-परखा जाए जिससे इसके कथ्य की महत्ता भी बची रहे और शिल्प का अध्ययन मूल्यांकन भी सही ढंग से हो सके ?

कमल कुमार के उपन्यास 'पासवर्ड' में आत्मवृत्त और उपन्यास दोनों विधाओं में निरन्तर अपनी आवा-जाही रखता है। यह उपन्यास मुख्य रूप से एक प्रेमकथा है लेकिन यह प्रेमकथा ई-मेल की नई तकनीक का भरपूर इस्तेमाल करते हुए आदि से अन्त तक एक स्वगत कथन से चलती है। इस उपन्यास में कथा-वक्ता-नैरेटर अपने ई-मेलों के माध्यम से अपने प्रेम के विकास और परिणति को अभिव्यक्ति देती है। इस तरह कमल कुमार अपना पूरा उपन्यास ही ई-मेल में रच डालती हैं। वैसे इधर ई-मेल की कथा-युक्ति के रूप में कितने ही उपन्यास लिखे गये हैं। यह ई-मेल कथा-युक्ति उपन्यासकार को खूब खुली छूट भी देती है इसी वजह से उपन्यास की नायिका बिना किसी क्रम के दुनिया जहान के बारे में अपने प्रेमी डॉ. आशीष से बतियाती रहती है। ई-मेल का यह वृत्तान्तिक रूप लेखिका को कई गद्य विधाओं के प्रयोग की इजाजत भी दे देता है। इसीलिए उपन्यास में कभी डायरी शैली, कभी यात्रा-वृत्तांत, कभी निबन्ध धर्मा टिप्पणियाँ, समीक्षा आदि रच दी गयी हैं। इसी के माध्यम से उसे कभी थाईलैंड, कभी फ्रांस, कभी अमेरिका, कभी लन्दन तो कभी कहीं और दिखाया गया है। विभिन्न फिल्मों, विश्व महिला की क्लासिक कृतियों, मास्टरपीसों पर अच्छा विमर्श रचने का अवसर भी ई–मेल की कथा-युक्ति ने दिया है। लेकिन यह गौरतलब बात है कि प्रेम-कथा का विकास इकहरा, एकरेखीय नहीं रहता है बल्कि दुनिया जहान की सूचनाओं से भरपूर और अनेक समस्याओं पर लेखिका एक विमर्श रचती है और अपना सुनिश्चित मत भी देती है। उसके मत में एक निजता है चाहे वह स्त्री-स्वातंत्र्य पर हो, किसी उपन्यास पर हो, किसी फिल्म की समीक्षा हो, 'सिंगूर' और 'नंदी ग्राम' में भूमि अधिग्रहण की समस्या हो। इसमें कितनी ही पुस्तकों, प्रसिद्ध फिल्मों, प्रख्यात चित्रकारों के चित्र, आदि की समीक्षा जिस रूप में की गयी है, वह रूप उपन्यास समीक्षा की सीमा में प्रवेश कर जाता है लेकिन अच्छी बात यह है कि साहित्य, संगीत, फिल्म-जगत आदि पर अपनी सटीक, बेबाक राय देकर भी लेखिका उपन्यास को सूचनाओं का भंडारण नहीं बनने देती है। उचित प्रसंग को बड़े ही कलात्मक रूप में यथावसर कथा में नियोजित किया है इसलिए कोई भी प्रसंग कथा में जबरदस्ती पिरोया हुआ नहीं लगता है। अनेक पुस्तकों-फिल्मों पर की

गई समीक्षात्मक टिप्पणियाँ उपन्यास के आकर्षण में अभिवृद्धि करती हैं। यह केवल पुस्तकों के नाम भर गिनाने के लिए किया गया प्रयत्न नहीं है बल्कि उनमें प्रवेश कर जीवन को समझने की दृष्टि का रेखांकन प्रत्येक के संदर्भ में हुआ है । 'लेडी चटर्ली' उपन्यास और फिल्म की गहन समीक्षा इस कथन के उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है। इस उपन्यास पर बनाई गई फिल्म को देखकर ''तो एक मास्टरपीस के अनुभव से गुजरी यह फिल्म एक क्लासिक है, न्यूडिटी और सेक्स के भरपूर दृश्यों के बाद भी अब्सीन और वल्गर नहीं होती। इस फिल्म को देखना एक गहरे, कलात्मक अनुभव से गुजरना है। प्रकृति और मनुष्य का गहरा साहचर्य, प्रकृति और मनुष्य की एकात्मकता, प्रकृति की पूर्णता, असीमता, निर्बाधता और अखंडता में मनुष्य भी पूर्ण, असीम, निर्बाध और अखंड हो जाता है। अनावृत प्रकति में बारिश की फुहारों में निरावरण, आनन्द से आलोड़ित स्त्री और पुरुष प्रकृति में एकात्म हो जाते हैं। एक तरह से अभेद हो जाते हैं। यही प्रेम की पराकाष्ठा है।''[72] शिल्प की इसी तरह के विविधता के माध्यम से वह गहराइयों में उतरकर कदम-कदम पर स्त्री-विमर्श के लिए जगह निकाल लेती है और अपने अकाट्य तर्कों से स्त्री-पक्ष में सबलता से खड़ी होती है।

लेखिका उपन्यास में बहुत कुछ समेटने के लिए नई कथा-युक्तियाँ अपनाती है। जिसके कारण यह उपन्यास अपनी शैल्पिक नवीनता में आकर्षित कर लेता है। इसमें लेखिका ने विभिन्न देशों में अपनी भाषण-यात्राओं के रोचक विवरण भी दिये हैं, तो कहीं उस देश के कितने ही अनजाने पक्षों को उद्घाटित करते हुए और पुन: कथा वहीं अपने डॉ. प्रेमी आशीष के पास लौट आती है। ऐसे ही कई प्रसंग देखे जा सकते हैं जब लेखिका अमेरिका, यूरोप और एशिया के देशों की यात्राएँ कभी किसी कान्फ्रेस के माध्यम से तो कभी किसी गोष्ठी के माध्यम से कीं। वहाँ के अनुभवों को वह यात्रा-वृत्त विधा का प्रयोग कर पाठक के सामने रखती है। अमेरिका की मॉल संस्कृति जो अब हमारे देश में भी अपनी जड़ें जमा चुकी है पर करारी चोट करती है। वह लिखती हैं ''ईट शॉप एंड प्ले। खाओ, खरीदो और खेलो। यहाँ जिंदगी का मोटो है। बड़े-बड़े मॉल हैं, शापिंग सिटी। आठ-आठ मंजिलें मात्र। कपड़ों की दुकानें। खाने की दुकानें। 'फूड रिपब्लिक' जिसमें मुरक्कन इतालवी, स्पेनिश, थाई, इंडियन, सारे रेस्तराओं में भीड़ है। एक तरह से हाउस फुल है।''[73] कमल कुमार के 'पासवर्ड' जैसे उपन्यास जो अपने अथाह सागर को साधने के लिए नए शैल्पिक एवं नई कथा-युक्तियों का प्रयोग किया है, का मूल्यांकन पुराने आलोचना सिद्धांतों से करने बैठेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी, यानि वह सिद्धांत इसके नए शिल्प-विधान को उद्घाटित नहीं कर पायेंगे फिर वह चाहे आधुनिकतावादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, नई समीक्षा, शैलीविज्ञान, विखण्डनवादी आदि सिद्धांत ही क्यों न हों।

यह सच है कि ऐसी कथा-युक्तियाँ, तमाम विधाओं की उपस्थिति के साथ पूरा शैल्पिक ढाँचे का प्रयोग ही उपन्यास में पहली बार 21वीं सदी में नये तरीके से आया है। चूँकि पहले भाषा बिंब-प्रतिबिंब, प्रतीकों आदि के आधार पर उपन्यास रचना का मूल्यांकन किया जाता था फिर फ्लैश बैक, फैंटेसी युक्ति आदि आयी। इनके प्रतिस्थापकों, सिद्धांतकारों ने इसे व्यवस्थित रूप से परिभाषित किया जिसके आधार पर आगे की आलोचना में इन सभी अवधारणाओं को स्वीकार करते हुए एक आलोचना

सिद्धांत के रूप में ग्रहण किया गया । इसी प्रकार से 21वीं सदी के उपन्यासों में जो कुछ शिल्पगत परिवर्तन हो रहे हैं आवश्यकता यह है कि उसे भी पूर्णत व्याख्यायित किया जाए, उसका भी कोई एक शास्त्र गढ़ा जाए ताकि आगे आने वाली आलोचना पद्धति में उसको एक निश्चित नाम से अभिहित किया जा सके । उदाहरण के तौर पर फैंटेसी को लें तो देखेंगे कि फैंटेसी को जब भी इस्तेमाल किया गया उसे पूरी तरह से व्याख्यायित कर देखा गया कि फैंटेसी है क्या ? यह कैसे बनती है ? किस आधार पर बनती है ? और कैसे इसका साहित्य में इस्तेमाल होता है ? तब जाकर आज के जामने के आलोचक इसे उसी समझ के साथ इस्तेमाल भी करते हैं एवं व्याख्याकार उन रचनाओं की व्याख्या भी करते हैं । अब यह खड़ा होता है कि 21वीं सदी के उपन्यासों में जो शैल्पिक बदलाव आ रहे हैं उन्हें कैसे समझा जाए ? उन्हें कैसे डिकोड किया जाए ? इसके बारे में कोई व्यवस्थित आलोचना सिद्धांत, कोई नियम या व्यवस्था नहीं है, जैसा कि फैंटेसी, बिंब, प्रतीक के लिए पहले किया जा चुका है । ऐसे सिद्धांतों तब और आवश्यकता बढ़ जाती है जब एक ही उपन्यास में संस्मरण, आत्मवृत्त, यात्रावृत्तांत, डायरी, पुस्तकों की समीक्षा के साथ-साथ ई-मेल कथा-युक्ति मौजूद हो । इस नए तरह के शिल्प जो आ रहे हैं उसका एक व्यवस्थित सिद्धांत हो ताकि उसे व्याख्यायित कर परिभाषित किया जा सके और प्रयोग होने पर उसे चिन्हित भी । और साथ ही कमल कुमार के सिर्फ 'पासवर्ड' उपन्यास को ही नहीं बल्कि 21वीं सदी के तमाम उपन्यासों में हो रहे शैल्पिक बदलाओं को चिन्हितकर उनका मूल्यांकन किया जा सके ।

(5.9) हिंदी की अन्य विधाओं के आलोचना के सिद्धांत और उपन्यास आलोचना

अब हमने उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों के इतर जाकर अन्य विधाओं से उसकी समानताओं-असमानताओं को देखते हुए उसके मूल्यांकन के सिद्धांतों को देखने की कोशिश की है । साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया है कि क्या उस विधा के मूल्यांकन के सिद्धांतों से कोई मदद ली जा सकती है या नहीं ? यदि हाँ तो कितनी ? या फिर वह सिद्धांत पूर्णत: अलग ही हैं उपन्यास से ?

उपरोक्त सवालों को ध्यान में रखते हुए अगर हम उपन्यास और महाकाव्य के जन्मकाल के समय को ही ले लें तो भले ही उपन्यास को महाकाव्य का आधुनिक रूप या आधुनिक महाकाव्य कहा जाता रहा हो इसके बावजूद दोनों विधाओं के बीच परिस्थित जन्य बहुत से अन्तर दिखाई देते हैं । जहाँ एक तरफ महाकाव्यों का जन्मकाल मध्यकाल है । सामंतवादी युग में जहाँ धार्मिक मूढ़ता, जहाँ शिक्षा मठों और गिरजों में फंसी हुई थी, जहाँ पारलौकिकता, भक्ति और यथार्थ के बदले कल्पना, मिथ जैसी चीजें अपना शिकंजा जमायी हुई थीं ऐसे समय में महाकाव्य जैसी विधा का ढाँचा तैयार हुआ था । वहीं दूसरी तरफ उपन्यास आधुनिक युग के पूँजीवादी समाज के प्रतिनिधि साहित्य के रूप में सबसे लोकप्रिय विधा मानी जाती है । जब वैज्ञानिक ज्ञान और प्रगति के इस युग में मनुष्य की इतिहास-दृष्टि का विकास हुआ और अर्थनीति, राजनीति एवं दर्शन तक में इहलोकवाद दिखाई देने लगा । उसी के साथ-साथ साहित्य में भी परलोकवृत्ति तिरोहित होने लगी और भक्ति अथवा सरवग्र कल्पना के साहित्य का महत्व घटने लगा, उसका स्थान सामाजिक-राजनीतिक नाटकों ने ले लिया और फिर शीघ्र ही उपन्यास ने । मध्ययुगीन रम्याख्यान में, जो अलौकिक के प्रति आग्रह था वह धीरे-धीरे समाप्त हो गया उसकी जगह

यथार्थवाद ने ले ली। उपन्यास विधा इसी यथार्थवाद को वहन करने लगी और साहित्य वस्तुजगत का प्रतिबिंबन करने लगा। इसलिए रैल्फ फॉक्स ने इसे महाकाव्य की अनुवर्ती विधा मानते हुए भी बदलते हुए समय में उसकी भूमिका को अधिक क्रांतिकारी पाया क्योंकि उसका ''लक्ष्य था नए मानव की आवश्यकताओं को पूरा करना तथा उसकी तूफानी दुनिया को चित्रित करना।''[74] दूसरा बड़ा अन्तर उपन्यास तथा महाकाव्य में जो देखने को मिलता है वह है दोनों विधाओं के नायक का। जहाँ महाकाव्य में नायक धीरोदात्त, धीरोलालित्य जैसे नायक होते थे वहाँ उपन्यास में होरी जैसा मामूली कृषक और उमरावजान जैसी नर्तकी (मुजरे वाली) नायिका है। इस संदर्भ में ल्यूसिएँ गोल्डमान की यह टिप्पणी सटीक ही जान पड़ती है कि ''उपन्यास का यह आसुरी नायक एक विक्षिप्त या अपराधी व्यक्ति होता है जो, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, हर हालत में एक समस्याधर्मी चरित्र हैं। यही नायक रूढ़ तथा परंपरानिष्ठ संसार में प्रामाणिक मूल्यों के लिए जो पतित, अत: अप्रामाणिक खोज करता है वही इस नवीन साहित्यिक विधा 'उपन्यास' की विषय-वस्तु है।''[75] इस तरह उपन्यास और महाकाव्य में विधागत इतनी सारी असमानताएँ हैं। इस तरह उपन्यास विधा कविता और नाटक की भी अपेक्षा मानव-जीवन चित्रण के लिए कहीं अधिक विस्तृत है। इसलिए इसमें गीति-काव्यों के पुंजीभूत भावसत्य, दुखांत नाटकों के चिरंतन संघर्ष और करुणा, गीति-कथाओं की गति और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य, कहानी की कथात्मक तत्व – इन सभी पुराने साहित्य-रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया है।

इस तरह उपरोक्त वर्णन से पता चलता है कि कविता विधा बहुत पुरानी विधा रही है। इसलिए हिंदी साहित्य में जितना कविता की आलोचना विकसित हुई है उतना किसी और विधा की विरलै ही हुई होगी। जिस तरह से उसके एक-एक तत्व के बारे में सिद्धान्त बनाए गये उतना किसी और विधा के बारे में नहीं बनाये गये उपन्यास आलोचना के बारे में तो कतई नहीं। कविता के प्रमुख तत्वों तथा उसके ढाँचे के बारे में तो आलोचक नामवर सिंह द्वारा 'कविता के नए प्रतिमान' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी गई लेकिन उपन्यास विधा को ऐसी पुस्तकें आज तक नहीं मिलीं जिसमें उसकी सैद्धान्तिकी पर कोई मुकम्मल बात की गई हो, हाँ इधर कुछ किताबें आयी हैं लेकिन उनमें भी सार्वभौमिक कोई सिद्धांत देखने को नहीं मिलता है, इसलिए उपन्यास विधा को ऐसी पुस्तकों का आज भी इंतजार है। खैर एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि हिंदी उपन्यास विधा इस मामले में आज भी कविता से बहुत पीछे ठहरती दिखाई देती है। अब देखना यह है कि क्या कविता विधा का कोई सिद्धांत या टूल्स उपन्यास विधा की आलोचना के काम आ सकता है ? यह देखने पर पता चलता है कि कविता की व्याख्या के लिए जो उपक्रम, साधन या टूल्स विकसित किये गये उनमें से एक फैंटेसी भी है चूँकि कविता विधा उपन्यास विधा से ज्यादा विकसित या समृद्ध रही है और उपन्यास आलोचना का विकास तो इससे बहुत कम हुआ है। इसलिए जब कविता विधा इतनी पुरानी है और उपन्यास विधा नयी तब यह जरूरी हो जाता है कि कविता के सिद्धांतों पर ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि यहाँ से जो कुछ भी ग्रहण करने लायक हो उसे लिया जा सके। कविता में जटिल प्रक्रियाओं को दिखाने के लिए फैंटेसी जैसा सूत्र गढ़ा गया है। जिसे उपन्यास विधा को जाँचन-परखने के लिए भी लिया जा सकता है। हाँ यह सवाल जरूर बचा रहेगा कि

यह सिद्धांत उपन्यास विधा की आलोचना के लिए कितना कारगर साबित होगा ? हो सकता भविष्य में ऐसे उपन्यास भी आए जो फैंटेसी जैसी जटिल प्रक्रिया को अपने अंदर समेटे हों तो क्यों न पहले से ही आलोचना को तैयार रहना चहिए ?

निष्कर्षत: 21वीं सदी के उपन्यासों को पहले से मौजूद उपन्यास आलोचना सिद्धांतों पर कसकर देखने से एक महत्वपूर्ण बिंदु सामने आता है; वह यह कि इन सिद्धांतों के द्वारा 21वीं सदी के उपन्यासों का सम्पूर्णता में अध्ययन-मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह सच है कि जैसे-जैसे समय और समाज बदल रहा है वैसे-वैसे उसका यथार्थ भी बदल रहा है। साथ ही जीवन भी और जटिल होता जा रहा है। यह बात तो सर्वविदित है ही कि साहित्य में समाज के यथार्थ का ही चित्रण होता है। अत: उपन्यास केवल एक साहित्यिक रूप ही नहीं होता, वह जीवन जगत को देखने की एक विशेष दृष्टि है और मानव जीवन तथा समाज का एक विशिष्ट बोध भी। इसलिए उपन्यास साहित्य में समाज के इतिहास, यथार्थ, उसके द्वंद्वों तथा जीवन की तमाम जटिलताओं की अभिव्यक्ति होती है। अत: हिंदी उपन्यास में अभिव्यक्त यथार्थ, संदर्भ और उसका स्वरूप पहले से बदला हुआ नजर आता है। वह नये-नये स्वरूपों के साथ अपने भीतर विभिन्न संदर्भों जैसे - किसान जीवन की त्रासदी, सांप्रदायिकता के नए स्वरूप, विभिन्न अस्मिताओं - स्त्री, दलित, आदिवासी के साथ-साथ अन्य अस्मिता के रूप में ट्रांसजेंडर तथा नये अंतर्वैयक्तिक संबंधों में समलैंगिकता, सूचना क्रांति, और विज्ञानमूलक आदि की जटिलतापूर्ण यथार्थ को समेटे हुए है। इतने दुरूह उपन्यासों को सम्पूर्णता में जाँचने-परखने या उनका अध्ययन मूल्यांकन करने के लिए पहले से मौजूद सिद्धांतों पर कसने से निराशा ही हाथ लगती है। कुल मिलाकर इन सिद्धांतों से 21वीं सदी के उपन्यासों का समुचित मूल्यांकन संभव नहीं है।

इसके बरक्स यह पद्धतियाँ उपन्यास के अलग-अलग संदर्भों एवं स्वरूपों पर अलग-अलग तरह से तो काम करती हैं लेकिन कोई भी पद्धति एक साथ वर्तमान जीवन के विडम्बनापूर्ण यथार्थ तथा उसकी जटिलताओं को समग्रता में मूल्यांकित करने के लिए औपन्यासिक विधा के कथ्य और शिल्प के स्तर पर जो परिवर्तन आये हैं उनको व्याख्यायित और विश्लेषित करने में मुकम्मल नहीं दिखाई देती। फिर चाहे वह मार्क्सवादी आलोचना पद्धति हो या सबाल्टर्न इतिहासवादी पद्धति और या फिर समाजशास्त्रीय उपन्यास आलोचना पद्धति सभी की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। इसके साथ ही उपन्यासों में जो नए तरह के शिल्पगत बदलाव आए हैं उनको व्याख्यायित, परिभाषित कर सिद्धांत का नाम दिया जाना चाहिए ताकि आगे की आलोचना में उसका उपयोग संदर्भ सहित किया जा सके। इसके अलावा अन्य दूसरी विधाओं से भी उपन्यास में योग देने वाले सिद्धांतों को लिया जा सकता है। कविता विधा से फैंटेसी जैसे सिद्धांतों को उपन्यास में अभिव्यक्त होने वाली जटिल प्रक्रियाओं का मूल्यांकन कर रेखांकित करने हेतु उपयोग में लाया जा सकता है

संदर्भ-सूची

1. हिंदी की आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ.सं. – 268
2. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. –228-229
3. निम्नवर्गीय प्रसंग भाग-1, संपा. शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, पृ. सं. -10
4. यथार्थवाद, शिव कुमार मिश्र, आमुख से, पृ. सं. – ix
5. फाँस, संजीव, पृ. सं.1 – 5
6. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, पृ. सं. – 406
7. खगेन्द्र ठाकुर, उपन्यास की महान परम्परा, पृ. स. – 178
8. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, पृ. स. – 276
9. वही, पृ. सं. - 276
10. वही, पृ. सं. - 433
11. वही, पृ. सं. – 150
12. वही, पृ. सं. – 60
13. वही, पृ. सं. – 70
14. वही, पृ. सं. – 96
15. वही, पृ. सं. – 97
16. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. सं. – 223
17. वही, पृ. सं. – 221
18. वही, पृ. सं. 47
19. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. सं. – 58
20. उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पृ.स. – 37
21. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. सं. – 29
22. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ.सं. – 22
23. वही, पृ. सं. – 23
24. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. सं. – 207
25. वही, पृ. सं. – 206
26. उपन्यास का लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. – 61
27. वही, पृ. सं. – 61
28. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. सं. – 206
29. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. सं. – 9
30. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, पृ. सं. – 94
31. वही, पृ. सं. – 256
32. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, पृ. सं. – 6
33. डंक, रूपनारायण सोनकर, पृ. सं. – 117
34. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. सं. - 47-48
35. डंक, रूपनारायण सोनकर, पृ. सं. – 29
36. साहित्य और संस्कृति में दलित अस्मिता और पहचान का सवाल, मोहनदास नैमिशराय, नया पथ, जुलाई-सितम्बर, 1997, पृ. सं. - 104-5
37. डंक, रूपनारायण सोनकर, पृ. सं. – 74
38. उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, पृ. सं. – 29
39. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. सं. – 47
40. वही, पृ. सं. – 51-52
41. निम्नवर्गीय प्रसंग भाग-1, संपा. शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ संख्या-10
42. लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृ. सं. - 308-309
43. आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, पृ. सं. – 59
44. आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, वंदना टेटे, पृष्ठ सं. – 9

45. वही, पृष्ठ सं. – 15
46. वही, पृ. सं. 87-88
47. लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृ. सं. – 313
48. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ. सं. – 13
49. वही, पृ. सं. – 11
50. तिरोहित, गीतांजलि श्री, पृ. सं. – 46
51. वही, पृ. सं. – 126
52. वही, पृ. सं. - 90-91
53. स्त्रीवादी विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.सं. – 330
54. वही, पृ. सं – 334
55. वही, पृ.सं. – 337
56. कस्बाई सिमोन, शरद सिंह, पृ. सं. – 117
57. वही, पृ. सं. – 71
58. वही, पृ. सं. – 204
59. वही, पृ. सं. – 86
60. मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. - 112-113
61. वही, पृ. सं. – 156
62. भूमिका, राजेन्द्र यादव, रह गईं दिशाएं इसी पार, संजीव, पृ. सं. – 09
63. रह गईं दिशाएँ इसी पार, संजीव, आवरण पेज के अन्तिम पृष्ठ
64. उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पृ.स. – 231
65. वही, पृ.स. – 230
66. रह गईं दिशाएं इसी पार, संजीव, पृ. सं. – 125
67. उपन्यास का लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पृ. सं. – 224
68. रह गईं दिशाएं इसी पार, संजीव, पृ. सं. – 118
69. वही, पृ. सं. 102
70. वही, पृ. सं. – 283
71. उपन्यास का काव्यशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. सं. – 13
72. पासवर्ड, कमल कुमार, पृ. सं. – 108
73. वही, पृ.स. – 13
74. उपन्यास का समाजशास्त्र, गरिमा श्रीवास्तव (संपा.) पृ. सं. – 77
75. उपन्यास का समाजशास्त्र : स्वरूप और समस्याएँ, ल्यूसिएँ गोल्डमान, कृष्णदत्त शर्मा (अनु.), उपन्यास का समाजशास्त्र, गरिमा श्रीवास्तव (संपा.) पृ. सं. – 20

उपसंहार

उपसंहार

मैंने अपने शोध कार्य **'उपन्यास आलोचना के सिद्धान्त और 21वीं सदी के हिन्दी उपन्यास'** में 21वीं सदी के उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए आलोचना के सिद्धान्तों का अनुसंधान किया है। इसके साथ ही यह भी देखा है कि क्या हिंदी साहित्य के अन्दर उपन्यास आलोचना के सिद्धान्त विकसित हुए हैं या नहीं ? यदि हाँ तो वे कौन-कौन से सिद्धांत है ? और क्या इन सिद्धान्तों के आधार पर 21वीं सदी के उपन्यासों को जाँचा-परखा जा सकता है ? क्या ये सिद्धान्त सक्षम हैं ? यदि हाँ तो कितना ? अगर ये सिद्धान्त सक्षम नहीं हैं, तो आखिर क्यों नही हैं ? इसके पीछे क्या कारण हैं ? क्या हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धान्तों को विकसित करने के लिए दूसरी विधा की आलोचना के सिद्धान्त सहायक हो सकते हैं ? अगर हाँ। तो वे कौन से सिद्धान्त हैं ? इसके बावजूद क्या 21वीं सदी के उपन्यासों को जाँचने-परखने के लिए और प्रतिमानों को गढ़ने की जरूरत है ? यदि हाँ तो वे कौन-से प्रतिमान हो सकते हैं ? आदि-आदि। इन्हीं प्रश्नों को सामने रखकर मैंने अपना शोध-कार्य किया है। जिससे कुछ महत्वपूर्ण बातें निकलकर सामने आई हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ पर आवश्यक हो जाता है।

यह बात दीगर है कि हिंदी उपन्यास आलोचना का उद्भव एवं विकास उपन्यास के उद्भव एवं विकास से जुड़ा हुआ है। इसलिए उपन्यास के उद्भव एवं विकास को जांचने और परखने के लिए हिंदी भाषा के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं को भी लिया और देखा कि हिंदी उपन्यास विधा के उद्भव एवं विकास को लेकर सभी विद्वानों के मत अलग-अलग रहे हैं, हालांकि कुछ जगहों पर समानता भी दिखाई देती है। एक तरफ वह विद्वान हैं जो उपन्यास के उद्भव के कारण के रूप में औपनिवेशिक शासन के चलते भारत में औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद के फलस्वरूप उपजे मध्यवर्ग को माना है और साथ ही पाश्चात्य जगत के उपन्यासों का प्रभाव भी माना। इन विद्वानों में प्रो. गोपाल राय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, मधुरेश, निर्मल वर्मा, मैनेजर पाण्डेय को देखा जा सकता है। वहीं दूसरी तरफ वे विद्वान भी हैं जिन्होंने उपन्यास के उद्भव एवं विकास का आधार अपनी ही भारतीय परंपरा को माना है। इनमें बालकृष्ण भट्ट, नलिन विलोचन शर्मा, नामवर सिंह आदि जैसे विद्वानों को देख सकते हैं। इसके बाद धीरे-धीरे उपन्यास आलोचना का प्रारम्भिक दौर आया जिसमें इसके स्वरूप का एक विकसित क्रम देखने को मिला। प्रेमचंद युगीन उपन्यास आलोचना तक आते-आते उपन्यास के दायित्व पर विचार करते हुए उपन्यासकार की रचनाओं पर गम्भीरतापूर्वक बहस होने लगी थी। इसके साथ ही प्रेमचंदोत्तर युग में आने के बाद उपन्यास आलोचना अपने सुव्यवस्थित ढर्रे पर आ गई थी और जब उपन्यास आलोचना स्वातंत्रयोत्तर युग में पहुँची तो जहाँ एक तरफ यह देखने को मिला कि उपन्यास के दायित्व क्या हैं, और क्या होने चाहिए ? उपन्यास कैसा होना चाहिए ? उसमें कितना यथार्थ होना चाहिए और कितना आदर्श ? उपन्यास में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण चरित्र लगता है या चित्रण ? उपन्यास की जमीन कहाँ से विकसित होनी चाहिए ? उसमें पात्रों के बीच संवाद की स्थिति कैसी होनी चाहिए, जिससे वह बनावटी ना लगे ? ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास कितना और किस प्रकार आना चाहिए ? उपन्यासों में जीवन के स्वरूप को कितना तथा कैसे अभिव्यक्त करना चाहिए ? उपन्यासों की अभिव्यक्ति की प्रधानता को देखते हुए उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या होनी चाहिए ? आदि-आदि जैसे मुद्दों पर गंभीरतापूर्ण

बहसें हुईं तो वहीं दूसरी तरफ महत्वपूर्ण उपन्यासों पर भी अलग-अलग तरह से विचार कर सवाल उठाए गए, जैसे – नैतिकता-अनैतिकता का सवाल, स्त्री-मुक्ति का सवाल आदि-आदि फिर भी महत्वपूर्ण सवाल इस दौर में भी अपना मुँह बाये वहीं का वहीं खड़ा रहा । हाँलाकि कुछ हद तक इस ओर आलोचक राजेन्द्र यादव ने कोशिश जरूर की, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता ।

इसी तरह समस्याओं के समाधान खोजते हुए मैंने अपने शोध कार्य को आगे बढ़ाया और पाया कि पाश्चात्य जगत में उपन्यास आलोचना के सिद्धांतों की एक लम्बी और समृद्ध परंपरा दिखाई देती है । इसके अन्तर्गत मार्क्सवादी सिद्धांत, समाजशास्त्रीय सिद्धांत, यथार्थवादी, मनोविश्लेषणवादी, शैली विज्ञान, रूसी रूपवादी, आधुनिकतावादी, नई समीक्षा, उत्तर-आधुनिकतावादी, विखण्डनवादी, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावादी आदि सिद्धांत आते हैं, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से रचनाओं को व्याख्यायित करने की कोशिश की है । जहाँ एक तरफ पाश्चात्य सिद्धांतों की इतनी लम्बी इमारत खड़ी मिलती है वहीं दूसरी तरफ हिंदी उपन्यास आलोचना के सिद्धांत न के बराबर ही देखने को मिलते हैं । यहाँ तो पहले उपन्यास आलोचना के नाम पर बहुत दिनों तक उपन्यासों के प्रमुख तत्वों पर ही बहस होती रही । बाद के दिनों में गंभीरतापूर्वक आलोचना शुरू हुई लेकिन सैद्धांतिक आलोचना तब भी गायब ही रही बस व्यावहारिक रूप में फलती फूलती रही । इस तरह इसका अपना कोई मौलिक सिद्धांत दिखाई नहीं देता बल्कि हिदी की आलोचना पर पाश्चात्य जगत के सिद्धांतों का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है फिर चाहे वह रामविलास शर्मा की औपन्यासिक आलोचना हो या आलोचक नामवर सिंह की या फिर मैनेजर पाण्डेय, वैभव सिंह, त्रिभुवन सिंह, सुधीश पचौरी की ही क्यों न हो सभी के आलोचना की एक जैसी ही हालत है । कुल मिलाकर हिंदी उपन्यास आलोचना में सैद्धांतिक पक्ष गायब ही रहा ।

इसके अतिरिक्त एक और बात देखने को मिली वह यह कि 20वीं सदी के मध्य से भारतीय समाज, इतिहास, साहित्य और विचारधारा की दुनिया में बहुत बदलाव आए हैं, जिन्होंने हर क्षेत्र में अपना गहरा प्रभाव डाला है । खासकर, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद वामपंथी आन्दोलनों, असंगठित समूह और समुदायों के उत्पीड़न के प्रसंग में ग्राम्शी की विचारधाराएं, 1990 के मंडल कमीशन, 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस तथा 2002 के सांप्रदायिक दंगे, 90 से शुरू हुई आर्थिक उदारीकरण और साथ ही वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं ने, मुख्यधारा के अंदर तथा बाहर के हाशिए के समाज के वैचारिक प्रक्रियाओं ने न केवल आम आदमी की सोच को बदला है बल्कि बौद्धिक और सामाजिक विचार-विमर्श की दुनिया को यह सोचने के लिए भी मजबूर किया कि निर्मित हो रही व्यवस्था में हाशिए तथा गरीब जनता के लिए क्या और कहां जगह है ? जगह है भी कि नहीं ? जो आजादी मिली थी क्या वह पूर्ण आजादी थी ? जिससे कि व्यावहारिक और विचारधारात्मक स्तर पर सोच की दुनिया के साथ-साथ मनुष्य के लिए थोड़ी जगह विस्तार ले पाती । इस प्रकार समाज में हो रहे तमाम आन्दोलनों से तथा हर तरह की उथल-पुथल से, बदलती विचारधाराओं से यह सामने आया कि ये आजादी कुछ मुट्ठी भर लोगों की आजादी थी क्योंकि इस आजादी के बाद भी दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों आदि जैसे हाशिए के लोगों के साथ-साथ किसानों, गरीबों, मजदूरों को तो सिर्फ शोषण और दमन ही मिला । इसीलिए 90 के

दशक में समाज में हो रहे तमाम राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों तथा आर्थिक बदलावों के चलते विचारधारा की दुनिया में सामाजिक अस्मितावादी संरचनाओं ने आकार लेना शुरू किया, यह बात अलग है कि तब पारंपरिक और कुछ हद तक प्रगतिशील विचारधारा की दुनिया में हलचल मच गई तथा स्त्री, दलित और आदिवासी समाज पर जमकर बहसें शुरू हो गईं। चूँकि गुलामी अथवा वर्ण व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में दलितों और स्त्रियों का सदियों से शोषण और उत्पीड़न होता आया है। इस वजह से यह भी बात सामने आयी कि मुख्यधारा में ऐसे अनेक सामाजिक समूह और समुदाय हैं, जो आज भी हाशिए पर हैं तथा जिनके इतिहास और समकालीन यथार्थ पर अलग से विचार किये जाने की जरूरत है।

इसके साथ ही जब मुख्यधारा में रहते हुए भी दलितों, स्त्रियों के साथ ट्रांस जेंडर को केन्द्रीय व्यवस्था में कभी ठीक से निर्णायक स्थिति में शामिल नहीं किया गया तो आदिवासी समाज की क्या बिसात ? ऐसे ही तमाम संदर्भों को देखते हुए एक तरफ हमारे सामने इतिहास की सबाल्टर्न अध्ययन पद्धति सामने आयी और हाशिए के लोगों का इतिहास लिखा जाने लगा। इसलिए साहित्य में चली आ रही पूर्ववत सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में भी बदलाव दृष्टिगोचर होने लगा। दूसरी तरफ हाशिए की तमाम अस्मिताओं के अंदर चेतना जागी और वह पढ़-लिखकर बोलने लगे, अपनी आवाज दर्ज कराने लगे, अपने ऊपर हुए तमाम जुल्मों-सितम को सबके सामने बेनकाब करने लगे। जिसके कारण अस्मितामूलक साहित्य भी आना शुरू हुआ। हाशिए की इस चेतना का प्रभाव साहित्य की दूसरी विधाओं के साथ-साथ उपन्यास साहित्य पर भी हुआ तथा उनकी आपबीती कहते हुए तमाम उपन्यास हमारे सामने हाजिर हो गए। इस तरह से 21वीं सदी के उपन्यासों के विकास में इस पृष्ठभूमि ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इसके अलावा हमने देखा कि आधुनिक गर्भ से पैदा हुए उपन्यास अपने जन्मकाल से ही विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सरोकारों से संबंधित रहा है। इसीलिए साहित्य की यह विधा कथ्य की अभिव्यक्तियों में सबसे ज्यादा असरदार मानी जाती रही है। यही कारण है कि हिंदी उपन्यास का विकास द्रुतगति से हुआ और इसकी परिधि में तमाम हलचलें अपने आप समाहित होती गईं। उपन्यास का वर्तमान परिदृश्य या यों कहें कि 21वीं सदी में उपन्यास विधा अधिक विस्तृत और व्यापक दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इसमें समय कोई भी हो सकता है – हजारों साल पीछे का सुदूरवर्ती अतीत जो अब विस्मृति के धुन्ध और धुँधलके में खो चुका है या फिर वह समय जो भविष्य के रूप में अभी आने वाला है। उसके पैर उसके अपने समय में ही होते हैं, पर अतीत और भविष्य को भी अभिव्यक्त करने हेतु जन्म से अब तक अपनी जरूरतों के हिसाब से अनके प्रविधियाँ तलाश की हैं। और अब भी जारी है इस तलाश का कोई अन्त नहीं दिखाई देता है। कुल मिलाकर इस प्रक्रिया में उसने स्वयं को इतना बदला है कि उसके आरम्भिक रूप से उसकी पहचान करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

यही कारण है कि उपन्यास 21वीं सदी में अपने नए एवं विविधतापूर्ण आकार में मौजूद है, जो पहले के सदी में कहीं भी नहीं दिखाई देता है। इसके अलावा उपन्यास ने अपने अंदर 21वीं सदी के सामज में होने वाले तमाम उतार-चढ़ाव को समेटा है। इस सदी ने विमर्शों व अस्मिताओं को प्रवृत्ति के

रूप में तरजीह देते हुए अन्य अस्मिताओं एवं मुद्दों को भी प्रवृत्ति का आकार दिया है जो अब तक लगभग नदारद थे, जैसे - ट्रांसजेंडर, समलैंगिकता, लिब इन रिलेशनशिप, सूचना क्रांति, विज्ञान लेखन आदि। इतना ही नहीं जो प्रवृत्तियाँ पहले से चली आ रही थीं 21वीं सदी के उपन्यास साहित्य ने उनमें हुए तमाम बदलावों को भी रेखांकित किया है। फिर चाहे वह किसानों की त्रासदी का चरम दौर हो या फिर सांप्रदायिकता का बदला हुआ स्वरूप। इस सदी ने इन सभी प्रवृत्तियों को महत्व देते हुए बड़ी ही साफगोई से कलम चलाई है।

इसके साथ ही अपने शोध कार्य में जब मैंने 21वीं सदी के प्रवृत्तिमूलक उपन्यासों को पहले से मौजूद उपन्यास आलोचना सिद्धांतों पर कस कर देखा तो कुछ महत्वपूर्ण बिंदु सामने आये; वह यह कि इन सिद्धांतों के द्वारा 21वीं सदी के उपन्यासों का सम्पूर्णता में अध्ययन-मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। क्योंकि जैसे-जैसे समय और समाज बदल रहा है वैसे-वैसे उसका यथार्थ भी बदल रहा है। साथ ही उसका जीवन भी और जटिल होता जा रहा है। चूँकि साहित्य में समाज की ही अभिव्यक्ति होती है। अत: यही वजह है कि उपन्यास केवल एक साहित्यिक रूप ही नहीं होता बल्कि वह जीवन जगत को देखने की एक विशेष दृष्टि है और साथ ही मानव जीवन तथा समाज का एक विशिष्ट बोध भी अपने में समाहित किए होता है। इसलिए उपन्यास साहित्य में समाज के इतिहास, यथार्थ, उसके द्वंद्वों तथा जीवन की तमाम जटिलताओं की अभिव्यक्ति होती है इसलिए हिंदी उपन्यास में अभिव्यक्त यथार्थ, संदर्भ और उसका स्वरूप पहले से बदला हुआ नजर आता है। वह नये-नये स्वरूपों के साथ अपने भीतर विभिन्न संदर्भों जैसे - किसान जीवन की त्रासदी, सांप्रदायिकता के नए स्वरूपों के साथ-साथ विभिन्न अस्मिताओं - स्त्री, दलित, आदिवासी के साथ अन्य अस्मिताओं ट्रांसजेंडर तथा नये अंतर्वैयक्तिक संबंधों के रूप में समलैंगिकता, लिब इन रिलेशन, सूचना क्रांति, और विज्ञानमूलक आदि के जटिलतापूर्ण यथार्थ को समेटे हुए है। अत: इतने दुरूह उपन्यासों को सम्पूर्णता में जाँचने-परखने या उनका अध्ययन मूल्यांकन करने के लिए पहले से मौजूद सिद्धांतों पर उन्हें कसने से निराशा ही हाथ लगती है फिर वह चाहे जो सिद्धांत हों। आधुनिकतावादी पद्धति के विकास के समानांतर आलोचना में भी यथार्थवाद-विरोधी प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगी थीं। हालांकि यह इससे पहले भी थीं लेकिन इस सदी के दूसरे और तीसरे दशक के रूसी रूपवादियों ने सबसे पहले यथार्थवाद की सार्थकता पर सवाल उठाया। बाद में अमेरिकी नई समीक्षा ने समाज से रचना की स्वतंत्रता पर जोर-देते हुए यथार्थवाद की जड़ काटने की कोशिश की। वहीं नई समीक्षा के आलोचकों ने कृति के सत्य की संगति के लिए समाज से उसकी संवादिता का विरोध करते हुए रचना की आत्मनिर्भरता, आंतरिक संगति को महत्व दिया और साहित्य की पूरी प्रक्रिया को सामाजिक संदर्भ से स्वतंत्र घोषित कर दिया। जिसके चलते उपन्यास को जाँचने-परखने के लिए यथार्थ और उसकी सामाजिकता से नहीं काटा जा सकता क्योंकि बिना इसके उपन्यास की कोई सार्थकता रह ही नहीं जाएगी। अत: इसका परिणाम विपरीत ही निकलेगा। दूसरी तरफ फ्रांसीसी संरचनावाद ने भाषिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक संबंधी चिंतन में यथार्थवाद का अनेक स्तरों पर विरोध किया। संरचनावाद के अनुसार साहित्य अनेक भाषिक निर्मितियों में से एक भाषिक निर्मित है, वह एक भाषिक संरचना है, संकेत है। मनुष्य संकेतों का निर्माता और पाठक है। इसलिए संरचनावादी दृष्टि से साहित्य के विवेचन में मानवीय अनुभव और ज्ञान की वस्तु के रूप में रचना की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह एक संकेत है या

संकेतों की एक व्यवस्था भर है। इस तरह कृति और आलोचक के बीच ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध नहीं है, जैसा कि पहले की आलोचना पद्धतियों में था। अत: यहीं पर इस पद्धति की सीमाएं दिख जाती हैं क्योंकि रचना को पाठ मान लेने के बाद अधिक से अधिक पाठों के बीच के संबंध की खोज ही संभव है। संरचनावादी और उत्तर संरचनावादी मानते हैं कि यथार्थवाद की अवधारणा 19वीं सदी की ऐतिहासिक और विचारधारात्मक स्थितियों की देन है। उनके अनुसार उपन्यास कोई यथार्थपरक प्रातिनिधिक रचना नहीं है बल्कि वह संकेतों की एक आत्मनिर्भर व्यवस्था है, जिसमें भाषा की क्रियाशीलता और प्रयोजनशीलता की खोज ही आलोचना का दायित्व है। यद्यपि संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद दोनों भाषिकी से संबद्ध हैं और भाषा पर ही अपने-अपने तरीके से विमर्श करते हैं पर संरचनावाद में भाषा को एक मॉडल के रूप में उसकी प्रस्तुति पर ज्यादा जोर दिया जाता है। लेकिन उत्तर-संरचनावाद में इस पर और अधिक बल दिया जाता है। इसके अलावा विखंडनवादी सिद्धांत ने अनिश्चितिता पर जोर देते हुए समग्रता का खंडन किया। उसके अनुसार पाठ का अर्थ अनिश्चित है। इस कारण यदि कोई पाठक किसी पाठ को पूरी तरह प्राप्त कर लेने की बात सोचता है तो वह व्यर्थ है, क्योंकि बहुत से पाठों के आधार पर निर्मित किसी 'पाठ' का अर्थ हमारे नियंत्रण के बाहर होता है। इसलिए प्रत्येक पाठक किसी पाठ को पढ़ने की प्रक्रिया में एक दूसरा पाठ निर्मित कर लेता है। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क दिया कि सांस्कृतिक जीवन भी बहुत से पाठों की एक श्रृंखला है, जिसमें बहुत-से पाठ दूसरे बहुत-से पाठों के साथ प्रतिच्छेद करते हुए और अधिक पाठों को निर्मित करते हैं। कुल मिलाकर इस सिद्धांत ने आलोचना को रचनात्मक कर्म तो बताया लेकिन रचना को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर देखने पर ही जोर दिया। अत: ये पद्धतियाँ उपन्यास को स्वायत्त मानकर उसके कथ्य, समय-परिवेश, उपन्यासकार की विचारधारा तथा यथार्थ से अलगकर जब सिर्फ उसकी भाषा, वाक्य-विन्यास, संरचानात्मक ढाँचे तथा रूप-विधान आदि का अध्ययन, मूल्यांकन करेंगी तो वह अधूरा मूल्यांकन ही होगा न कि पूर्ण। इसलिए ये पद्धतियाँ 21वीं सदी के उपन्यासों जो अपने गर्भ में कथ्य और शिल्प में तमाम जटिलताओं को समेटे हुए है, का सम्पूर्णता में अध्ययन-मूल्यांकन करने में अक्षम ही दिखाई देती हैं।

यह सच है कि यथार्थवादी साहित्य चिंतन का सबसे प्राणवान रूप मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में ही दिखाई देता है और मार्क्सवादी सिद्धांत अर्थ को केन्द्र में रखकर उपन्यास का मूल्यांकन करता है। यह वर्ग संघर्ष को तरजीह देते हुए स्त्री अस्मिता को भी 'शोषित वर्ग-प्रतिनिधि' या सर्वहारा-वर्ग के रूप में ही देखता है बजाए उसे 'शोषित जेंडर' के रूप में देखने के। यह पद्धति अलग से पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर विचार नहीं करती। यही कारण है कि अस्मितामूलक उपन्यासों को जाँचने-परखने में इस पद्धति की सीमाएं दिख जाती हैं। इसके अतिरिक्त अगर बात करें मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की तो यह पद्धति रचना या उपन्यास को वैयक्तिक मानते हुए पात्रों की मन:स्थितियों एवं अंत:प्रेरणाओं का तो विश्लेषण करती है लेकिन उन्हें प्रभावित करने वाले बाह्य कारणों को अनदेखा कर देती है। वहीं दूसरी तरफ मैंने देखा कि समाजशास्त्रीय सिद्धांत ने साहित्य को संस्था के रूप में मानकर लेखक, पाठक के साथ-साथ दोनों के बीच की प्रक्रियाओं को महत्व देते हुए उसका अध्ययन मूल्यांकन करने का दावा तो करती है लेकिन इसके अध्ययन का कोई एक पैटर्न नहीं दिखाई देता। यह पद्धति अपने अन्तर्गत मार्क्सवादी पद्धति और संरचनावादी पद्धति दोनों को समेटती है, जो कि एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत सिद्धांत हैं। इन दोनों

का कैसे सामंजस्य बिठा लिया इस पद्धति ने यह एक आश्चर्य की बात है । इसके अलावा इस पद्धति में स्त्री का पक्ष नहीं आ पाया है खासकर हिंदी में, क्योंकि कोई भी कहानी स्त्री और पुरुष के कहने के क्रम में बहुत कुछ बदल जाती है । एक स्त्री उसी कहानी को वैसे ही नहीं सुनायेगी जैसे एक पुरुष सुनाता है । कहानी के साथ-साथ उसमें उसके अनुभव, भाषा तथा अभिव्यक्ति के अपने तरीकों का भी पुट आ जाता है । कुल मिलकर कहने की शैली ही पूरी तरह से बदल जाती है, जिसे समाजशास्त्रीय पद्धति रेखांकित करने में अक्षम नजर आने लगती है । कुछ–कुछ ऐसा ही हाल सबाल्टर्न आलोचना पद्धति का भी है । यह पद्धति वृत्तांतों को नकारती है और साथ ही अध्ययन का कोई एक पैटर्न भी नहीं अपनाती, जिसके चलते इसका आधार बहुत कमजोर हो जाता है तथा यह कारणों की तह तक नहीं पहुँच पाती । इस तरह इन पद्धतियों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं जो 21वीं सदी के उपन्यासों को सम्पूर्णता में जाँचने-परखने तथा उसका मूल्यांकन करने में अक्षम दिखाई देती हैं ।

इसके बरक्स यह पद्धतियाँ उपन्यास के अलग-अलग संदर्भों एवं स्वरूपों पर अलग-अलग तरह से तो काम करती हैं लेकिन कोई भी पद्धति एक साथ वर्तमान जीवन के विडम्बनापूर्ण यथार्थ तथा उसकी जटिलताओं को समग्रता में मूल्यांकित करने के लिए औपन्यासिक विधा के कथ्य और शिल्प के स्तर पर आये परिवर्तनों को व्याख्यायित और विश्लेषित करने में मुकम्मल नहीं दिखाई देती । हालांकि इन सारी बातों से दो रास्ते खुलते हुए जरूर दिखाई देते हैं । पहला यह कि 21वीं सदी के उपन्यासों के वृहत एवं जटिल यथार्थ को देखते हुए कोई एक नया सिद्धांत ही गढ़ा जाए जिससे उनका सम्पूर्णता में अध्ययन, मूल्यांकन हो सके और दूसरा यह कि मार्क्सवादी पद्धति का दायरा बढ़ाकर अधिकांश 21वीं सदी के दौर के उपन्यासों का व अस्मितामूलक उपन्यासों का सम्पूर्णता में अध्ययन एवं मूल्यांकन करने की तरफ बढ़ने की कोशिश की जा सकती है । जिसमें समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति के तहत उपन्यास में अभिव्यक्त उत्पीड़न का समाजशास्त्रीय अध्ययन होगा और सबाल्टर्न हिस्टोरियोग्राफी पद्धति के तहत अस्मिताओं का गहराई से अध्ययन भी । इस तरह से उपन्यास आलोचना की पद्धति को विकसित करने की एक नई संभावना दिखाई देती है । इसके साथ ही 21वीं सदी के उपन्यासों में जो नए तरह के शिल्पगत बदलाव आए हैं उनको व्याख्यायित, परिभाषित कर एक सिद्धांत का नाम दिया जाना चाहिए ताकि आगे की आलोचना में उसका अध्ययन, मूल्यांकन करने हेतु उसका उपयोग किया जा सके । इसके अलावा अन्य दूसरी विधा से भी उपन्यास आलोचना में योग देने वाले सिद्धांतों को लिया जाना चाहिए जैसे – कविता विधा से 'फैंटेसी' सिद्धांत । क्या पता आगे चलकर उपन्यास में अभिव्यक्त होने वाली जटिल प्रक्रियाओं का अध्ययन, मूल्यांकन करने हेतु इसे उपयोग में लाया जा सके ?

आधार - ग्रंथ (Primary Sources)

(खण्ड-क)

1. अट्ठारह उपन्यास, राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1999
2. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण : 2002
3. आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण :2017
4. उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013
5. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2009
6. उपन्यास का काव्यशास्त्र, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2008
7. उपन्यास की संरचना, प्रो. गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2006
8. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वालमीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2001
9. भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम सं. : 2012
10. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1999
11. स्त्रीवादी विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2011
12. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2005
13. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1998
14. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, सुधा सिंह, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2008

(खण्ड-ख)

1. आखिरी कलाम, दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण :2003
2. कस्बाई सीमोन, डा. शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2012
3. डंक, रूपनारायण सोनकर, अनिरुद्ध बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2011
4. तिरोहित, गीतांजलि श्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2001
5. दस द्वारे का पींजरा, अनामिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2008
6. पासवर्ड, कमल कुमार, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2010
7. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2016
8. फाँस, संजीव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015
9. मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2009
10. रह गईं दिशाएँ इसी पार, संजीव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2011
11. लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा 'तरुण', सत्यभारती प्रकाशन, राँची, झारखण्ड, प्रथम संस्करण : 2005

सहायक-ग्रंथ (Secondary Sources)

हिन्दी की पुस्तकें

- अग्रवाल, रोहिणी - *समकालीन कथा साहित्य : सरहदें और सरोकार,* आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2007
- अग्रवाल, भारत भूषण - *हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव*, किताबघर, नई दिल्ली, 2004
- अग्रवाल, पुरूषोत्म – *संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1995
- अग्रवाल, नीरू (संपा.) – *समय से संवाद 10 : भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास,* अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
- अमरनाथ, डॉ. – *हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- अनामिका - *तिनका तिनके पास,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008
- आंबेडकर, डॉ. भीमराव - *भारत का विभाजन,* मध्य प्रदेश हिंदी अकादमी, भोपाल, 2005
- आनंद, प्रोफेसर सुगम - *भारतीय इतिहास में नारी,* साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 2007
- इंजीनियर, असगर अली, रू सुभाषचंद्र (अनु.) - *भारत में सांप्रदायिकता : इतिहास और अनुभव,* इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
- एक्का, पीटर पौल - *मौन घाटी,* सत्यभारती प्रकाशन, राँची, प्रथम संस्करण, 2013
- ऐलय्या, कांचा, (अनु.) ओमप्रकाश वाल्मीकि - *मैं हिंदू क्यों नहीं,* साम्य प्रकाशन, कोलकाता, 2006
- कस्तवार, रेखा - *स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- किरण, डॉ. ज्योति – *हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन,* मेधा बुक्स प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
- कुमार, दीपक, देवेन्द्र चौबे (संपा.) - *हाशिए का वृत्तान्त,* आधार प्रकाशन, पंचकूला, (हरियाणा), 2011
- कुमार, सुवास – *गल्प का यथार्थ कथालोचन के आयाम,* वाणी प्रकाशन, 2010
- कुमार, डॉ. नरेन्द्र - *समाजशास्त्र विवेचन,* जयपुर, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्र. सं. 1984
- कुलश्रेष्ठ, मनीषा – *शिगाफ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- खान, यास्मीन, सरोज कुमार (अनु.) - *विभाजन : भारत और पाकिस्तान का उदय,* पेंगुइन बुक्स, दिल्ली, 2009
- खेतान, प्रभा - उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
- गुप्त, आलोक (संपा) - *भारतीय उपन्यास की अवधारणा और रघुवीर सहाय चौधरी का सृजन,* रंगद्वार प्रकाशन, गुजरात, अहमदाबाद, फरवरी – 2009

- गुप्त, प्रकाशचंद्र - *भारतीय साहित्य के निर्माता प्रेमचंद,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1969
- गुप्ता, डॉ. विश्वंभरदयाल – *साहित्य का समाजशास्त्र : अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति,* सीता प्रकाशन, हाथरस, प्र. सं. 1986
- गुप्ता, वी. डी. - *उपन्यास का समाजशास्त्र,* दिल्ली श्री पब्लिशिंग हाउस, प. सं. 1979
- गुप्ता, डॉ. कमला - *हिन्दी उपन्यासों में सामंतवाद,* अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979
- गुप्ता, रमणिका - *स्त्री विमर्श,* शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2004
- गुप्ता, रमणिका (संपा.) - *आदिवासी कौन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण 2016
- गुप्ता, रमणिका (संपा.) - *आदिवासी विकास से विस्थापन,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण 2018
- गुप्ता, रमणिका (संपा.) - *आदिवासी साहित्य यात्रा,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- गोस्वामी, क्षमा - *नगरीकरण और हिन्दी उपन्यास,* जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, 1981
- गंगानिया, ईशकुमार - *अम्बेडकरवादी साहित्य विमर्श,* किताबघर, नई दिल्ली, 2007
- चतुर्वेदी, जगदीश्वर - *स्त्रीवादी साहित्य विमर्श,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, 2011
- चतुर्वेदी, जगदीश्वर - *सूचना समाज,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2000
- चौधरी, उमा शंकर (संपा.) – *दलित विमर्श : हाशिए की वैचारिक*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, 2012
- चौबे, देवेन्द्र – *आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श,* ओरियंट ब्लैकस्वान (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, 2009
- चौबे, देवेंद्र – *आलोचना का जनतंत्र,* आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2011
- चौहान, डॉ. संजय - *उत्तर-आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास,* आशा बुक्स, दिल्ली, 2011
- चंद्रा, विपिन - *भारत का स्वतंत्र संघर्ष,* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1998
- चंद्रा, विपिन (संपा.) - *आधुनिक भारत,* अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2009
- जलील, डॉ. वी. के. अब्दुल, डॉ. पी. रवी (संपा.) - *समकालीन हिन्दी उपन्यास : समय और संवेदना,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- जाट, डॉ. रामबक्ष - प्रेमचंद और भारतीय किसान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली – 1982
- जैन, निर्मला – *कथा-समय में तीन हमसफर,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

- जैन, निर्मला (संपा.), प्रदीप कुमार (सहयोग) - *जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-9,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2008
- जैन, ज्ञानचन्द्र - *प्रेमचन्द पूर्व के हिन्दी उपन्यास,* आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
- जोशी, ज्योतिष – *उपन्यास की समकालीनता,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010
- जोशी, इलाचंद्र - *प्रेत और छाया,* भारती भण्डार, (n.d.)
- जोशी, पूरनचन्द्र - *परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1987
- टेटे, वंदना - *आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन,* प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, 2013
- टेटे, वंदना - *आदिवासी दर्शन और साहित्य,* प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, 2015
- टंडन, प्रतापनारायण – *हिंदी उपन्यास कला,* लखनऊ, हिंदी समिति सूचना विभाग, प्रथम सं. 1959
- ठाकुर डॉ. हरिनारायण - *दलित साहित्य का समाजशास्त्र,* भारतीय ज्ञानपीठ, भारतीय ज्ञानपीठ, 2010
- तलवार, वीर भारत – *किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द,* नॉर्दन बुक सेंटर, दिल्ली, 1990
- तलवार, वीर भारत – *झारखण्ड के आदिवासियों के बीच,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- तिवारी, विनोद, अजय आनंद (संपा.) - *उपन्यास : कला और सिद्धान्त*, भाग-1, भाग-2, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्कारण – 2016
- तोग्लियाती, पामीरो, अनिल राजिमवाले (अनु.) – फासीवाद और उसकी कार्य पद्धति, ग्रंथ शिल्पी, 2004
- थोराट, डॉ. विमल - *दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर,* अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद – *साहित्य-सहचर,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1982
- द्विवेदी, डॉ. हजारी प्रसाद - *विचार और वितर्क,* साहित्य भवन लिमटेड, इलाहाबाद, 1969
- देसाई, ए.आर. - *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,* मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 2002
- दुबे, अभय कुमार (संपा.) - *भारत का भूमण्डलीकरण,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2003
- दुबे, श्यामाचरण, योगेश अटल (अनु.) – *भारतीय ग्राम,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
- नगेंद्र, डॉ. (संपा.) - *हिंदी साहित्य का इतिहास,* मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, प्रथम संस्करण -1973
- नवलजी (संपा.) - *नालंदा विशाल शब्दकोश,* नई दिल्ली, आदीश बुक डिपो, प्र. सं. 1985
- नवल, नंदकिशोर (संपा.) – *बीसवीं शती की कालजयी कृतियाँ*, रेनबो प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, 2004

- नैयर, कुलदीप, युगांक धीर (अनु.) - *एक जिंदगी काफी नहीं,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- नैमिशराय, मोहनदास – *मुक्तिपर्व,* अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
- पचौरी, सुधीश - *उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
- पटेल, सत्यनारायण - *गाँव भीतर गाँव*, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण, 2015
- पाण्डेय, डॉ. दर्शन - *नारी अस्मिता की परख,* संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2004
- पाण्डेय, मैनेजर – *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,* हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006
- पाण्डेय, मैनेजर – *आलोचना की सामाजिकता,* नई दिल्ली, 2005
- पाण्डेय, मैनेजर - *साहित्य और इतिहास दृष्टि,* पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981
- पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र, शाहिद अमीन (संपा.), *निम्नवर्गीय प्रसंग भाग-1,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्कगण-1995, पृष्ठ संख्या-10
- पुनियानी, राम, रामकिशन गुप्ता (अनु.) – सांप्रदायिकता : एक सचित्र परिचय, उद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. : 2008
- पुष्पा, मैत्रेयी - *अल्मा कबूतरी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
- पुष्पा, मैत्रेयी – *विजन,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- प्रसाद, कमला - *आलोचक और आलोचना*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2002
- प्रसाद, डॉ. विश्वनाथ – *आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा की आलोचना साधना,* अनय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003
- प्रेमचन्द - *कुछ विचार,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, लोकभारती संस्करण, 2008
- प्रेमचन्द – *गोदान*, ग्रंथ लोक, दिल्ली, 2006
- फॉक्स, रैल्फ, नरोत्तम नागर (अनु.) – *उपन्यास और लोक जीवन,* पीपल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2008
- 'बेचैन', श्योराज सिंह, देवेंद्र चौबे (संपा.) – *चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, 2000-01
- बोउवार, सीमोन द, प्रभा खेतान (अनु.) – *स्त्री उपेक्षिता*, हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली, 2002
- भटनागर, डॉ. उर्मिला - *हिन्दी उपन्यास साहित्य में दाम्पत्य-चित्रण,* अर्चना प्रकाशन, मालवीय नगर जयपुर, 1991
- भल्ला, जी.एस., रजनीश कुमार (अनु.) - *भारतीय कृषि आजादी के बाद,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, प्रथम संस्करण, 2010
- भारती, कँवल – *दलित विमर्श की भूमिका,* साहित्य उपक्रम, दिल्ली, 2004

- भुराड़िया, निर्मला – *गुलाम मंडी,* सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- मदान, डॉ. इन्द्रनाथ - *हिंदी उपन्यास : पहचान और परख,* लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
- महाजन, सुचेता, रामकिशन गुप्त (अनु.) - *स्वाधीनता और विभाजन,* ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 2012
- मधुरेश – *समय, समाज और उपन्यास,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013
- मस्के, साक्षान्त - परंपरागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2009
- मार्क्स, कार्ल, नामवर सिंह (संपा.), गोरख पांडेय (अनु.) - *कला और साहित्य चिंतन*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
- माधव, नीरजा – *यमदीप,* सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
- मिश्र, रामदरश – *हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
- मिश्र, डॉ. पारसनाथ - *मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल,* लोकभारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1972
- मिश्र, शिवकुमार – *यथार्थवाद,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- मिश्र, शिवकुमार - *मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धांत,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- मिर्डल, यान, गोपाल मिश्र (अनु.) - *भारत के आसमान में लाल तारा,* सेतु प्रकाशिनी, कोलकाता, 2013
- मीणा, हरिराम - *धूणी तपे तीर,* साहित्य उपक्रम, जनवरी 2008
- मुक्तिबोध, गजानन माधव - *समीक्षा की समस्याएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
- मुंडा, मंगल सिंह - छैला संदु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- मेहरोत्रा – *साहित्य का समाजशास्त्र : मान्यता और स्थापना,* वाराणसी, रचना प्रकाशन, प्र. सं. 1970
- यशपाल - *मार्क्सवाद,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983
- यादव, राजेन्द्र – *आदमी की निगाह में औरत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
- यादव, राजेन्द्र - *उपन्यास : स्वरूप और संवेदना,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2007
- यदुलाल, डॉ. कुसुम – शिक्षा का परिदृश्य, कल्पज पब्लिकेशन, दिल्ली, 2006
- रमाबाई, पंडिता – *हिन्दू स्त्री का जीवन*, संवाद प्रकाशन, मुंबई, 2006
- राय, डॉ. सत्या एम. – भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली, तृतीय संस्करण : 1990
- रेणु फणीश्वरनाथ – *मैला आँचल,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1954

- रौशन, अभिषेक – *बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भ,* अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
- लाल, डॉ. मनोहर (संपा) - *गुलेरी रचनावली,* खण्ड-2, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1991
- वजाहत, असगर – कैसी आगी लगाई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
- वर्मा, महादेवी – *श्रृंखला की कड़ियाँ,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1942
- वर्मा, अर्चना - अस्मिता-विमर्श का स्त्री स्वर, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2008
- वणकर, डॉ. नरसिंह - दलित विमर्श, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, 2007
- वाजपेयी, नंददुलारे – आधुनिक साहित्य, भारत भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण : 2002
- वाल्मीकि, ओमप्रकाश – जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, पेपर बैक्स, 1999
- वॉट, आयन्, डॉ. धर्मपाल सरीन (अनु.) – *उपन्यास का उदय,* हरियाणा साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1990
- वेलेक, रेने, इन्द्रनाथ मदान (अनु.) – *आलोचना की धारणाएँ,* हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, 1978
- व्यास, श्रीयुत पण्डित अम्बिकादत्त - *गद्यकाव्य मीमांसा,* काशी नागरी प्रचारिणी सभा, राज-राजेस्वरी प्रकाशन, 1897
- शर्मा, रामविलास - *प्रेमचन्द और उनका युग,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
- शर्मा, रामविलास - *आस्था और सौन्दर्य,* नई दिल्ली, 1989
- शर्मा, विष्णुचंद्र (संपा.), शिवदान सिंह चौहान - *आलोचना के मान*, स्वाराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1958
- शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश - *समाजशास्त्र विश्वकोश,* जयपुर, पंचशील प्रकाशन, प्रथम सं. 2011
- शर्मा, रामशरण - *सांप्रदायिक इतिहास और राम की अयोध्या,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1999
- शर्मा, नासिरा - औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2008
- सरकार, सुमित, सुशीला डोभाल (अनु.) - *आधुनिक भारत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सरावगी, अलका – *शेष कादम्बरी,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- साहनी, भीष्म, नामवर सिंह (संपा.) – *आधुनिक हिन्दी उपन्यास भाग-1,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सिंह, काशीनाथ - *रेहन पर रग्घू,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008
- सिंह, कुँवरपाल, अजय बिसारिया (संपा.) - *हिन्दी उपन्यास जनवादी परम्परा,* नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, 2004

- सिंह, तुलसी नारायण - *चौदह भारतीय उपन्यास,* शब्द सृष्टि प्रकाशन, दिल्ली, 2010
- सिंह, डॉ. तेज – *आम्बेडकरवादी साहित्य का समाजशास्त्र,* किताबघर, नई दिल्ली, 2008
- सिंह, नामवर (संपा.) - *आधुनिक हिन्दी उपन्यास भाग-2,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सिंह, नामवर - *इतिहास और आलोचना,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968
- सिंह, नामवर - *कविता के नये प्रतिमान,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 1998
- सिंह, नामवर, आशीष त्रिपाठी (संपा.) - प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
- सिंह, नामवर (संपा.) गोरख पाण्डेय (अनु.) - कला और साहित्य चिंतन : कार्ल मार्क्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1991, पृष्ठ संख्या-32
- सिंह, प्रभाकर (संपा.) – *उपन्यास : मूल्यांकन के नये आयाम,* प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2014
- सिंह, गोपेश्वर (संकलन) - *नलिन विलोचन शर्मा संकलित निबंध,* राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नई दल्ली, पहला संस्करण – 2010
- सिंह, बच्चन – साहित्य का समाजशास्त्र, इलाहाबाद, लोकभारती, प्रकाशन, द्वतीय सं. 1998
- सिंह, विजयबहादुर (संपा.) - *नंददुलारे वाजपेयी रचनावली, खण्ड-4, (नाटक, उपन्यास और कहानी),* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 2008
- सिंह, शरद (संपा.) – *थर्ड जेंडर विमर्श,* सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
- सिंह, त्रिभुवन - हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, दिल्ली, 1974
- सुबीर, पंकज - अकाल में उत्सव, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- सोलंकी, डॉ. गीता - नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 2007
- सोनकर, रूपनारायण – सुअरदान, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. : 2010
- सौरभ, प्रदीप – तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2011
- स्वर्णलता - *स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि,* जयपुर, विवेक पब्लिशिंग हाउस, प्र.सं. 1975
- श्रीवास्तव, परमानंद - *उपन्यास का पुनर्जन्म,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1995
- श्रीवास्तव, गरिमा (संपा) – *उपन्यास का समाजशास्त्र,* संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2006
- त्रिपाठी, डॉ. शशिकला - *उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 2006
- त्रिपाठी, डॉ. रामछवीला - *भारतीय साहित्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्कण – 2008

अंग्रेजी की पुस्तकें

- Alan Swingewood – *The Novel and Revolution,* Macmillan, London, 1976
- D. Spearman – *The Novel and Society,* London, 1966
- E. M. Forster – *Aspects of the Novel*, Rosetta books LLC, new York, 2010
- Georg Lukacs – *The theory of the Novel,* Merlin press, London, 1971
- Gail Omvet – *Jyotirao Phule & The Ideology of Social revolution in India,* Critical Quest, New Delhi, 2004
- Harold J. Lasley – *On the Communist Menifesto,* 1967 July-December
- I. Howe – *Politics and the Novel,* New York, 1957s
- J. M. Bernstein – *The Philosophy of the Novel,* the Harvester press, 1984
- Marx, Karl – *Marx, Engels Lenin on Scientific Communism,* Progress press, 1976
- Milan Kundera – *The Art of The Novel,* Harper Perennial Modern Classics press,

  2003
- Peter Singer – *Marx s very short introduction,* Oxford University press, 1946
- Shlomo Avineri – *The Social and Political thought of Karl Marx,* Cambridge University press, 1968
- Sorokin Pitirim – *Contemporary Sociological theories*, Harper, 1956

पत्र-पत्रिकाएं एवं वेब साइट्स

- जनसत्ता – ओम थानवी, 1 अक्टूबर, 2008
- अपनी माटी ई-पत्रिका – जीतेन्द्र यादव (संपा.), किसान विशेषांक, 2015
- आदिवासी साहित्य विमर्श – गंगा सहाय मीणा (संपा.), 2014
- *आलोचना* – नामवर सिंह, अप्रैल-जून, 1970, जनवरी-मार्च, 1988
- *इस्पातिका* – आदिवासी विशेषांक, जनवरी – जून, 2012, भारतीय उपन्यास विशेषांक, जुलाई-दिसम्बर 2015
- *जनकृति* – कुमार गौरव (संपा.), थर्ड जेंडर विशेषांक, अगस्त 2016
- नया पथ - मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान (संपा.) जुलाई-सितम्बर, 1997
- *वसुधा* – पुन्नी सिंह (अतिथि संपा.), दलित विशेषांक, अंक-58, जुलाई – सितम्बर 2003
- *वाङ्मय* – डॉ. एम. फिरोज अहमद (संपा.), आदिवासी विशेषांक, भाग-1, जुलाई, 2013, भाग-2, अक्टूबर-मार्च, 2014, भाग-3, जनवरी-जून, 2015
- *हंस* – राजेन्द्र यादव (संपा.), जनवरी 1999, नवंबर 2001, जून 2003, अगस्त 2004, नवंबर 2005, अक्टूबर 2006, अक्टूबर 2009, नवंबर 2010
- *स्त्रीकाल* – संजीव चंदन, दलित स्त्रीवाद विशेषांक, सितम्बर 2013
- epgp.inflibnet.ac.in/index
- www.pravakta.com
- www.shabdankan.com
- www.hindisamay.com
- www.navbharttimes.indiatimes.com
- www.navjivanindia.com
- www.thewirehindi.com
- www.hindikidubiya.com
- www.hi.wikipidia.org
- www.bbc.com/hindi/india
- www.rachnakar.org